संत जीवनी
भक्तसंग्रह

भारत के संत महात्मा

(BHARAT KE SANT MAHATMA)

भक्त संग्रह

प्रस्तुतकर्ता : वी.सी.सिंह

संत-परिचय

लेखक--महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज

संत किसे कहते हैं, संतजीवनका वास्तविक आदर्श क्या है और बाह्य तथा आभ्यन्तरिक किन-किन लक्षणांद्वारा संतभावका यथार्थ परिचय प्राप्त हो | इस तरहके प्रश्न बहुतोंके मनोंमें उत्पन्न हुआ करते हैं। संसार-तापसे तप्त मनुष्य नित्य आनन्द एवं पराशक्तिकी स्निग्ध छायामें विश्राम करनेके लिये सदासे ही लालायित है, परन्तु प्रवृत्तिकी ताड़ना और बाह्य वासना प्रशान्त हुए बिना चित्त अन्तर्मुख नहीं होता और इसीलिये शान्तिकी आकांक्षा होनेपर भी बाह्य मोहसे वह आकांक्षा ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो सकती।

जब सांसारिक भोगोंमें वैराग्य होता है और चित्त निवृत्तिमुखी होकर अन्तर्जगत्‌के तत्त्वकी खोजमें व्यग्र हो उठता है तब इस जगत्‌के रहस्यको खोलनेके लिये पथप्रदर्शक संत अथवा साधुके अन्वेषणके लिये व्याकुलता होती है । इस अवस्थामें संतका परिचय और संतके लक्षणोंको जाननेके लिये हृदयमें स्वाभाविक ही तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है।

यह किसी देशविशेष अथवा कालविशेषकी बात नहीं है । प्रकृतिके नियमानुसार सर्वदा और सभी देशोंमें ऐसा हुआ करता है । हम लोग बाहरी बातोंको देखकर अथवा बाहरी व्यवहारोंपर विचारकर एक साधारण मनुष्यको भी भलीभाँति नहीं समझ सकते; क्योंकि जिन जटिल शक्तियोंकी प्रेरणासे मनुष्य किसी कार्यविशेषको करता है अथवा करनेको बाध्य होता है उनका स्वरूप और प्रभाव ठीक-ठीक समझे बिना कार्य अथवा आचरणके नैतिक दायित्वके विषयमें निर्णय करना सम्भव नहीं होता।

साधारण मनुष्य स्थूल अभिनिवेशमें बँधा होनेके कारण उसके कार्यका विस्तारक्षेत्र बहुत ही संकीर्ण होता है किन्तु जो महापुरुष हैं उनपर अलक्ष्य शक्तिपुञ्जका प्रभाव और भी अधिक व्यापकरूपसे पड़ा करता है अतएव उनको ठीक ठीक समझना कठिन है।

इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने लोकोत्तर महापुरुषोंके आचरणका जनसाधारणके लिये अनुकरण करना सिद्धान्त नहीं बतलाया। जिस निगूढ़

उद्‌देश्यकी सिद्‌धिके लिये एक महापुरुष किसी विशेष कार्यको करते हैं, उस कार्यके अनुकरण करनेकी चेष्टा करना एक क्षुद्रशक्ति अल्पज्ञ प्राकृत मनुष्यके लिये उपहासास्पद और हानिकारक ही होता है, अतएव संत या महापुरुष-परिचय कोई सहज बात नहीं है।

जिनकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी है, जो स्वयं संतभावपर आरूढ़ होने लगे हैं वे अवश्य ही अपनी स्वाभाविक विवेकशक्तिके द्‌वारा असत्से सत्‌को अलग करके ग्रहण कर सकते हैं। उनके लिये लक्षणनिर्देश अथवा स्वरूपवर्णणकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु साधारण मनुष्यके लिये वैसे परिचयकी नितान्त आवश्यकता प्रतीत होती है।

जिनका आश्रय लेकर हम अन्धकारसे ज्योतिर्मय राज्यमें प्रवेश करना और सिद्‌धि प्राप्त करना चाहते हैं वे यदि स्वयं वैसे आधारसे सम्पन्न न हों तो उनके आश्रयसे हमारी हानिके सिवा कोई इष्टसिद्‌धि नहीं हो सकती। संत किसे कहते हैं ? जो सत्यस्वरूप, नित्यसिद्‌ध वस्तुका साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्षरूपसे उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धिके फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं।

सत्य ही चैतन्यस्वरूप है और चैतन्य ही आनन्दस्वरूप है अतएव यह कहना नहीं होगा कि जो सत्यमें प्रतिष्ठित हैं वे एक तरहसे सच्चिदानन्द परब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं, इसलिये जो ब्रह्म हैं, ब्रह्मदशी हैं और ब्रह्मसंस्थ हैं वे ही संत हैं । आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है अथवा भिन्न, इस विषयपर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है परन्तु विकल्पभूमिमें भेद-अभेद सभीको अवस्था और आधिकारके अनुसार सत्य समझा जा सकता है। इसीके अनुसार जो ब्रह्म अथवा आत्माकी समस्त परिस्थितियोंको साक्षात्रूपसे जानकर तदनुरूप प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं।

संतके इस प्रकार संक्षिप्त परिचयसे यह बात समझमें आती है कि आत्मा या ब्रह्मके परम भावमें स्थिति प्राप्त किये बिना यथार्थमें संतपदवाच्य नहीं हुआ जा सकता। अनन्त शक्तिशालिनी, अनन्तरूपा प्रकृतिके माहात्म्यसे बहिर्दृष्टिमें संत असंतके रूपमें दिखायी दिया करते हैं किन्तु इन बाह्य रूपोंके द्‌वारा संतकी सच्ची पहचान नहीं हो सकती।

महापुरुषोंमें कोई जड़वत्, कोई उन्मत्तवत् और कोई कदाचारी पिशाचकी तरह जगत्में विचरण किया करते हैं। ऐसी अवस्थामें बाह्य दृष्टिसे संतोंके स्वरूपको पहचानना असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। लौकिक व्यवहारके लिये शास्त्रोंमें साधुओंके लौकिक लक्षण भी बतलाये गये

हैं परन्तु उनके द्वारा कार्यक्षेत्र कहाँतक तत्त्वनिर्णय हो सकता है इस बातको वही बतला सकते हैं जिन्होंने कभी परीक्षा की है ।

बौद्धग्रन्थादिमें महापुरुषोंके बत्तीस मुख्य लक्षण और चौरासी गौण लक्षण अथवा अनुव्यंजन बतलाये गये हैं, उनके सम्बन्धमें भी यह एक ही सिद्धान्त याद रखना चाहिये। जिसकी अन्तर्दृष्ट नहीं खुली है उसके लिये इन लक्षणोंका प्रयोग करना असम्भव है।

संत जीव-कोटिमें हैं या ईशवर-कोटिमें, इस बातको लेकर आलोचना करनेसे कोई लाभ नहीं। कोई-कोई तो संतको वस्तुतः इन दोनों ही कोटियोंसे मुक्त बतलाते हैं और ऐसा कहना किसी प्रकार भी असंगत नहीं है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निर्गुण परम पदमें प्रतिष्ठित हैं उनको न वस्तुतः जीव ही कह सकते हैं और न ईश्वर ही। हमारे देशके कबीर आदि निर्गुणसम्प्रदायोंमें संतका स्थान बहुत ही ऊँचा बतलाया गया है।

कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि केवल सत्य, ज्ञान और आनन्दमें स्वयं प्रतिष्ठित होना ही संतभावका पूर्ण आदर्श नहीं है, क्योंकि दूसरेके अंदर भी सत्य, ज्ञान और आनन्दका स्फुरण होना इसी आनन्दके अन्तर्गत है। अर्थात् जो स्वयं सत्यमें प्रतिष्ठित होकर भी दूसरोंको सत्यमें प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता, नहीं कर सकता अथवा नहीं करता, वह संतका पूर्ण आदर्श नहीं है।

ज्ञान और आनन्दके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। प्रकारान्तरसे ऐसा कहा जा सकता है कि सत्य, ज्ञान और आनन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यजीवनका चरम उद्देश्य नहीं है किन्तु उसे प्राप्त करके समस्त जगत्को उस सत्य, ज्ञान और आनन्दमें प्रतिष्ठित कर देना-यही मनुष्यजीवनका एकमात्र लक्ष्य है। परिच्छिन्नभावसे क्रमशः अपरिच्छिननकी ओर अग्रसर होना ही महापुरुषोंके जीवनका यथार्थ लक्षण है।

लोकोत्तर पुरुष स्वभावके नियमानुसार अनादिकालसे इस आदर्शका अनुसरण करते आ रहे हैं और शायद अनियत कालतक करते रहेंगे। साधारण मनुष्य परिच्छिन्न फलकी इच्छा करके कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होता है परन्तु महापुरुष स्वाभाविक ही क्रमशः आत्मविकासके अनुकूल आचरण किया करते हैं।

स्थूल, सूक्ष्म और कारणजगत् परस्पर संश्लिष्ट होनेपर भी कारणजगत्से ही स्थूल जगतका नियन्त्रण होता है। साधारणतः अवतार आदि कारणजगत्से

ही प्रयोजनके अनुसार स्थूलजगत्में अवतीर्ण हुआ करते हैं। कहना नहीं होगा कि वास्तविक संत पुरुष एक तरहसे कारणजगत्के निवासी-सरीखे प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः कारणसे भी अतीत हैं।

कारणजगत् जीव और ईश्वरकी मिलनभूमि है। यहींसे ऐश्वरिक शक्तिकी धारा जीवके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अवस्थाके अनुसार प्रवाहित होती है। संतोंको ऐश्वरिक भूमिके अन्तर्गत समझनेसे उनको कारणजगत्के निवासी मानना पड़ता है और अनेकों कारणोंसे बहुतसे लोग इसीको ठीक बतलाते हैं। परन्तु प्रयोजनके भी ऊर्ध्वमें एकमात्र स्वाभावकी प्रेरणासे ही संतोंका जीवन नियमित होता है-इस दृष्टिसे देखनेपर संतोंको वस्तुतः कारण जगतूके अन्तर्गत समझना ठीक नहीं मालूम होता।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण सभी मायाचक्रके अन्तर्गत हैं, अतएव स्वभावमें स्थित मायातीत संत या महापुरुषको कारणजगत्के साथ सम्बन्धित न मानना ही युक्तियुक्त है। प्रकारान्तरसे संतोंके जीवनमें भी जब आत्मविकास है-यद्यपि वह विकास कर्मफलभोगकी धाराके अनुसार नहीं होतातब मायातीत होनेपर भी वे महामायाके अन्तर्गत हैं ऐसा कहा जा सकता है और यदि एक ही पूर्ण सत्ताके स्वाभाविक स्फुरणके अंदर महापुरुषके जीवनको मान लिया जाय तो फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदिके विचारकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती; क्योंकि पूर्णके अंदर सभी कुछ है और कुछ भी नहीं है।

जिन्होंने सत्यको उपलब्ध किया है वे समर्थ होनेपर और आवश्यक समझनेपर दूसरेको भी सत्यका उपदेश देते हैं। यह उपदेश श्रेष्ठ अधिकारीको प्रातिभ ज्ञानके रूपमें दिया जाता है। यह प्रातिभ ज्ञान अपनेआप ही हृदयमें उत्पन्न हुआ करता है। यह अनौपदेशिक ज्ञान होनेपर भी एक प्रकारसे उपदेशरूप भी है। बाह्य शब्दका आश्रय लेकर इसको अन्यत्र संचारित नहीं करना पड़ता।

इस प्रकारके विशुद्ध ज्ञानके द्वारा ही हृदयका संशय सम्यक् प्रकारसे मिट जाता है। ' गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः' इस कथनका यही तात्पर्य है। मध्यम अधिकारीको वे विशुद्ध चेतन शब्दके साथ उपदेश दिया करते हैं, इस चेतन शब्दमें इतना सामर्थ्य है कि यह कानोंमें प्रवेश करते ही मर्मस्थानमें प्रविष्ट हो जाता है और हृदयको असाधारणरूपसे आन्दोलित कर देता है। इस शब्दको सुननेके बाद बाह्य जगतूकी ओर आकर्षण नहीं रह सकता।

समस्त मन, प्राण और इन्द्रियाँ एकीभूत होकर प्रबल वेगसे और उद्दाम स्रोतसे अन्तरात्माके साथ मिलनेके लिये दौड़ पड़ते हैं। श्यामकी वंशीध्वनि सुनकर राधा अथवा गोपियोंका कैसा भाव होता था इस बातको वैष्णव महापुरुषोंने अपनी पदाबलियोंमें कविताके द्वारा संक्षेपमें बतलाया है।

तन्त्रशास्त्रके मन्त्र-चैतन्यकी व्यवस्था भी इसीलिये है; क्योंकि शब्दको चेतन किये बिना उस शब्दकी सहायतासे परब्रह्मका साक्षात्कार नितान्त असम्भव है, क्योंकि अचेतन शब्द शब्दब्रह्म नहीं कहा जा सकता। पृथिवीके सभी धर्मसम्प्रदायोंमें इस शब्दचैतन्यकी बात बड़ी गम्भीरताके साथ कही गयी है। शब्द चेतन होते ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गयी, यह कहा जा सकता है।

अचेतन शब्दका बार-बार जप करनेकी प्रकिया विशेषके द्वारा बहुत परिश्रमसे उसे चेतन किया जा सकता है अथवा संत-महात्मागण इच्छा करनेपर साक्षात्रूपसे चेतन शब्दका प्रयोग कर सकते हैं। यह मध्यम अधिकारीकी बात है। अधम अधिकारीको संत लोग अचेतन शब्दके द्वारा ही उपदेश दिया करते हैं पर उसके साथ 'ही ऐसी कोई क्रिया बतला देते हैं जिसके करनेसे वह अचेतन शब्द क्रमशः चेतन शब्दके रूपमें परिणत हो जाता है।

अवस्थाविशेषमें क्रियाकौशलके बिना भी दीर्घकालके विचारादिके प्रभावसे अथवा अन्य किसी कारणसे तीव्र संघर्षवश अचेतन शब्द चेतन शब्दरूपमें प्रस्फुटित हो सकता है।नाना प्रकारके उपायोंसे कुण्डलिनीका जागरण हो सकता है। व्यवहारभूमिमें पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके तारतम्यके अनुसार किसीके लिये साधन भक्ति, किसीके लिये श्रावणमननादि ज्ञानमार्गका अनुष्ठान और किसीकिसीके लिये हठयोग, मन्त्रयोग अथवा राजयोगका दीर्घकालव्यापी अभ्यास इस जागरणके अनुकूल साधन हुआ करता है।

चित्तकी शुद्धि करनेवाले सभी कर्मोको इसीके अन्तर्गत समझना चाहिये। भिन्न-भिन्न धर्मसम्ग्रदायोमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुष्ठान और ध्यानादिका निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी उपायसे हो जीवको मायिक, स्वप्न और सुषुप्तिसे प्रबुद्ध होकर सत्यके मार्गपर पदार्पण करना होगा। असार और असत्य प्रपंचसे चित्तको अलग करके उसे सत्यमें प्रतिष्ठित करना पडेगा।

विक्षिप्तभूमिसे अपनी वृत्तियोंको लौटाकर एकाग्रभूमिमें स्थापित करना पड़ेगाकुण्डलिनीचैतन्य अथवा शब्दचैतन्य करनेका यही एकमात्र पथ है ।

जागतिक भिन्न-भिन्न उपायोंके वैचित्र्यमें यह एक ही मार्ग दृष्टिगोचर होता है।

जबतक कुण्डलिनीरूपा महाशक्ति सत्यमार्गको ढककर घोर सुषुप्तिमें निमग्न हो रही है तबतक जीव जडभावको प्राप्त है, शिव शवरूपमें निष्क्रिय होकर अवसन्न हो रहा है; तबतक मिथ्याका प्रकोप, मायाका प्रलोभन और विचित्र प्रपंचकी मोहिनी शक्ति प्रकट होती ही रहेगी।

कुण्डलिनीके जागते ही जीवकी घोर निद्रा टूट जाती है और वह अपने स्वरूप-दर्शनमें समर्थ होता है। पूर्ण जागरण होनेपर जीव जडत्वका परिहारकर शिवत्वको प्राप्त करता है अर्थात् उसकी अन्तर्निहित महाशक्ति जागृत होकर नित्य जागृत परशिवके साथ मिलनेके लिये दौड़ चलती है।

अवश्य ही शिवशक्तिके इस मिलनको पूर्णताके लिये दीर्घकालकी आवश्यकता है। एक दृष्टिसे आत्मदर्शन हुए बिना इस मिलनका सूत्रपात ही नहीं होता और दूसरी दृष्टिसे यह पूर्ण मिलन हुए बिना सम्यक् प्रकारसे आत्मदर्शन नहीं हो सकता। साधननिष्ठ पाठक कुछ विचार करेंगे तो वे इस कथनकी सत्यताका अनुभव कर सकेंगे।

शिवशक्ति मिलकर एक अद्वय ब्रह्मरूपमें प्रकाशित होनेपर ब्रह्ममथका प्रारम्भ होता है ऐसा कहा जा सकता है। इसके बाद ही असंख्य विचित्र अवस्थाओंमें होते हुए आगे चलकर भगवान्की अप्राकृत नित्यलीलामें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। इस लीलामें ही लीलासे अतीत, निरंजन और निष्कल तत्वका अथवा तत्त्वातीतका सन्धान आभासरूपसे प्राप्त होता है। इस अवस्थाका वर्णन असम्भव है।

एक अखण्ड ब्रह्मको क्रमविकासके नियमानुसार देखनेपर उसकी पहले सत्यरूपमें फिर चिद्घनरूपमें और अन्तमें आनन्दमय सत्ताके रूपमें उपलब्धि होती है। कुण्डलिनीजागरणके फलस्वरूप जिस नित्य सत्ताकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और जिससे किसी भी कारणसे वस्तुतः च्युत होनेकी सम्भावना नहीं रहती, उसीको सत्यमें स्थिति समझना चाहिये। साधक इस अवस्थामें शान्तपदपर प्रतिष्ठित होकर देख पाता है कि वह घोर कल्लोलमय अनन्त प्रसारित मायातरंगके उच्च स्थानपर स्थित हो रहा है।

इस अवस्थाकी प्राप्तिके साथ-हीसाथ आत्मदर्शनकी सूचना होनेके कारण चैतन्यभावका उन्मेष होता रहता है, तदनन्तर शिवशक्तिके मिलनकी अवस्थासे ही आनन्दका सूत्रपात होता है। शिवशक्तिका मिलन पूर्ण होकर

जो ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठा होती है, लौकिक भाषामें उसीको ब्रह्मानन्द कहा जा सकता है। इसके बाद नित्यलीला और निरंजनपद हैं जो प्राकृतिक बुद्धिसे सर्वथा अगोचर होनेके कारण वर्णन करनेयोग्य नहीं।

जो साधनबलसे, पूर्वपुण्यके प्रभावसे और सद्गुरुके कृपाकटाक्षसे इन सारे स्तरोंको भेदकर परमभावको प्राप्त हो गये हैं और अहैतुकी करुणाके द्वारा निरन्तर जगत्‌का कल्याण करनेमें लगे हुए हैं वे ही संत या साधु हैं। इस पदकी तुलनामें बड़े-बड़े देवताओंका पद भी अति तुच्छ समझा जाता है। अतएव बाहरी अथवा भीतरी किसी भी लक्षणके द्वारा वास्तविक सत्पुरुषका यथार्थ परिचय नहीं मिल सकता।

हाँ! एक बात है, शिशु जैसे शास्त्र बिना पढ़े भी और दूसरेके द्वारा वर्णन बिना सुने भी सहज ज्ञानसे अपनी गर्भधारिणी जननीको पहचान सकता है वैसे ही जब हदयमें सत्यके लिये प्रबल पिपासा जाग उठती है तब सहज ही सत्यका परिचय प्राप्त हो जाता है। उसके लिये शास्त्रीय लक्षणोंसे मिलान करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

जो जिज्ञासु नहीं है वह जैसे ज्ञानका अधिकारी नहीं, वैसे ही जिसके हृदयमें सत्यके लिये बड़ी भारी प्यास नहीं लगी वह भी सत्यको नहीं पहचान सकता। जो यथार्थ ही व्याकुल होकर सत्यकी खोज करता है, सत्यस्वरूप भगवान् उसके सामने कभी छिपकर नहीं रहते। वे उसके अधिकारानुसार उसके सामने अपने स्वरूपको खोल देते हैं और बह स्वाभाविक ज्ञानके प्रभावसे उनको पहचान लेता है और सदाके लिये धन्य हो जाता है।

संतभावकी प्राप्तिके साधन

भगवान् या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका उद्देश्य है और जो इस उद्देश्यमें सफल हो चुके हैं, वे ही संत हैं। अतएव इस संतभावकी प्राप्तिमें ही मनुष्यजन्मकी सार्थकता है। इसकी प्राप्तिक अनेकों उपाय शास्त्रों और संतोंने बतलाये हैं परन्तु इनमें प्रधान दो ही हैं ।--१-भगवान्‌की नित्य असीम कृपाका आश्रय और २-लक्ष्य-प्राप्तिक लिये दृढ़ निश्चय और अटल विश्वासके साथ किया जानेवाला पुरुषार्थ ! ऐसा हतभाग्य कौन प्राणी होगा जो त्रिविध दु:खनिवारणके लिये सचेष्ट न हो।

त्रिविध दुःखका निवारण तभी होगा जब उसके कारण अज्ञानका ब्रह्मविद्याके द्वारा नाश हो। ब्रह्मविद्याका उदय संत-कृपापर निर्भर है। इसी भावसे गर्गसंहितामें कहा है--'नृणामन्तस्तमोहारी साधुरेव न भास्करः' अर्थात्-' बाह्य अन्धकारका नाश सूर्य निःसन्देह कर सकता है किन्तु मनुष्योंके आन्तरिक अन्धकारका नाश साधु (संत) ही कर सकते हैं, सूर्य नहीं।' उन संतोंके लक्षण, संत शब्दका अर्थ क्या है, वह शब्द साधु है वा अपभ्रंश, उसका वेदमें प्रयोग है या नहीं, यदि है तो कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी इन सबके लिये या किसी एकके लिये, इत्यादि विषयोंकी मीमांसा इस लेखद्वारा की जाती है।

जिस तत्त्वको ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं, कर्मयोगी और भक्त उसीको ईश्वर कहते हैं। अतः मायाकी मोहक शक्तिको पददलित कर अशास्त्रीय पथमें प्रवर्तक लोभमोहादि राजस-तामस भावोंकी दासतासे मुक्त हो शास्त्रविहित मार्गकी ओर अग्रसर होनेका जो सतत प्रयास करते हैं वे महापुरुष, कर्मयोगी, भक्त, ज्ञानी, किसी कोटिके क्यों न हों, सत्-परम तत्त्वपर निष्ठा रखनेके कारण सत् शब्दद्वारा व्यपदिष्ट होते हैं।

अर्थात् प्रथम सत्तारूप प्रवृत्तिनिमित्तको लेकर ब्रह्मवाचक सत् शब्दका प्रयोग उनमें लक्षणया होता है। सत् शब्दका प्रथमा विभक्तिके बहुवचनमें 'सन्तः' ऐसा रूप बनता है। उसीका अपभ्रंश संत शब्द सत्पुरुषोंके लिये हिन्दीमें प्रयुक्त होता है । द्वितीय श्रेष्ठतारूप प्रवृत्तिनिमित्त पक्षमें सत् शब्दका प्रयोग उनमें मुख्य ही है, गौण नहीं है। कारण कि अष्ट आत्मगुण तथा वैराग्यादि सात्त्विकभावसम्पन्न होनेसे वे सर्वश्रेष्ठ हैं ।

समस्त जगतका कारण अपरिच्छिन्न नित्य परमात्मा जो जीवात्माका अपना स्वरूप है, भिन्न नहीं, काल नाम उसीका है। प्रत्येक वस्तुसे सम्बद्ध कुम्भकी तरह परिच्छिन्न अहोरात्र-मासादिरूप जन्यकाल उसीमें स्थित है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्य अपने कारणमें रहा करते हैं। इस विषयकी पुष्टिमें वेदपुरुष विद्वदनुभवको प्रमाणित करते हैं।

उस जन्यकालको सन्तः=सत्पुरुष हम अहोरात्रादिभेदसे अनन्त प्रकारका ठीक अनुभव करते हैं। अथवा जन्यकालका आधार उस महाकाल परमात्माको श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन अनेक साधनोंसे सन्तः=सद्ब्रह्मके उपासक हम साक्षात्कार करते हैं।

संतपूजा

जहाँ कहीं हमारी दृष्टि जाती है हम मानवजातिको किसी-न-किसी संतके चरणोंमें आबद्ध पाते हैं। पूर्वीय तथा पाश्चात्य सभी जातियाँ अपने-अपने संतोंके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हैं। शत्रुके खूनका प्यासा सिपाही भी सेंट जार्जकी दुहाई देता है और उसीके नारे लगाता हुआ शत्रु-सेनापर आक्रमण करता है। किसी जातिकी आध्यात्मिक पिपासाको शान्त करनेके लिये संत वर्षाके रूपमें प्रकट होते हैं।

संतोंकी वाणी, संतोंके बनाये हुए नियम, उनका स्थापित किया हुआ आदर्श और उनके व्यक्तित्वका प्रभाव मनुष्योंको पाशविकतासे अधिकाधिक ऊपर उठानेमें जादूका-सा काम करते हैं। किसी राष्ट्रके स्थूल राजनैतिक जीवनके पीछे भी संतका हाथ रहता है। शिवाजी-जैसे वीरको शक्ति और बल प्रदान करना स्वामी रामदासका ही काम था।

फ्रांसकी उस किसान बालिका जोन-ऑफ-आर्क को अपने देशको मुक्त करनेके कार्यमें सेंट माइकेल और सेंट कैथेरिनके उपदेशोंसे ही प्रोत्साहन मिला। वीरशिरोमणि गुरु गोविन्दसिंहके जीवनपर गुरु नानकके उपदेशोंकी ही छाप पड़ी थी। महामना सम्राट् अशोकके चरित्रपर भी समस्त एशियाको प्रकाश देनेवाले भगवान् बुद्धका ही प्रभाव पड़ा था।

जगत्के कल्याणके लिये सूलीपर चढ़नेवाले महात्मा ईसाका ही सारा विश्व सम्मान करता है, राज्यलोलुप सीज़र अथवा नैपोलियनकी अदम्य हिंसावृत्तिको चरितार्थ करनेवाली तलवारका नहीं। ईसाके मधुर शब्दोंने मानवहृदयपर जैसा आधिपत्य जमाया बैसा किसी भी जगद्विजयी सम्राट्की तोपें और तलवारें नहीं जमा सकीं। संसारमें सबसे बड़ा देश वही है जिसने सबसे अधिक संत पैदा किये हों।

और सबसे अधिक उन्नतिशील और समृद्धिशाली जाति वही है जो अपने संतोंका आदर करती है और उनके उपदेशोंका और आदर्शका अनुसरण करती है। भारतवर्षके इतिहासका सबसे महान् युग वही था जब उसकी सन्तान--राजा और रंक सभी--अपने प्राचीन महर्षियोंका सम्मान करती थी और श्रद्धा एवं आदरके साथ उनके बनाये हुए नियमोंका और आचारका पालन करती थी।

प्रत्येक आस्तिक हिन्दू अपनेको किसी-न-किसी प्राचीन महर्षिकी सन्तान मानता है और प्रत्येक धार्मिक कृत्यमें अपने गोत्र और प्रवरका स्मरण करता है। प्रत्येक सच्चा सनातनी दिनमें तीन बार अपने ऋषियोंका स्मरण करता है और उनकी वन्दना करता है। सारी हिन्दूजाति एक प्रकारसे संतोंके पवित्र विचारोंमें ही पली हे । प्रत्येक त्रैवर्णिक हिन्दू नियमपूर्वक वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करता है जो हिन्दूजातिके संतोंकी ही दिव्य वाणी है।

स्नान, सन्ध्या और प्राणायाम आदिसे निवृत्त होकर प्रत्येक सनातनी द्विज गायत्री मन्त्रका जप करता है, जो एक प्रकारसे उसकी जातीय सम्पत्ति है। समस्त जातिको ईश्वरीय ज्ञानका दिव्य आलोक प्रदान करनेके लिये ही महान् तपस्वी ऋषि विश्वामित्रने गायत्री मन्त्रका आविष्कार किया था। इस एक मन्त्रमें कितना ज्ञान भर दिया गया है!

ॐ कारवाच्य सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म भूलोक (पृथ्वीमण्डल), भुवर्लोक (अन्तरिक्ष अथवा पितृलोक) और स्वर्लोक (स्वर्गादि सत्यपर्यन्त ऊपरके लोक) सबमें व्याप्त है। बह सत्य एवं ज्ञानका परात्पर स्वामी है। वह हमारे संकल्पों और कर्माको दिव्य बनाकर ईश्वरत्वकी ओर ले जाता है। हमलोग उसी परमात्माके तेजोमय रूपका ध्यान करें।' यह गायत्री मन्त्रका अर्थ है।

शरीरके भीतर एक सूक्ष्म शरीर (मन) है और उसके परे बुद्धि और बुद्धिके भी परे मनुष्यके अन्दर रहनेवाला परमात्मतत्त्व-ब्रह्म अथवा आत्मा है | वही मैं हूँ; वही मेरा वास्तविक स्वरूप है; उसी जाज्वल्यमान सत्यके अन्दर मैं अपने-आपको हवन करता हुँ।

जिस प्रकार एक डाइनेमोसे उत्पन्न हुई बिजली एक टॉकी मशीनकी फिल्मोंका संचालन करती है उसी प्रकार यह शरीर आत्माकी शक्तिसे संचालित होता है। वह आत्मा ही चरम तत्त्व है और यह जगत् उसीका लीलाक्षेत्र है। आत्माकी ज्योतिसे रहित यह चराचर विश्व एक थोथे बिजलीके लट्टूके समान है।

मैं तभीतक जीवित हूँ जबतक वह आत्मा मेरे अन्दर है। उस ब्रह्मको मेरा यह जीवन समर्पित है। सनातनी हिन्दूसमाज इसी भावनासे अनुप्राणित है । इसी भावनासे प्रेरित होकर एक आस्तिक हिन्दू भगवान्से दीर्घायु, सूदृढ़ शरीर, मानसिक शक्ति और ईश्वरीय बलकी प्रार्थना करता है; इसीलिये वह परमात्मासे बल, वीर्य, तेज, ओज, साहस और वर्चसूकी कामना करता है ।

ईश्वरीय शक्तिका अपने सारे शरीरमें संचार करनेके लिये वह अंगन्यास और करन्यास आदि करता है। इसीलिये वह ज्ञान, पवित्रता और ईश्वरीय तेजके मूर्तस्वरूप भगवान् सूर्यदेवकी उपासना करता है । इसीलिये वह शाश्वत सुखकी प्राप्तिके लिये बल और वीर्यके अधिष्ठातृ देवता अग्निकी उपासना करता है।

वह सर्वतोमुख भगवान्‌की पूजाके लिये दिशाओंको नमस्कार करता है और ऋषि, महर्षि, आचार्य, मातापिता और पितरोंका पूजन करता है और उपासनाके अन्तमें सारे भूतप्राणियोंके सुखकी प्रार्थना करता है। अहा! ज्ञानसागर वैदिक ऋषियोंके द्वारा निर्धारित किया हुआ यह पूजा-प्रार्थनाका जीवन कितना सुन्दर और आत्माको ऊपर उठानेवाला है।

भक्त संत

गीता कहती है कि जो ब्रह्मभूत हो जाते हैं अर्थात् जो ब्रह्ममें मिल जाते हैं उनकी आत्मा निर्मल हो जाती है। उन्हें ब्रहाके अतिरिक्त और किसी वस्तुका चिन्तन नहीं होता और न उन्हें परमात्माके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी आकांक्षा ही रह जाती है। उनका समस्त भूतोंमें और सारी परिस्थितियोंमें समभाव हो जाता है और आत्मज्ञानकी उसी चरम अवस्थामें ज्ञानीको पराभवितकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मकी प्राप्ति हो जानेके बाद भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस "हरि, गोविन्द, गोपाल, राम, कृष्ण, ॐ, माँ काली' आदि भगवान्के दिव्य नामोंका उच्चस्वरसे कीर्तन किया करते थे और भक्तोंके साथ आवेशमें आकर नाचने लगते थे। संतका हृदय भगवान्‌का मन्दिर बन जाता है।

प्राचीनकालमें पूजालाल नामके एक संत हो गये हैं। वे बडे विद्वान् और शंकरके अनन्य भक्त थे। परन्तु उन्हें धनका बड़ा अभाव था। शिवजीका एक अत्युत्तम मन्दिर बनवानेकी उनके मनमें बड़ी लालसा थी। उन्होंने इसके लिये लोगोंसे भिक्षा माँगनी शुरू की। जो कोई भी उनके इस प्रस्तावको सुनता वही हँस देता और कहता--' क्या तुम पागल तो नहीं हो गये हो जो पैसेपैसेके मुहताज होकर इतने बड़े कामको उठाना चाहते हो?

जाओ, इस प्रकारकी बे सिर-पैरकी बातें सुननेके लिये हमारे पास समय नहीं है।' लोग उन्हें वास्तवमें पागल समझते थे। परन्तु संत अपने संकल्पमें अडिग थे, उनका उत्साह मन्द नहीं हुआ। वे मनमें सोचने लगे-यदि पत्थरका मन्दिर बनवानेमें मेरी दरिद्रता बाधक होगी तो मैं अपने हृदयमें उनके लिये एक सोनेका मन्दिर बनवाऊँगा।

उसी दिनसे उन्होंने अपने स्वर्णमय हृदयको प्रेमकी ज्वालासे द्रवीभूत कर उसमें आगम-शास्त्रके अनुसार भगवानका बड़ा सुन्दर मन्दिर बनाना शुरू किया। थोड़े ही दिनोंमें मन्दिर तैयार हो गया और भक्तने अपने भगवानको उसमें प्रतिष्ठित करनेके लिये उनका आवाहन किया । दैवयोगसे उसी समय उस नगरके राजाने एक सुन्दर मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठाके लिये भी वही दिन नियत हुआ जिस दिन पूजालालने भगवानको अपने मन्दिरमें विराजमान होनेके लिये पुकारा।

भगवान्‌ने स्वप्नमें राजाको दर्शन दिया और कहा-'अपने मन्दिरकी प्रतिष्ठाको कुछ दिन स्थगित रखो, आज मुझे अपने अनन्यभक्त पूजालालके द्वारा निर्मित प्रेममन्दिरमें प्रवेश करना है।' अपने भक्तके संकल्पको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌ने पूजालालके हृदयमन्दिरमें पदार्पण किया । उनका सारा शरीर भगवान्‌की दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठा।

राजाने उनके घर जाकर उनकी वन्दना की। जिन लोगोंने उन्हें पागल कहकर उनकी अवज्ञा की थी वे सभी अपनी मूर्खतापर पश्चात्ताप करने लगे। इस प्रकार संतलोग अपने हदयदेशमें वह दिव्य मन्दिर बनाते हैं जिसमें भगवान् सदाके लिये आ विराजते हैं और फिर एक क्षणके लिये भी वहाँसे अलग नहीं होते।

भक्त संत अपने भगवानको सर्वत्र देखते हैं और सर्वथा अहंकारशून्य होकर सबके रूपमें उन्हींको सेवा करते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यको उनके गुरुदेव श्रीनाम्बिमहाराजने अष्टाक्षर मन्त्रकी दीक्षा दी थी। दीक्षा देते समय गुरुने उन्हें सावधान कर दिया था कि वे किसी हालतमें इस मन्त्रको दूसरेके सामने प्रकट न करें। परन्तु दुखी जीवोंके प्रति दयापरवश हो उन्होंने उस मन्त्रको मन्दिरके शिखरपरसे सबको सुना दिया।

इसपर उनके गुरु बहुत बिगड़े और उनसे कहा कि तुम्हें इस महान् अपराधके बदले नरक भोगना पड़ेगा। रामानुज गुरुके इस वचनको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि यदि मेरे नरक जानेसे इतने मनुष्य नरकके त्राससे

बच सकते हैं तो मुझे नरकका वास स्वर्गसे भी बढ़कर सुखकर प्रतीत होगा। उनके इस उत्तरको सुनकर गुरु बड़े प्रसन्न हुए और अपने महानुभाव शिष्यकी समदर्शिताकी बड़ी प्रशंसा करने लगे।

इस दृष्टान्तसे यह बात सिद्ध होती है कि संतलोग अपने लिये नहीं बल्कि दूसरोंके लिये ही जीते हैं। भगवान्के सच्चे भक्त भगवान्से उनके प्रेमके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं माँगते। कूरत्ताळवार भगवान् रामानुजके प्रधान शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुको गुप्तरूपसे मैसूर भेजकर उनकी उस समयके शैव राजाके अत्याचारोंसे रक्षा की।

कूरत्ताळवार अपने गुरुका वेश धारणकर राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और बड़ी निर्भीकताके साथ उसके प्रश्नोंका उत्तर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी आँखें निकलवा दी गयीं। कूरत्ताळवार अब नेत्रहीन हो जानेके कारण असहाय हो गये। उनका कुटुम्ब बहुत बड़ा था और उन्हें अयाचितरूपसे जो कुछ मिल जाता था उसीसे वे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते थे।

एक बार बरसातके दिनोंमें उनके सारे परिवारको सात दिनतक लगातार उपवास करना पड़ा। परन्तु भक्त कूरत्ताळवार इस कष्टको देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए और वे सदाकी भाँति भगवान्के नामको रटते रहे। उनकी पत्नीने आधीरातके समय भगवान् रंगनाथको स्मरण किया और दुखी होकर उनसे इस प्रकार प्रार्थना की-* भगवन्! आप स्वयं तो महलोंमें रहकर उत्तम-सेउत्तम पदार्थोंका भोग लगाते हैं और तुम्हारे भक्त यहाँ भूखों मरते हैं! क्या भक्तोंकी भूख तुम्हारी नहीं है ?'

उनका यह कहना था कि उसी समय श्रीरंगजीके मन्दिरका पुजारी वहाँ बढ़िया-से-बढ़िया प्रसादकी थालियाँ लेकर आया और कहा--' महाराज! मुझे आज स्वप्नमें श्रीरंगजीने आदेश दिया है, इसीलिये मैं यह प्रसाद आपलोगोंकी सेवामें लाया हूँ।' कूरत्ताळवारको जब यह पता लगा कि उनकी पत्नीने भगवान्से प्रार्थना की थी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे मन-ही-मन कहने लगे कि हाय, मैंने भगवानको कितना कष्ट दिया! उस भक्तको धिक्कार है जो अपनी भक्तिके बदलेमें भगवान्से कुछ चाहता है।

अहा, भक्त कैसा निष्कामी होता है? वह अपने प्रेमे बलसे भगवान्के साथ एक हो जाता है। संत फ्रांसिस ईसामसीहसे इतना प्रेम करते थे कि जब ईसामसीह सूलीपर चढ़ाये गये तो फ्रांसिसके शरीरमेंसे पसीनेकी जगह रक्तकी बूँदें निकलने लगीं।

संतोंकी समाधि

आत्मानुभवकी चरम अवस्थामें, जब नीचेके आधार खुल जाते हैं और आधारशक्ति सहस्रारचक्रमें परमशिवके साथ मिल जाती है तब साधक आत्मस्थितिके परम आनन्दमें डूब जाता है, वह ब्रह्मभूत हो जाता है। वह मौन होकर अपने भीतरके सहस्रदलकमलका आसव पीकर सदाके लिये छक जाता है। ऐसी स्थितिमें उसके लिये ओठोंसे एक शब्द भी निकालना भारी हो जाता है। संतके मुखका तेजोमण्डल ही जादूका काम करता है। स्वामी सदाशिव ब्रह्म इसी प्रकारके एक संत थे।

वे वैराग्यके आवेशमें बचपनमें ही घरसे निकल पडे और कुम्भकोणम् मठके अधिपति स्वामी श्रीपरमशिवेन्दर सरस्वतीके चरणोंमें बैठकर उन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया। वहाँ रहकर उन्होंने सुन्दर वेदान्तसम्बन्धी कीर्तनोंकी रचना की जिनका आज भी दूर-दूरतक प्रचार है, और आत्मानुभूतिविषयक कई पच्यग्रन्थ भी रचे। निमाई पण्डितकी भाँति वे उस मठमें आनेवाले बड़े-बड़े पण्डितोंसे शास्त्रार्थमें भिड़ जाते थे और सदाशिवके सामने उन्हें नीचा देखना पड़ता था।

इसपर पण्डितोंने उनके गुरुजीसे कहा कि “सदाशिव बडे ढीठ हो गये हैं और उन्हें लोगोंसे शास्त्रार्थ करने और उन्हें छकानेमें बड़ा मजा आता है।' इसपर गुरुजीने उन्हें एक दिन बड़े जोरसे डाँटकर कहा-*सदाशिव! आजसे तुम मौन हो जाओ।' गुरुजीकी यह बात सदाशिवको लग गयी। उन्होंने सोचा--'बात तो ठीक है, सत्यका आधार वाणी नहीं है, सत्य तो मौनमें ही है।' यह कहकर उस ज्ञानी महात्माने वाणीके साथ-साथ और सब वस्तुओंका भी परित्याग कर दिया। उसी दिनसे वे अवधूतवेशमें आत्मस्थित होकर गूँगेकी भाँति विचरने लगे। लोगोंने अब भी उनका पिण्ड नहीं छोड़ा।

उन्होंने सदाशिवके गुरुजीसे जाकर फिर शिकायत की कि सदाशिव पागल हो गये हैं। इसपर गुरुजीने कहा--' यह तो बड़े सौभाग्यकी बात है, मैं स्वयं उस दिनकी बड़ी उत्सुकताके साथ बाट देख रहा हूँ जब मैं भी सदाशिवकी भाँति पागल हो जाऊँगा।' सदाशिवेन्द्र अब समाधिमें ही रहने लगे और कावेरी नदीके तटपर जंगलमें महीनों एक आसनसे बैठे रहते।

एक बार वे इसी प्रकार कोडुमुडी (सीर) नामक स्थानके निकट कावेरीके वालुकामय पुलिनमें समाधिस्थ होकर बैठे थे कि अचानक नदीमें बाढ़ आ गयी और वे उसीमें बह गये। लोगोंको उनका कहीं खोज भी न मिला। बाढ़का पानी उतर जानेके कुछ दिन बाद एक आदमी नदीमेंसे बालू निकाल रहा था तो उसे अपनी कुदालमें कुछ रुधिर लगा हुआ देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने आसपासके लोगोंको एकत्र किया और मिट्टी हटानेपर लोगोंने देखा कि वहाँ सदाशिवेन्द्र समाधि लगाये हुए बैठे हैं।

कई बार लोगोंने उन्हें एक ही समयमें कई स्थानोंमें देखा। अभी वे यहाँ बच्चोंके साथ खेल रहे हैं तो उसी समय दूसरे स्थानमें लोग उन्हें समाधि लगाये बैठा पाते हैं। वे बड़े-बड़े असाध्य रोगोंको स्पर्शमात्रसे दूर कर दिया करते थे। दृष्टिमात्रसे वे लोगोंकी हृदयग्रन्थिको खोल देते थे और अधिकारी मनुष्योंको ब्रह्मज्ञानमें परिनिष्ठित कर दिया करते थे मूर्खलोग उन्हें बहुत सताया करते थे। एक बार किसी मनुष्यको उन्हें नग्न देखकर बड़ा क्रोध आया और उसने क्रोधके आवेशमें इनका एक हाथ काट दिया   महात्माने इसकी कुछ भी परवा नहीं की और उसी प्रकार मस्त होकर वे वहाँसे चल दिये।

अब तो जिस मनुष्यने उनका हाथ काटा था उसे अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने सोचा, ये तो कोई महात्मा हैं और दौड़कर उनके चरणोंमें लोट गया और उनसे क्षमाकी भीख माँगने लगा। महात्माने इशारेसे उसे पूछा-' मामला क्या है ?' उस मनुष्यने कहा, “महाराज! मैं बड़ा पापी हूँ, मैंने आपका हाथ काट डाला है।'

महात्माने कहा-'अच्छा, यह बात है?' यों कहकर उन्होंने अपने दूसरे हाथसे अपने कटे हुए हाथको टटोला तो उसके स्पर्शसे ही उनका घाव अच्छा हो गया। इन्हीं महात्माने पुदुक्कोट्टा राजधानीके राजा विजय-रघुनाथको उपदेश दिया था और इनके आशीर्वादसे ही राजाकी सारी समस्याएँ हल हो गयी थीं । सदाशिव ब्रह्मकी पुदुक्कोट्टा राज्यमें अब भी पूजा होती है और उनके नामपर राज्यकी ओरसे बहुत-सा दान-पुण्य होता है।

वे बहुत कालतक जीवित रहे। उन्होंने सारे देशका भ्रमण किया और अन्तमें जो दिन उन्होंने पहलेसे ही लोगोंको बता रक्खा था उसी दिन नैरूर नामक ग्राममें समाधि ले ली। लेखकने स्वयं उनके समाधिस्थानपर बैठकर दिनतक ध्यानका अभ्यास किया, जिससे उसे बड़ा लाभ हुआ। वहाँ अब भी उनका प्रभाव विद्यमान है और उस स्थानमें मनुष्यको एक अनूठी शान्तिका अनुभव होता है।

सदगुरु संत

बर्तमान कालमें संसारको संतोंके उपदेशकी बड़ी आवश्यकता है । राष्ट्रीयता, युद्धप्रियता, व्यापारका प्रेम, कूट राजनीति, नाजीवाद, क्रान्तिवाद, रूसी साम्यवाद आदि अनेक भौतिकवादोंने, जो जडवादकी ही सन्तान हैं, मनुष्य-जातिपर आधिपत्य जमा रक्खा है और वे मनुष्यके एकमात्र रक्षक धर्मकी जड़को हिला रहे हैं। धर्मपर प्रहार करनेके लिये वे जिन-जिन शास्त्रोंका प्रयोग करते हैं उनसे उन्हींका गला कटता है।

योरपको इस ध्वंसकारी युद्धवादसे कौन बचा सकता है-राजनीतिज्ञ अथवा योद्धा? नहीं, संत ही इस विपत्तिसे मनुष्यसमाजको बचा सकते हैं। वे ही एक ऐसी शक्तिके द्वारा मनुष्यके हृदयको प्रभावित कर सकते हैं जो विज्ञानके ध्वंसकारी प्रयोगोंकी अपेक्षा लाखों गुनी अधिक बलवती है। भारतवर्षको चाहिये कि वह पहले अपने ही संतोंके ज्ञानका महत्त्व समझे।

वह स्वयं ही अपने बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारका आध्यात्मिक गुरु बन सकता है और जगतूको सर्वनाशसे बचा सकता है। मनुष्यकी आत्मा जब इस अनन्त जीवनसंग्रामसे हार जाती है तब वह अन्तमें जाकर किसी संतके चरणोंमें ही विश्राम और शान्तिको खोजती है। क्योंकि संत ही मनुष्यके अन्दर ईश्वरत्वकी उस ज्वालाको प्रकट कर सकते हैं जो उसके सारे पाप-तापोंको भस्म कर डालती है और उसे नित्य एवं अजस्र सुखरूप परमात्माकी गोदमें बिठा देती है।

संत ही अपने स्पर्शके द्वारा अथवा अपनी कृपादृष्टिकी कोरसे मनुष्यके हृदयमें आत्मज्ञानकी ज्योति जगा सकते हैं। संत ही मुखसे एक भी शब्द न कहकर मनुष्यको इस प्रकारका मौन उपदेश दे सकते हैं--जिस प्रकार भगवान् सविता सारे विश्वके चक्षुरूप हैं, वे इस बाहृय प्रपंचके पाप-ताप तथा दोषोंसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, उसी प्रकार सारे भूतप्राणियोंके हृदयदेशमें रहनेवाला अद्वितीय आत्मा जगतूके दुःखों और क्लेशोंसे सर्वथा अलिप्त ऋषि अथवा कल्मषहीन संत ही मानवजातिको जन्म-जन्मान्तरकी मोहनिद्रासे जगा सकते हैं, हुन्ॣसे मुक्त कर सकते हैं और जिज्ञासुसे यह

कह सकते हैं-उठो, जागो, उस परमतत्त्वको जानो जिसके द्वारा तुम इस संसाररूपी दुःखसागरके पार हो सकते हो!

अपने हृदयमें जलती हुई ब्रह्माग्निको पहचानो! वही तुम्हारे सारे बन्धनोंको जला सकती है। उसीको जानो, वही हो जाओ! उसको जाननेवाला ही संसारमें सबसे बड़ा है क्योंकि उससे बढ़कर संसारमें कोई वस्तु है ही नहीं-"नातः परमस्ति'। संतोंकी यही महिमा है और उनकी इसी गुणगरिमाका संसार आदर करता है ।

इस आत्मज्ञान, आत्मानुभूतिके द्वारा ही संत जगत्के पथप्रदर्शक मानवजातिके ध्रुवतारे बन जाते हैं! आत्मस्थिति ही संतोंका पहला लक्षण है। उसे ब्रहम, शिव, नारायण, सत्-चित्आनन्द, पिता, माता, अल्लाह, जेहोवा आदि किसी नामसे पुकारो, उस एक आनन्दमय सत्य-ज्ञानानन्तस्वरूप परमात्माका अन्त:करणके द्वारा अनुभव करनेसे ही मनुष्य सारे दोषोंसे मुक्त होकर परमात्मस्वरूप बन सकता है |

उसे प्राप्त करनेके भक्ति, ज्ञान, निष्कामकर्म, एकान्तप्रार्थना, ध्यान, तपस्या, योग आदि अनेक उपाय हैं। जो अपने अन्त:करणमें उस विश्वात्माका आत्मस्वरूपसे अनुभव करता है वही उन्हें अखिल विश्वमें व्याप्त पाता है। संतलोग हमें बार-बार चेतावनी देते हैं-उसी एकको जाननेसे तुम इसी संसारमें उस सत्यस्वरूपको प्राप्त कर सकते हो; उसे यदि यहींपर तुमने नहीं जाना तो समझ लो, तुम बड़े घाटेमें रहे। जो धीर पुरुष उस आत्माको सभी भूतोंमें देखता है वह सब कुछ जान लेता है और इस द्वन्द्रमय जगतूके बन्धनसे छूटकर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

जीवन्मुक्त

*मै' का वास्तविक अर्थ है आत्मा । आत्मा अर्थात् वास्तविक 'मैं' अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें बद्ध और मुक्तके विशेषण नहीं लगाये जा सकते। बन्धका अर्थ है अपनेको भूल जाना और उस भूलका मिट जाना ही

ज्ञान अथवा मुक्तिका अर्थ है। तात्पर्य यह कि आत्मदृष्टिसे बद्ध और मुक्तिकी सत्ता नहीं होती। वह तो व्यावहारिक दृष्टिसे ही बनती है।

यदि व्यवहारमें पारमार्थिक दृष्टि घुसेड़ दें और व्यावहारिक दृष्टिसे परमार्थका विचार करें तो दोनोंका ही विशुद्ध स्वरूप छिप जायगा। इसलिये बद्ध, मुक्त आदिपर विचार करते समय व्यावहारिक दृष्टि ही काममें लानी चाहिये।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि अनन्त चिदानन्द सत्तामें किसी भी द्वनद्वकी कल्पना नहीं की जा सकती, और व्यवहार हुनद्रमें ही है। व्यवहारमें अच्छे-बुरे, पापी-पुण्यात्मा और महात्मा-दुरात्माका भेद अनादिकालसे चला आया है और इसके बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता | ऐसी स्थितिमें हमें महात्मा और दुरात्माकी एक परिभाषा बनानी ही पड़ेगी। समाजकी सुव्यवस्था और मुमुक्षुओँके कल्याणके लिये ऐसा करना अनिवार्य है।

परन्तु ऐसा करते समय एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये। ये लक्षण जीवन्मुक्त महात्माओंके लिये नहीं बनाये जाते क्योंकि वे तो जैसे हैं, हैं ही। उन्हें अपने लक्षणके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। वे इन लक्षणोंके अंदर बँधे नहीं हैं, इनसे परे-बहुत परे अनन्तस्वरूपसे विराजमान हैं। उनके शरीरमें इन लक्षणोंको मिलाकर कोई महात्मा देखे या न मिलनेसे उन्हें दुरात्माका प्रमाणपत्र दे दे, वे इन बातोंकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते, उनकी दृष्टिमें तो सब अपना स्वरूप ही है।

लक्षणोंकी आवश्यकता है हम साधारण जीवोंको, जो संसारके पाप-तापसे सन्तप्त होकर एक शीतल, सुखद और घनी छायाके नीचे विश्राम करना चाहते हैं और अपनी श्रान्त, क्लान्ति और भ्रान्ति मिटाकर सर्वदाके लिये अनन्त शान्तिके अंकमें सो जानेके लिये किसीके कोमल करोंकी थपथपी चाहते हैं। हाँ, तो हमें अपनी दृष्टिसे ही उनके लक्षणोंका निर्णय करना होगा। हम अपने आदर्श, रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार महात्माओंका चुनाव करते आये हैं और करेंगे।

किसीकी दृष्टिमें आचार्य शंकर सबसे बड़े संत हैं तो किसीकी दृष्टिमें चैतन्य महाप्रभु हैं और अनेकों व्यक्ति स्वामी दयानन्दको ही सर्वश्रेष्ठ संत मानते हैं। ये सभी महान् पुरुष हैं; परन्तु जब हम अपने लिये चुनते हैं तब अपनी रुचि, प्रवृत्ति और आदर्शके अनुसार ही किसी एकपर जाकर ठहर जाते हैं।

परन्तु अपनी मनमानी करनेसे ही तो हम इस मायाके भयंकर चक्करसे छूट नहीं सकते। जन्मजन्मसे वासनाओंकी दासता करते रहनेके कारण हम वैसी ही परिस्थितिमें घुल-मिल गये हैं और उसीके आदी हो गये हैं। इसलिये जहाँ कहीं हमारी धारणाके विपरीत कोई बात मिलती है वहीं हम उससे घृणा या परहेज करने लगते हैं। हमारी नपी-तुली बुद्धिका सत्य ही हमें सत्य प्रतीत होने लगता है और हम वास्तव सत्यसे वंचित ही रह जाते हैं। तब हमें क्या करना चाहिये? किसकी शरण ग्रहण करनी चाहिये?

एक बात और है। कामनाओं और विषयोंके कीचड़में सड़ते-सड़ते हम ऊब उठे हैं। पापोंके, पापियोंके और उनके दलालोंके पंजेमें पिसते-पिसते चूर-चूर हो गये हैं। इनके धोखे, जाल और फरेबोंसे आजिज आ गये हैं। यदि फिर उन्हीके चंगुलमें फँस जायँ और फिर वही दुर्गति हो तब मुक्ति और भगवान्की ओर अग्रसर होनेका अच्छा फल मिला।

यह बात सत्य है कि जिनकी दृष्टिमें असंत हैं वे ही असंत हैं, क्योंकि संतकी दृष्टिमें सब रूपोंमें संत ही नहीं प्रत्युत स्वयं भगवान् हैं। परन्तु यह बात तो हम असंतोंकी ही है न? इसलिये हमें अब विचार करना चाहिये कि संत या जीवन्मुक्तकी क्या परिभाषा हो सकती है अर्थात् किन लक्षणोंसे युक्त पुरुषके पास जाकर, उसकी शरण ग्रहण करके हम अपना कल्याणसाधन कर सकते हैं। यद्यपि यह बड़े साहसकी बात है कि किसी महापुरुषको कुछ नियमोंके अंदर बाँध दिया जाय, तथापि यह बन्धन उनके लिये न होकर जिज्ञासुओंके लिये है, अतः कोई आपत्तिकी बात नहीं है।

श्रुतियोंमें श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, ब्राह्मण और ब्रह्मवित् आदि शब्दोंसे, तथा गीतामें स्थितप्रज्ञ, भकत तथा गुणातीतके रूपमें और योगवाशिष्ठमें जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त आदिके रूपमें अथ च पुराणोंमें अतिवर्णाश्रमी आदिके रूपमें जिस स्थितिकी ओर संकेत किया गया है वह विभिन्न प्रकारकी नहीं है। प्रत्युत विभिन्न साधनाओंसे निष्पन्न एक ही फलभूत स्थितिका विभिन्न नामोंसे निर्देश किया गया है ।

उदाहरणार्थ-गीतामें कर्मको मुख्य और भक्तिज्ञानको गौण मानकर वास्तविक स्थितिको प्राप्त करनेवालेको "स्थितप्रज्ञ', भक्तिको मुख्य और कर्म-ज्ञानको गौण माननेवालेको ' भक्त', तथा ज्ञानको मुख्य तथा कर्मभक्तिको गौण मानकर वास्तविक स्थिति प्राप्त करनेवालेको "गुणातीत' कहा गया है। सभीको एक ही स्थिति प्राप्त है, सभी परमार्थमें परिनिष्ठित हैं और सभी कर्म, भक्ति तथा ज्ञानसे परिपूर्ण हैं।

तथापि साधनभेदके कारण उनके नामोंमें भेद कर दिया गया है। योगवाशिष्ठमें श्रीरामके जीवन्मुक्तलक्षणविषयक प्रश्नके उत्तरमें श्रीवशिष्ठजीने कई लक्षण बताये हैं, क्रमशः उन्हींपर विचार करें।

इस समय हमारी वृत्तियोंके सामने जिस पर्वत, नदी और वनादिविशिष्ट जगत्‌की प्रतीति हो रही है, जब यह हमारे सामनेसे देह, इन्द्रिय आदिके साथ समेट लिया जाता है अर्थात् प्रलय हो जाती है तब इन विभिन्नताओंके न रहनेसे यह अस्तंगत हो जाता है। परन्तु जीवन्मुक्तिमें वैसा नहीं होता। यह सम्पूर्ण प्रपंच जैसा-का-तैसा बना रहता है और व्यवहार भी होता रहता है।

प्रलय न होनेके कारण--दूसरे लोग पूर्ववत् स्पष्ट इसका अनुभव करते हैं; किन्तु जीवन्मुक्तमें इसे प्रतीत करानेवाली वृत्तिके न होनेके कारण सुषुप्तिकी भाँति कुछ भी प्रतीत नहीं होता, अस्त हो जाता है। हाँ, सुषुप्तिकी अपेक्षा विलक्षणता यह है कि उसमें भाविवृत्तिका बीज संस्काररूपसे रहता है और पुनः संसारका उदय होता है। परन्तु जीवन्मुक्तिमें बीज भी नहीं रहता-इसलिये पुनः कदापि संसारकी प्रती आसक्ति नहीं रहती।

प्रारब्धके अनुसार चन्दन-पुष्पादिसे सत्कार प्राप्त होनेपर अथवा धन-जनहानि, धिक्कारादि दुःखके निमित्त उपस्थित होनेपर संसारी पुरुषोंकी भाँति हर्ष या विषादसे जिसका मुख प्रसन्न या विषण्ण नहीं होता, बिना विशेष चेष्टाके जो कुछ स्वयं प्राप्त हो गया उसीमें शान्तिसे स्थित रहता है। पहले तो स्वरूपमें ही स्थित रहनेके कारण उसे इन विषयोंकी प्रतीति ही नहीं होती और यदि यथाकथञ्चित् थोड़ी देरके लिये प्रतीति हो जाय तो भी ज्ञानकी दृढ़तासे हेय-उपादेयबुद्धिका अभाव होनेके कारण हर्ष और विषादके लिये अवसर मिलता ही नहीं।

यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रारब्धके द्वारा केवल सुख-दुःखके निमित्त मात्र ही आते हैं, न कि उन निमित्तोंके पश्चात् होनेवाले सुखदुःख भी। इसका कारण यह है कि कर्मचक्रके अनुसार घटनाएँ तो घटती ही रहती हैं, परन्तु उनसे आसक्तिके कारण हम सुखी-दुःखी हो जाते हैं। जैसे प्रारब्धके कारण हमें किसी दिन भोजन नहीं मिल पाता, इतना तो प्रारब्धका काम है; परन्तु उससे हम दुःखी हों, यह आसक्तिका फल है और आसक्ति अज्ञानसे ही होती है।

संसारचक्रकी गति और स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेसे ही हम किसी देश, काल या वस्तुसे आसक्ति करते हैं और दुःखी-सुखी होते हैं। जीवन्मुक्त भला इनसे प्रसन्न या विषण्ण क्यों होने लगा? यही तो इसकी विशेषता है।उसके बाह्य

इन्द्रिय अपने-अपने गोलकोंमें स्थित रहते हैं, उपरत नहीं रहते, इसलिये वह जाग्रत् रहता है। परन्तु वृत्तियोंकी अन्तर्मुखीनताके अथवा अभावके कारण वह एक प्रकारकी सुषुप्ति ही है।

इसलिये इन्द्रियोंसे विषयोंकी उपलब्धि नहीं होती और जाग्रत्के लक्षण पूर्णतः नहीं घटते। इसीसे इस अवस्थाको जाग्रत् और सुषुप्ति इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं कहा जा सकता। यह है तो बोध, परन्तु वासनानुगामी बोध नहीं है, जैसा कि हमें स्वप्न और जाग्रत्में होता है। कभी-कभी मैं ब्रह्मवित हूँ, इस प्रकारकी वृत्तिका उठना ही यहाँ *वासना' शब्दसे सूचित होता है। यह वासना जीवन्मुक्तमें नहीं होती। जहाँ वह बुद्धि है कि मैंने अनन्तचित्स्वरूप ब्रह्मको जान लिया, यहाँ अपनेमें ज्ञानका कर्तृत्व आरोपित होता है और यह विशुद्ध ज्ञान नहीं कहलाता।

जब कर्तृत्व, ज्ञातृत्वका अपवाद हो जाता है, त्रिपुटीरहित केवल बोध-ही-बोध रहता है तब उसे वासनाशून्य बोध कहते हैं। यह बोधस्वरूप ही जीवन्मुक्तका स्वरूप है।

लोगोंके देखनेमें वह राग, द्वेष, भय आदिसे युक्त पुरुषकी भाँति व्यवहार करता हुआ जान पड़ता है। अर्थात् स्नान, शौच तथा भोजनादिमें उसकी प्रवृत्ति रागके अनुरूप ही जान पड़ती है। वह सात्त्विक भोजनका ही उपयोग करता है । तामसिकता, ग्राम्य चेष्टा तथा दुःसंगका त्याग आदि द्वेषके अनुरूप कार्य भी उससे होते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार अचानक कोई सर्प आदि हिंस्र जन्तु गोदमें आकर गिर जाय तो वह उसे झटकेसे फेंककर भयके अनुरूप काम करता हुआ भी देखा जाता है।

बाधितानुवृत्ति अथवा पूर्वाभ्यासके कारण व्युत्थान दशामें ऐसी बातें हो जाती हैं अवश्य, परन्तु उसके अन्तःकरणके निर्मल होनेके करण उसमें तनिक भी कलुष नहीं आता। जैसे हमलोगोंकी दृष्टिसे आकाशमें धूलि, बादल आदि आ जाते हैं, परन्तु आकाशको दृष्टिसे वह सर्वथा स्वच्छ और निर्मल ही रहता हैं। इसी प्रकार जीवन्मुक्तका हृदय भी सर्वथा उल्लंघन नही करता। परम्परासे प्राप्त मर्यादाका सर्वदा और सर्वत्र निर्मल ही रहता है।

हाँ, यह जीवन्मुक्तपद वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक तत्तवज्ञानसे ही प्राप्त होता है। इनमेंसे किसी एकके द्वारा नहीं। सच्ची बात तो यह है कि ये अन्योन्याश्रित हैंबिना एकके दूसरेकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये बड़ी तत्परताके साथ तीनोंका एक साथ अभ्यास करना चाहिये।

संतोंके सर्वमान्य लक्षण

संत उन्हें कहते हैं जो पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको छोड़कर अपने आध्यात्मिक उत्थान एवं जगत्-कल्याणके पवित्र अनुष्ठानोंमें सतत लगे रहते हैं। उनको ऐहलौकिक जीवनकी अपेक्षा पारलौकिक जीवनपर अधिक श्रद्धा होती है। वे ' आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' के सिद्धान्तका अक्षरशः पालन करते हैं। सच बात तो यह है कि इसका पालन ही उनके जीवनका ध्येय होता है। वे ज्ञानकी अपेक्षा आचारका मूल्य बहुत अधिक समझते हैं। कीर्ति-कामना और पद-प्रतिष्ठाका लोभ उनके नजदीक बहुत तुच्छ है क्योंकि इससे अहंकार प्रकट होता है। वे दीर्घजीवनकी कामना न कर पवित्र जीवनकी अभिलाषा रखते हैं, फिर चाहे वह कितना ही अल्प क्यों न हो।

ऐसे संतोंका अवतार तब होता है जब जगत्को उनके सहयोगकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। वे अपने लिये नहीं किन्तु जगत्के लिये ही जीते हैं। विश्वके प्राणिमात्रमें मैत्री, गुणियोंमें प्रमोद, दु:खियोंमें दया और विपक्षियोंमें माध्यस्थ भाव रखना उनके जीवनकी विशेषता है । उनके नजदीक काँच-कंचन, महल-मसान, तलवार-पुष्पहार और शत्रु-मित्र सब ज्ञेय हैं, हेय और उपादेय नहीं। क्योंकि हेय और उपादेयकी कल्पना बिना रागद्वेषके नहीं होती और वे पूर्ण वीतरागी होते हैं।

संतोंमें साम्प्रदायिकता नहीं होती क्योंकि वे समझते हैं कि साम्प्रदायिकताके किलेमें कैद होनेसे विश्वमें विस्तृत सत्यके कणोंको एकत्रित नहीं किया जा सकता अथवा उन्हें व्यापक सत्यके अविकल दर्शन नहीं हो सकते। आत्मविकासके लिये साम्प्रदायिक बुद्धिकी भयंकरताका अनुभव उन्हें अच्छी तरहसे हो जाता है इसलिये बे सूर्यके समान चारों ओरसे रस खींचने तत्पर रहते हुए अपनी प्रकाशधाराको सब ओर फैलाना ही अपना कर्तव्य समझते हैं।

संत कभी किसी कार्यको आसक्तिसे नहीं करते। उनके सारे कार्य निष्काम होते हैं। वे काम बहुत करते है पर आत्मश्रलाघासे बहुत दूर रहते हैं। बड़ी-बड़ी

बातें करना वे बहिरात्माओंका काम समझते हैं। वे अन्तरात्मा होना ही आपने जीवनका लक्ष्य मानते हैं जिससे कि जल्दी ही परमात्म-पदको प्राप्त हो जायँ । जिनका उनकी चिन्तनासे कोई सम्बन्ध नहीं ऐसे दूसरोंके कार्यो और वचनोंके आलोचनाके फेरमें वे कभी नहीं पड़ते। इसीसे वे पूर्ण शान्तिको प्राप्त करनेके योग्य बन जाते हैं। बाह्य सुविधाओंको तुच्छ समझकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये वे कभी चिन्तित नहीं होते।

चे दु:खोंकी चट्टानोंके बीच रहकर भी आत्माके सत्, चित् और आनन्दस्वरूपका सदा अनुभव करते रहते हैं। कठिनाइयों और यातनाओंके विषको घोलकर वे इस तरह पी जाते हैं कि उसका उनपर कुछ भी बुरा असर नहीं होता। यही कारण है कि जगतूकी कोई भी प्रतिकूल स्थिति उन्हें क्षुब्ध नहीं कर सकती। वे विश्वके प्रत्येक पदार्थको सदा अपने अनुकूल ही अनुभव करते हैं। जब वे अन्त:करणकी सम्पूर्ण गहराईमें ईश्वरको बिठाकर निमग्न हो जाते हैं तब जगतका प्रलय भी उनपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता।

वे अपने-आपमें इतने अधिक डूब जाते हैं कि वासनाओंका मैल कभी उन्हें छू भी नहीं सकता। संतोंकी वाणी त्रिकालाबाधित होती है क्योंकि वे उसी वाणीके द्वारा दुनियाँको धर्मका मूलतत्व समझाते हैं। वे दुनियाँके हृदयोंमें रहनेवाली बुराइयोंके मूलपर ही कुठाराघात करते हैं। वे इसीमें अपनी प्रसन्नता समझते हैं कि उनके सामने आनेवाले दुनियाँके लोग दिन-दिन नैतिक विकासकी ओर आगे बढ़ रहे हैं।

उनके कर्तव्यमार्गमें जो काँटे आते हैं उन्हें वे कुचलते नहीं किन्तु फूलोंके समान उठाकर उनको भी अपने सिरपर ही रखना चाहते हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि ये काँट ही उनके उत्साह और स्फूर्तिको दूना बढ़ा रहे हैं। वे जीवनभर एक लड़ाई लड़ते रहते हैं। उनकी यह लड़ाई बुराइयोंके साथ होती है। कभी-कभी विपत्तियोंकी फौज इकट्ठी होकर एक ही साथ उनपर हमला कर देती है और उस समय कोई भी समवेदना प्रकट करनेवाला नहीं मिलता, फिर भी वे जीवनके अन्ततक लड़ते ही जाते हैं।

देवों और राक्षसोंके युद्धका रहस्य क्या है? इसके अन्तर्निहित गूढ़ रहस्यको केवल वे ही जानते हैं। इस जीवनयुद्धमें अन्ततक लड़नेके बाद विजय उन्हें ही प्राप्त होती है। स्वर्ग उनके पैरोंमें आकर लोटता है पर वे कभी उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, क्योंकि उन्होंने अनुभव कर लिया है कि स्वर्ग भी जगतूकी एक नाशवान् विभूतिमात्र है।

आपदाओंका जितना स्वागत संतोंके यहाँ होता है उतना किसी दूसरी जगह नहीं होता। जब उनका द्वार हर किसीके लिये खुला रहता है तब आपदाएँ भी वहाँ स्वागत क्यों न पायेंगी, किन्तु वे कभी इनसे हताश नहीं होते बल्कि अपने अधिकृत पथपर वीरके समान चलते रहते हैं। दोनों बगलों और पीछेकी ओर क्या हो रहा है इसकी तरफ ध्यान देनेकी उन्हें विशेष आवश्यकता नहीं होती।

निन्दा और प्रशंसाके चेतनाहीन शब्द कहाँकहाँसे आ रहे हैं इसपर ध्यान देनेकी उन्हें कभी इच्छा ही नहीं होती, और न कभी अवकाश ही मिलता है। अभिलषित मार्गमें चलते हुए जब कोई प्रलोभन उनके सामने आकर खड़ा हो जाता है तो वे उससे डर नहीं जाते और न मोहित ही होते हैं किन्तु ज्ञानका अंकुश लेकर उसके सिरपर ऐसा आघात करते हैं कि वह क्षणभर भी वहाँ जीवित खड़ा नहीं रह सकता। उनकी नैया जब कर्तव्यके अगाध समुद्रमें तीव्र गतिसे चलती है तब प्रलोभनोंके तूफान आते तो हैं किन्तु वे कर कुछ नहीं सकते क्योंकि नैयाका खेवयिया इतना चतुर, उदार और मनस्वी होता है कि उसके प्रभावसे तूफानोंको मरते देर नहीं लगती।

जब पृथ्वी नरक हो जाती है, उसपर पाशविकताका प्रतिबन्धहीन नग्ननृत्य होने लगता है और बुराइयोंका शैतान जब मानवसमाजकी छातीपर खड़ा होकर उसका कचूमर निकालनेको तैयार हो जाता है तब ऐसे ही संतोंका मंगलमय और वाञ्छनीय अवतार होता है। वे अवतीर्ण होकर अपनी सारी शक्तिसे धराके भारको उतारकर उसके संकटको दूर करते हैं। पतितोंको पावन बनाना और अधमोंका उद्धार करना ऐसे ही संतोंका कार्य होता है। प्रत्येक संतके इतिहासमें हमें यह बातें देखनेको मिलेंगी ।

संतके जीवनके एक-एक क्षणका मूल्य कितना है, वाणी इसको नहीं आँक सकती। अगर दुनियाँमें संत न होते तो जगत्की जो अवस्था होती उसकी कल्पना भी मनुष्यके लिये बहुत भयंकर है। संत सबके प्यारे होते हैं। राजा-रंक, पशु-पक्षी, मूर्ख-विद्वान्, धनी और निर्धन सभीके लिये संत एक ही वस्तु हैं। क्योंकि उनके मन कोई भी पराया नहीं है।

यह संतोंके संक्षिप्त लक्षण हैं। उनकी सारी गुणगाथा तो स्वयं बृहस्पति भी नहीं गा सकते। भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध और परम दयालु ईसा आदि सब इसी कोटिके संत थे। इनके पवित्र नामोंसे दुःख दूर होते हैं और वासनाएँ भाग जाती हैं; इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम इनका नामोच्चारण करें, इनका जीवनवृत्तान्त पढें और जितना अधिक हो सके इन्हींके पदचिहोंपर हम अपने-आपको भी ले जानेकी चेष्टा करें।

स्वयं संत बननेका प्रयत्न करो

“मनमें, वचनमें और कायामें पुण्यका पीयूष (अमृत) भरा हुआ हो, तीनों भुवनके उपकारकी श्रेणियोंसे ही जो सदा परम प्रसन्न और तृप्त रहते हों, दूसरोंके परमाणु-समान गुणोंको पर्वतके समान मानते हों, अपने हृदयमें सदा प्रफुल्लित रहते हों, ऐसे संत कितने हैं ?

संत पुरुषकी परीक्षा बाह्य चिह्नोंसे नहीं होती। उनके अन्त:करणमें विकारोंका नितान्त अभाव होता है। अनुकूल मनुष्योंके प्रति न उनमें राग होता है और न प्रतिकूलके प्रति द्वेष होता है। इनके समीप आनेवाले अनेक दोषवान् प्राणियोंके दोष स्वत: दूर हो जाते हैं। इनमें शुद्ध सत्त्वबलका बाहुल्य होता है। विरोध करनेवाले मनुष्योंके राजस-तामस संस्कार निर्मूल हो जाते हैं। किन्तु ऐसे महापुरुष हर जगह नहीं होते।

किसी भी हेतुसे किसी भी कालमें इनके अन्तःकरणमें विकलता नहीं प्रकट होती। खान-पानादि भोग उनकी वृत्तिमें लालसा नहीं उत्पन्न कर सकते। क्षमा, उदारता, दया, स्थिरता, शम, दम, तितिक्षा, शान्ति, विराग, विवेक, सरलता, मनोजय, निरभिमानता और परोपकारिता, ये महान् लक्षण ही संत पुरुषोंकी अलौकिक सम्पत्ति हैं।

“शान्त साधु-संत पुरुष वसन्त ऋतुके समान जगत्हितका आचरण करते हुए जगत्में विचरते हैं। स्वयं वे मुक्त हैं और संसारके बद्ध जीवोंको संसारसमुद्रसे पार लगा रहे हैं। उनके विचार, वाणी तथा व्यवहार विशवकल्याणमें ही रत रहते हैं। उनके अन्तःकरणका द्वार विश्वके लिये खुला हुआ है।'

संत पुरुषोंके जीवनसे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि हम भी अपने जीवनको उच्च बना सकते हैं। मनुष्य महापुरुषोंके समान शक्तिसम्पन्न बन सकता है। तुम अपने पाशविक जीवनपर अधिकार कर सकते हो। लोग

ऐसा कहते हैं कि हमारा तो स्वभाव नीच है, हमारा जीवन बड़ा दूषित और अपवित्र है, हम कैसे पवित्रात्मा बन सकते हैं?

वे यह नहीं समझते कि आत्माके लिये कुछ भी, असम्भव नहीं। यह आत्मा जो तुम्हारे अन्दर है, सर्वशक्तिमान् है। अपने निर्बल मनको अपना आदर्श मत मानो, उसे आदर्श मान लोगे तो तुम्हारा सदा पराजय ही होगा।

तुम अपनी नीच वृत्तियोंपर जय प्राप्त कर सकते हो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन षड्रिपुओंका पवित्रताके आचरणसे समूल नाश कर सकते हो।

तुम इन्द्रियोंक भोगोंमें लिप्त होकर खाने, पीने, सोने और अन्तमें मर जानेके लिये नहीं पैदा किये गये हो। तुम्हारा जीवन किसी विशेष कार्यसम्पादनके लिये है। तुम्हारा उत्पन्न होना यह सिद्ध करता है कि तुम विशेष कार्यके लिये उत्पन्न किये गये हो।

तुम किसका सहारा ढूँढ़ रहे हो? अपने पाँवोंपर खड़े रहनेका प्रयत्न करो। विचार करनेके नियम सीखो। उत्तम विचारका नाम स्वर्ग है और नीच विचारका नाम नरक।

कल्पना, एकाग्रता और इच्छाशक्तिसे तुम अपने भाग्यको फेर सकते हो। कामको पवित्रतामें, क्रोधको शान्तिमें, लोभको सन्तोषमें, मोहको अनासक्तिमें, मदको नम्रतामें और मत्सरको प्रेममें बदल दे सकते हो। तुम परम प्रकाशमान परमात्माके एक अंश हो।

हर एक चस्तुमें, हर एक मनुष्यमें उसके गुणोंपर दृष्टि रखना, भलाई देखना आरम्भ कर दो। फिर तुम्हारे अन्दर भलाई संग्रह होने लगेगी और तुम भले बन जाओगे।

योगके आचार्य महर्षि पतञ्जलि काम-क्रोधादि विकारोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये 'प्रतिपक्षभावनम्' उपाय बतलाते हैं। अर्थात् जिस भावनाको दूर करना हो उसकी विरोधी भावनाका चिन्तन करनेसे वह दूर हो जाती है। नवीन मानसशास्त्र भी यही बतलाता है कि मस्तिष्कमें एक समयमें दो विचार नहीं चल सकते। जब तुम शुभ विचारोंका चिन्तन करना आरम्भ कर दोगे तो कुविचार अपने-आप दूर भाग जायँगे।

आत्मसंयमका अभ्यास

जिनके अन्तःकरणमें रजोगुण अथवा तमोगुणकी प्रधानता रहती है उनके संकल्प बलवान् नहीं होते। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको थोड़ा-थोड़ा साधन करके अभ्यास और वैराग्यसे मनको शुद्ध करना चाहिये; क्योंकि मनका स्वाभाविक धर्म चंचलता है। यह कभी शून्य नहीं बैठता। बिना किसी भाव या विचारके यह कभी एक क्षण स्थिर नहीं रहता। एक ही समयमें अनेक विषय ग्रहण करता और त्यागता है। यही मनकी अस्थिरता है।

प्रातःकाल अथवा सायंकाल नियमित रूपसे नियत समयपर चुपचाप शान्तिसे नेत्र मूँदकर सरल आसनसे बैठ जाओ। आसन कोई भी हो किन्तु उसमें चार बातोंका ध्यान रखो--(१) आसनमें स्थिरता हो-शरीर इधरउधर हिलना-डुलना नहीं चाहिये और दीर्घकालतक निश्चल रहे। (२) आसनके समय शरीर साम्यावस्थामें रहे। शरीरमें किसी अंगमें दबाव या पीड़ा न प्रतीत हो और शरीरकी किसी गतिका भी ध्यान न रहे। (३) आसन ऐसा हो कि सिद्धिमें न्यून-से-न्यून यत्न करना पड़े और उस ओर विशेष ध्यान न देना पड़े। (४) शरीर और मन निष्क्रिय हो।

मनकी निष्क्रिय अवस्था

कई साधक एकान्तमें पाँच-पाँच घंटे नेत्र मूँदकर बैठते हैं फिर भी उनका मन शान्त नहीं होता। उसका यही कारण है कि उनका संयमका अभ्यास दोषपूर्ण है। मनसे सब भावोंको निकाल डालो। एक आत्मसंयमकी भावनाके सिवा और भावना हटा दो। तर्क-वितर्क करना छोड़ दो। जब तुम इस प्रकार निश्चेष्ट अवस्थामें दस मिनटतक रहोगे तो तुम्हारा मन एकाग्र होने लगेगा। अपनी भावनामय प्रकृतिको विचारशक्तिद्वारा वशमें करना ही आत्मसंयम है।

नीचे लिखा अभ्यास बडे महत्त्वका है इससे तुम अपनेको जैसा चाहो वैसा बना सकते हो। अब हृदयके मध्य बिन्दुपर चित्तको एकाग्र करो और पन्द्रह मिनट निम्न भावनाओंके चिन्तनमें लगाओ। एक मासतक यह अभ्यास करो और दूसरे मासके लिये दूसरा अभ्यास करो। कामपर विजय प्राप्त करनेके लिये पवित्रतापर चिन्तन करो।

मैं निर्विकल्प, निर्विकार, चेतनस्वरूप आत्मा हूँ। मैं अनन्त पवित्रता हूँ। अनन्त पवित्रता मेरे भीतर, बाहर सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। अनन्त पवित्रता मेरे मस्तिष्कमें प्रकट हो रही है और सब दोष और बुराइयाँ मेरे मनसे दूर हो रही हैं। नीच जीवाणुओंका नाश हो चुका है और उच्च विचारोंके जीवाणु उन्नत हो रहे हैं। मैं अनन्त पवित्रताकी महाव्यापक शक्तिसे एक हो गया हुँ।

मेरा सारा शरीर पवित्रताके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। मेरे शरीरकी प्रत्येक नस-नाड़ीमें, रोम-रोममें पवित्रता भर गयी है। मैं चारों तरफ पवित्रता-हीपवित्रता देखता हूँ। मेरी उपस्थिति मनुष्यजातिको पवित्र करती है। मेरी दृष्टिसे, मेरे स्पर्शसे हजारों मनुष्य पवित्र हो जाते हैं।

उपर्युक्त भावनापर एक मासतक ध्यान जमाओ फिर क्रोधके लिये शान्तिकी भावनापर, लोभके लिये सन्तोषकी भावनापर, मोहके लिये अनासक्तिकी भावना, मदके लिये नम्रताकी भावना, और मत्सरके लिये प्रेमकी भावनापर ध्यान जमाओ। इस प्रकार छः मास अभ्यास करनेसे तुम अपनी प्रकृतिपर जय प्राप्त कर सकोगे और तुम्हारी भलाईका सच्चा रास्ता तुम्हें मालूम हो जायगा। धीरे-धीरे क्रम-क्रमसे आत्मनिरीक्षण करके अपने दोषोंको अन्तरतम भागसे ढूँढ़ करके बाहर निकाल दो, तब तुम अपनी वृत्तियोपर अधिकार कर सकोगे।

जब तुम्हारे हदयसे मित्र-शत्रुका भाव विदा हो चुका और सम्यक् ज्ञानका अंकुर तुम्हारे हदयमें उत्पन्न हो गया हो और अपने हृदयको सर्वप्रेमके स्त्रोतसे संयुक्त कर दिया हो तब मनसा, वाचा, कर्मणा प्रेमको व्यक्त करो।

मैं प्रेमके नेत्रोंसे देखेँ, प्रेमके कानोंसे सुनूँ प्रेमयुक्त सदा भाषण करूँ, प्रेमहीका मेरे हदयमें आवागमन रहे। जब इस प्रकार तुम्हारे शरीरसे, मनसे, आत्मासे प्रेमका स्रोत बह निकलता है वह अन्तर और बाहय दोषोंसे मुक्त हो जाता है। इस अभ्यासके अनन्तर विहंगममार्गका अभ्यास करो। श्वास-प्रश्वासके साथ जप करनेसे चित्त शीघ्र ही स्थिर होने लगता है और मन निर्विकार होकर प्रसन्न हो जाता है।

(१) प्राण ही मस्तिष्कमें क्रिया करता है और उसीसे मन होता है, प्राण मनपर क्रिया करता है और उसीसे विचार बनते हैं। जो साधक प्राणोंको साध सकता है वह सारे विश्वको अपने वशमें कर सकता है। प्राणकी बिखरी हुई शक्तिको आत्मामें एकाग्र करो। प्रत्येक श्वास जो नाभिसे उठता है और ललाटमें पहुँचता है उस समय हंसः सोऽहं इस मन्त्रका मानसिक उच्चारण करो।

सोऽहं मन्त्रका मानसिक जप करते हुए नाभिसे प्राणधाराको उठाकर ललाटमें ले जाओ और ललाटसे प्रश्वास करते समय हंसः मन्त्रका मानसिक जप करो। फिर नाभिपर पहुँचकर उसी प्रकार अभ्यास करो। श्वासकी गति नाभिसे लेकर ललाटतक सहजभावमें गमनागमन करे तो समझ लो कि प्राणकी यथार्थ गति प्रकट नहीं हुई है। कुछ दिनोंके अभ्याससे तुम्हें पता लगेगा कि किस प्रकार प्राणधारा नाभिसे उठकर नासिकाद्वारा बाह्यमन करती है और शुद्ध होकर शरीरमें प्रवेश करती है।

(२) हंसः सोऽहं-दूसरा अभ्यास--प्रथम अक्षर नाभिचक्रमें मानसिक उच्चारण कर श्वासको ऊपर हृदयमें ले जाकर दूसरे अक्षरका मानसिक उच्चारण करो, फिर वहाँसे कण्ठकूपमें ले जाकर तीसरेका उच्चारण करो और अन्तिम-चतुर्थका आज्ञाचक्र-दोनों भ्रुवोंके मध्यस्थानमें उच्चारण करो। अब प्रश्वास करते समय सो5हं हंसः इस क्रमसे श्वासको शनै:-शनै: आज्ञाचक्र, विशुद्धाख्य (कण्ठ), अनाहत (हृदय) और मणिपूरकचक्र (नाभि) में लाकर प्रश्वास करो।

इस अजपाजपका श्वासको लेते समय और छोड़ते समय उपर्युक्त क्रमसे अभ्यास करनेसे मन स्थिर और शान्त होगा। इन अभ्यासोंको करनेसे तुम दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक शुद्ध, अधिकाधिक पवित्र, शान्त, बुद्धिमान् और बलवान् बनते जाओगे । तुम्हारे चेहरेसे, नेत्रोंसे, शब्दोंसे पवित्रताका प्रवाह बहने लगेगा और तुम मनोविकारोंको दमन करनेमें पूर्णसमर्थ होओगे।

काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकारोंको दमन करनेके लिये ये अमोघ साधन हैं। तुम्हारे जीवनमें विलक्षण परिवर्तन हो जायगा। तुम्हारे हृदयमें दया और प्रेमका संचार होने लगेगा। और तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारा शरीर और तुम्हारा मन तुम्हारी आज्ञाका ठीक-ठीक पालन करेंगे। अभ्यास करो। शक्तिसंचय करो और स्वयं संत बननेका प्रयत्न करो।

एक संतद्वारा बताये हुए सुखके उपाय

(१) नित्य प्रातःकाल ईश्वर-स्मरण करनेमें क्या धन खर्च करना पड़ता है?

(२) हर एक प्रसंगमें विनयपूर्वक बर्ताव करनेमें क्या धन खर्च करनेकी आवश्यकता होती है?

(३) अपनेसे व्यवहार करनेवाले हर एक मनुष्यके साथ क्रोधरहित प्रेमसे बातें करनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(४) प्रतिकूल प्रसंगोंमें न घबराकर धैर्य रखनेमें क्या धनकी आवश्यकता होती है?

(५) अपने परिचयमें आनेवाले हरेक मनुष्यको विधिपूर्वक आदर देनेमें क्या रुपयोंकी जरूरत पड़ती है?

(६) अपनी स्त्रीकी ओर सम्मानकी दृष्टिसे देखनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(७) किसीके पुकारनेपर उत्तरमें 'जी' कहनेमें क्या धनकी जरूरत होती है?

(८) माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(९) हर समय व्यावहारिक कार्य करते हुए भी ईश्वर-स्मरण करनेमें क्या रुपयोंकी आवश्यकता पड़ती है?

(१०) हर एक प्रसंगमें सत्य बोलनेमें क्या धनकी आवश्यकता है?

(११) अपना चरित्र सुधारकर आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उपाय करनेमें क्या धनकी जरूरत होती है?

(१२) विचार-शक्तिकी नित्य वृद्धि करनेमें क्या धनकी जरूरत पड़ती है?

(१३) अमुक कामको मैं करके ही रहुँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय करनेमें क्या धनकी आवश्यकता होती है?

(१४) ज्ञानी पुरुषोंका संग करके उनके उत्तम गुणोंका अनुकरण करनेमें क्या धनकी जरूरत होती है?

(१५) नित्य खुली हवामें घूमकर अपनी आरोग्यता बढ़ानेका प्राकृतिक उपाय करनेमें क्या धन खर्च होता है ?

(१६) आत्मामें स्थित अखण्ड आनन्दका अनुभव करनेमें क्या धन चाहिये?

(१७) नित्य एकाध घंटा उत्तम पुस्तकें पढ़नेमें क्या पैसा खर्च करना पड़ता है?

(१८) हर समय, हर एक स्थितिमें सन्तोष मानकर सुख प्राप्त करनेमें क्या धनकी आवश्यकता होती है?

(१९) प्रारब्धको दोष न देकर प्रयत्नशील बननेमें क्या पैसे खर्च करने पड़ते हैं?

प्रिय पाठकगण! उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर यदि 'ना' में हो तो ' धन बिना सुख कहाँ" इस मिथ्यावादको छोड़कर अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये ऊपर बताये हुए प्राकृतिक उपायोंको काममें लानेका निश्चय कीजिये। सिर्फ धनसे ही सुख प्राप्त है ऐसा कभी न मानिये। अगर धनसे ही सुख मिल सकता होता तो ईश्वर सचमुच ही अन्यायी होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है।

मानव कल्याण

मनुष्य जीवन का अमोलक समय व्यर्थ बीता जा रहा है। मौतके मुँहमें बैठे हो, जब मौत दबोच डालेगी, फिर तुम कुछ भी नहीं कर सकोगे! जिस धन, मान, परिवार, विद्या, यश, प्रभुत्व आदिके भरोसे आज गर्वमें फूल रहे हो, उनमेंसे कोई भी उस समय तुम्हारी जरा भी मदद नहीं करेंगे, उन्हें हाथसे जाते देखकर तुम रोओगे, उनकी ओर निराश नेत्रोंसे तुम ताकते रह जाओगे!

पर हाय! निरुपाय हो जाओगे--न तुम उन्हें अपने किसी काममें बरत सकोगे न वे ही तुम्हारी सेवा- सहायता करेंगे! उस समय समझोगे, हमने बड़ी गलती की; बड़े सौभाग्यसे, बहुत अरसेके बाद भगवत्कृपासे मिले हुए मनुष्यशरीरको हमने बेकाम खो दिया! पछताओगे--रोओगे, परन्तु "अब पछिताये का बनै जब चिड़िया चुग गई खेत!"

इसलिये सावधान हो जाओ। अपने मनुष्यत्वको सम्हालो। तुम्हारा आदमीपन इसीमें है कि तुम भगवान्‌से प्रेम करना सीख लो। संतोंकी सीख मानकर उनकी आज्ञाका पालन करो। उनके बतलाये रास्तेपर चलकर उन-जैसे ही बननेका जतन करो।

याद रक्खो, यों करोगे तो तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा । तुमपर भगवत्कृपाकी वर्षा होगी। तुम्हारे सारे पाप-संताप जल जायंगे। तुम्हारा हृदय आनन्द और शान्तिके सुधासागरमें डूब जायगा। तुम्हें भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति होगी । तुम कृतार्थ हो जाओगे !

परन्तु याद रहे, केवल संतोंकी बाहरी नकलसे कुछ भी नहीं बनेगा। आजकल लोग या तो संतोंकी ओर कोई नजर ही नहीं डालते या उनके मन संत कोई चीज ही नहीं हैं। और जो कुछ लोग संतोंकी ओर आकर्षित होते हैं उनमें ज्यादातर ऐसे ही होते हैं जो संतोंके गुणोंपर, उनके भगवत्प्रेमपर, उनकी ऊँची आध्यात्मिक स्थितिपर नहीं रीझते, इन बातोंको वे प्रायः जानते ही नहीं, वे रीझते हैं संतके मान-सम्मानपर, उसकी पूजा-प्रतिष्ठापर, उसके चमत्कारोंपर, उसके बाहरी दिखावेपर, और स्वयं भी वैसा ही बननेकी चेष्टा करते हैं।

मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा और यशकी कीर्तिका मोह उन्हें आ घेरता है और मोहग्रस्त वे इनकी प्राप्तिके लिये अपनेमें चमत्कारोंको लानेकी चेष्टा करते हैं। योगका अभ्यास किये बिना योगविभूतियाँ मिलती नहीं, तब मिथ्या चमत्कारोंका स्वाँग रचते हैं, स्वयं डूबते हैं, संतके नाम और वेशपर कलंक लगाते हैं, और सेवकोंके मनोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करके उन्हें पुण्यपथसे विचलित करते हैं। योगविभूति तो मिले कैसे?

योगके आठ अंगोंमें पहले दो अंग हैं-यम और नियम। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यम हैं; और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान, नियम। ये दोनों योगरूपी महलकी नींव हैं। जैसे बिना नींवके महल नहीं खड़ा हो सकता वैसे ही बिना यम-नियमके योगसिद्धि नहीं हो सकती।

इसीसे आजकल योगी बहुत मिलते हैं परन्तु सच्चे योगसिद्ध पुरुष प्राय: नहीं मिलते। इसलिये मानसम्मान आदि पानेके उद्देश्यसे संतकी झूठी नकल मत करो। सच्ची नकल करो, उसके आचरणोंका अनुसरण करो, संत बननेके लिये। संत कहलानेके लिये नहीं।

संतोंकी लीला बड़ी विचित्र है, उनकी महिमा कौन गा सकता है। जो परमतत्त्व अनादि है, एक है, सर्वव्यापी है, सर्वाधार, सर्वनियन्ता और सर्वमय है, जिसके अस्तित्वसे सबका अस्तित्व है, जिसके स्वत:सिद्ध प्रमाणसे सबका प्रमाण है, जिसकी चेतनासे सबमें चेतनत्व है, जिसका आनन्द ही सबमें लहरा रहा है।

जो इस अस्तित्व, प्रमाण, चेतना, आनन्द आदिसे पृथक् नहीं है, परन्तु जो स्वयं सत् है, प्रमाणस्वरूप चेतन और आनन्दरूप है। जिसकी ऐसी व्याख्या भी उसके एक ही अंगका वर्णन करती है, जो वर्णनातीत है, कल्पनातीत है, उस परम सत्में जिसकी नित्य अचल अभेद प्रतिष्ठा है वही सत् है और ऐसा सत् ही संत है।

सत्यस्वरूप संत ब्रहम हैं, ब्रहमस्थित हैं, ब्रहमज्ञानी हैं, ब्रहमपरायग हैं, ब्रहममय हैं। संत परमात्माके आश्रय हैं, परमात्मा हैं, परमात्माके स्वरूप हैं, परमात्माके प्यारे हैं, परमात्माके पुत्र हैं, परमात्माके शिष्य हैं और परमात्माके आश्रित हैं। संत भगवान्की दिव्य नित्यलीलामें सहायक हैं, नित्यलीलाके नट हैं, लीलाके साधन हैं, लीलाके यन्त्र हैं, लीला हैं और लीलामयके हृदय हैं। वे सब कुछ हैं। अन्तर्जगत्, कारण-जगत् सबमें उनका प्रवेश है, और वे कारणजगत्के भी परे हैं। यह याद रहे, यह संतकी बात है, संत नामधारीकी नहीं ।

संत वही है, ऐसा है। ऐसे संतको पानेकी इच्छा करो। भगवान्से । करो। भगवान्की दयासे ही ऐसे संत मिलते हैं। से अर मिलन संतोंकी दृष्टिमें भगवान्के मिलनसे भी हक है!

ऐसे संतकी प्राप्तिसे तुम्हारे हृदयमें कल्याणका सागर उमड़ उठेगा। तुम उसमें अवगाहन कर, अनन्त आनन्दमें घुल-मिलकर आनन्द बन जाओगे। आनन्द फिर आनन्दसागर होगा--तुम्हारा हदय आनन्द और कल्याणका सागर बन जायगा। उसमें जो कोई डुबकी लगायगा, जो कोई उसमेंसे एक चुल्लू भी पी पायगा वही आनन्द और कल्याणरूप हो जायगा।

सच्चे संतोंके चरणोंमें नमस्कार करो, उनका ध्यान करो, उनकी वाणीको बेदवाक्यसे बढ़कर समझो, उनके चरणरजको अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझो, उनकी आज्ञाका प्राणपणसे पालन करो, उनकी इच्छाका अनुसरण करो, उनके इशारेपर उठो-बैठो। देखो, तुम्हारा कितना जल्दी मंगल होता है।

कदाचित् मनसे ही नकली संत बन रहे हो तो इस धोखेकी टट्टीको दूर फेंक दो। इसमें तुम्हारा और जगतका दोनोंका मंगल होगा। याद रक्खो-परमात्माको धोखा देनेकी चेष्टा करनेवाला जितना धोखा खाता है उतना धोखा प्रत्यक्ष पापीको नहीं खाना पड़ता।

ऐसे संत संसारमें थोड़े हैं, पर वे थोड़े भी बहुत हैं। उनका अस्तित्व ही जगत्में मंगल और कल्याण बनाये हुए है। पाखण्डियोंका उन संतोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। न पाखण्डी उनमें मिल ही सकते हैं। न पहचाननेवाले लोग काँचको हीरा भले ही समझ लें परन्तु पहचाननेवालोंसे काँच-हीरेका भेद छिपा नहीं रहता।

इतना होनेपर भी संतकी पहचान भगवत्कृपाप्राप्त संत ही कर सकते हैं। इतर लोग तो दम्भियोंके फंदेमें फँस ही जाते हैं। परन्तु जो सचमुच संतोंके आश्रयमें रहना चाहते हैं, उनको छिपे संत पथभ्रष्ट होनेसे बचाते भी हैं। सच्चेकी रक्षा भगवान् भी करते हैं। इसलिये संतदर्शनके सच्चे अभिलाषी बनो!

भागवत संतोंके लक्षण

संत और भागवत एक ही हैं। भगवान्‌ने स्वयं भागवतोंके लक्षण बतलाये हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं- जो सब प्राणियोंका हित करते हैं, जिनके मनमें डाह और द्वेष नहीं है, जो जितेन्द्रिय, निष्काम और शान्त हैं। जो मन, वाणी, शरीरसे किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाते। जो प्रतिग्रह नहीं लेते।

भगवान्‌के गुण सुननेके प्रेमी हैं, गंगा और विश्वनाथ मानकर माता-पिताकी सेवा करते हैं, परनिन्दा नहीं करते। जो सबके हितकी बात ही कहते हैं, गुण ग्रहण करते हैं, सब प्राणियोंमें आत्मबुद्धि रखते हैं, शत्रु-मित्रमें समदर्शी हैं, सत्यवादी हैं तथा संतोंकी सेवा करनेवाले हैं, गो-ब्राह्मणकी सेवा करते हैं, तीर्थोंको मानते हैं, दूसरेकी उन्नति देखकर प्रसन्न होते हैं। वृक्षादि लगाते हैं, कुआँ-तालाब बनाते हैं, मन्दिर बनाते हैं, गायत्री जपते हैं, पुराणादिको श्रद्धापूर्वक सुनते-पढ़ते हैं।

हरिनाम सुनते ही जिनको बड़ा आनन्द होता है। शरीर पुलकित होता है। तुलसीजीमें भक्ति है, जो अतिथिकी सेवा करते हैं। भगवान् शिवमें प्रीति, भवित रखते हैं। शिवका पूजन करते हैं। रुद्राक्ष और त्रिपुण्ड धारण करते हैं, हरिनाम और शिवनाम कीर्तन करते हैं। देवादिदेव शिव और परमात्मा विष्णुमें अभिन्न भाव रखते हैं। शिवपंचाक्षर जपते हैं, एकादशीव्रत करते हैं। गोदान करते हैं और सब कर्म केवल मेरे ही (भगवान्‌के लिये ही) करते ' हैं। ये सब लक्षण जिनमें हैं वे भागवतों में उत्तम हैं।

संत-महिमा

विकराल महामोह सन्तप्त प्राणी अनेक ोनियोंमें भ्रमण करता हुआ भाग्यवशात् जब नरदेहको प्राप्त होता है तब इसका आवश्यक ध्येय और चरम

संतका स्वरूप

जो भगवान्‌का स्वरूप है वही संतका स्वरूप है। संतका कोई लक्षण नहीं बतलाया जा सकता। जिसमें सब है, जो सब है, जो सबसे अलग है और जिसमें सबका अत्यन्ताभाव है वही संत है। उसे ब्रह्म कहो, ईश्वर कहो, जगत् कहो अथवा संत कहो, एक ही बात है।

व्यवहारमें जिसे संत कहते हैं वह केवल उसका प्रतीक है। जिस प्रकार प्रतिमामें भगवद्भाव किया जाता है उसी प्रकार गुरु और महात्माओंमें भी संतत्वकी भावना की जाती है, किन्तु उपासककी यह भावना परमार्थत: उसका स्वरूप है; व्यवहारमें उसमें सच्चिदानन्दकी भावना की जाती है और परमार्थत: वही उसका स्वरूप है। संतत्वकी प्राप्तिका प्रधान साधन संतोंकी उपासना है। संतकी उपासना भगवानकी उपासना है।

संतमें गुण-दोष देखना उसका अपमान करना है। किसी भी प्रकारके आचरणोंसे संतकी पहचान नहीं हो सकती। संतके सम्प्रदाय या बाह्य वेषपर दृष्टि नहीं देनी चाहिये, उसके हृदयको देखना चाहिये। संतोंकी परीक्षा करना बड़े दुःसाहसका काम है। किन्हीं-किन्हीं महात्माओंका बाह्य व्यवहार बहुत घृणित और उपेक्षणीय देखा है; परन्तु उनके भीतर जो दिव्य तपोबल रहता है उससे सैकड़ों-हजारों पुरुष अकारण ही उनकी ओर आकर्षित होते रहते हैं। उनकी परीक्षा कोई कैसे कर सकता हैं ? संतोंके आचरणके विषयमें यह प्रसिद्ध है।

किसी विशेष सम्प्रदायमें ही संत होते हों--ऐसी बात नहीं है। ईसा और मुहम्मद साहब क्या संत नहीं हैं? हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और यहूदी आदि सभी मतोंमें सच्चे संत देखे जाते हैं। हमें उनके सम्प्रदायपर दृष्टि न देकर उनके दिव्य गुणोंका अनुकरण करना चाहिये।

इसी प्रकार किसी विशेष देश या विशेष कालसे भी संतोंका संकोच नहीं किया जा सकता। सभी देशोंमें सभी समय कोई-न-कोई सच्चे संत विद्यमान रहते ही हैं। संत ही समाजके जीवन हैं, कोई भी संतजनशून्य समाज जीवित नहीं रह सकता। व्यवहारकी दृष्टिसे संतोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है। आचार्यकोटि और अवधूतकोटि।

अवधूतकोटिके संतोंके आचरण और उपदेश सर्वदा सबके लिये अनुकरणीय नहीं होते। कोई विरले पुरुष ही उन्हें पहचान पाते हैं। परन्तु उनका बाह्य आचरण आदर्श न होनेपर भी होते वे संत ही हैं। उनसे किसी प्रकारका द्वेष नहीं करना चाहिये।

हाँ, संतत्वप्राप्तिके लिये अनुकरण आचार्यकोटिके संतोंका ही करना चाहिये। उनके आचरणके विषयमें ऐसा कहा गया है- अर्थात् जिनमें निरपेक्षता, भगवत्परायणता, शान्ति, समदृष्टि, निर्ममत्व, अहंकारशून्यता, द्वन्द्रहीनता और निष्परिग्रह आदि गुण रहते हैं वे संत हैं। जबतक ये गुण

प्राप्त न हों तबतक अपनेको संत नहीं समझना चाहिये। किन्तु इन गुणोंका संतको स्वयं ही अनुभव हो सकता है, कोई अन्य व्यक्ति किसी प्रकारकी परीक्षा करके इनका पता नहीं लगा सकता। अतः सबको इन गुणोंके उपार्जनका यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान् कपिलदेवने माता देवहुतिजीसे कहा है-- जो सहनशील, दयालु, सबके सुहृद, शत्रुहीन और शान्त हैं तथा सुशीलत्व ही जिनका भूषण है, वे ही सत्पुरुष हैं। और जो मुझमें अनन्यभावसे अटल भक्ति करते हैं, मेरे लिये कर्मोंका एवं अपने बन्धु-बान्धवोंका त्याग कर देते हैं और जो मेरी निर्मल कथाओंको सुनते हैं तथा कहते हैं, वे मुझमें चित्त लगानेसे मंगलचित्त हुए पुरुष नाना प्रकारके तापो (के दुःखों)-को नहीं प्राप्त होते। हे पतिव्रते मातः ! वे ये सम्पूर्ण संगोंसे रहित, पूर्वोक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न जो संत हैं उन्हींका संग तुझे करना चाहिये; क्योंकि वे ही आसक्तिरूप दोषको हरनेवाले हैं।

भगवद्भक्ति न हो और कर्म, तप, योग आदि साधन हों, तथा वेदान्तवाक्योंकी धारा बहती हो वहाँ ये लक्षण नहीं देखनेमें आते। जिसके संगसे भगवान्पर भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा इन तीनमेंसे एक भी न हो उसे संत नहीं कह सकते। जिसमें उपर्युक्त संतोंके गुण पूरे नहीं होते उसमें भगवद्भक्तिके परिणामस्वरूप भगवत्कृपासे पूर्ण हो सकते हैं ' कषिप्रं भबति धर्मात्मा' यह भगवद्वाक्य प्रमाण है।

कुछ लोग चमत्कारके द्वारा महात्माओंके महात्मापनका निर्णय किया करते हैं। यह उनकी भूल है। प्रहलादसुधन्वा-जैसे भक्तोके लिये भगवानूने स्वयं जो कुछ किया वह तो उनकी भक्तपर रहनेवाली अचल कृपाका चमत्कार है, और वह भक्तके लिये गौरवजनक है, उसको गिरानेवाला नहीं है । परन्तु योगादिके द्वारा प्राप्त सिद्धियोंका संग करनेवाले, योगीको--जो निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिके लिये प्रयलशील है--तो सिद्धियाँ नीचे गिरा ही देती हैं।

अतएव योगी अथवा भक्त न तो कभी सिद्धियोंके फेरमें पड़ते हैं और न सिद्धियोंका अभिमान ही करते हैं। अवश्य ही अवस्थाविशेषमें सिद्धियाँ आती हैं, परन्तु बुद्धिमान् पुरुषको सदा यही मानना चाहिये कि मुझमें कोई सिद्धि है ही नहां। जिनका उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति नहीं है और जो विषयोंके ही चक्करमें पड़े हैं, वे भले ही सिद्धियोंका प्रदर्शन किया करें परन्तु

यहाँ तो उन भगवत्प्राप्त अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये पूर्णतया प्रयत्नशील संत-महात्माओंके सम्बन्धमें विचार करना है। अतएव यह कहा जा सकता है कि चमत्कारसे किसी महात्माकी पहचान नहीं हो सकती।

मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके साथ इन चमत्कारोंका जरा भी सम्बन्ध नहीं है । मोक्ष पूर्णतया नि:संगता है और भगवत्प्राप्ति भगवान्‌के साथ एकतानता है। निःसंगको जब किसीसे सम्बन्ध ही नहीं होता, तब दुःख दूर करनेके लिये उसे सिद्धिकी क्या आवश्यकता होगी? और भगवद्भक्त तो भक्तिके आनन्दमें इतना सराबोर रहता है कि उसका ध्यान और कहीं जाता ही नहीं इस वाक्यके अनुसार जो नारायणपरायण निःसंग भक्त है, वह न नरकसे डरता है, न स्वर्गकी इच्छा करता है और न मोक्ष ही चाहता है।

तब फिर उसे अन्य किसी सिद्धिकी तो आवश्यकता ही क्यों होने लगी? भगवान् स्वयं कृपा करें और दुनियाको अपना चमत्कार दिखलावें-यह दूसरी बात है। पर भक्तकी तो इस विषयमें जरा भी इच्छा नहीं होती और जिसकी होती है वह पूरा भक्त नहीं है।

बर्तमान समयमें भगवान्‌के बतलाये हुए लक्षणों से पूर्ण सत्पुरुष संतका मिलना बहुत दुर्लभ है, परन्तु ऐसे संतोंका भारतमें कभी अभाव भी नहीं होता । मुमुक्ष इस बातपर पूरा ध्यान रखना चाहिये कि संतमें काम, क्रोध और लोभका तो अभाव ही होता है क्योंकि इन तीनोंको भगवानूने स्वयं नरकका द्वार बतलाया हे (गीता १६।२०)। अतएव इन नरकके दरवाजोंमें फँसे हुए पुरुष के संघ से मोक्षद्वारतक पहुँचनेकी आशा तो नहीं की जा सकती, चाहे वह दूसरी कोई भी चमत्कारी शक्ति रखता हो, पर उसकी वह शक्ति मुमुक्षुके लिये किसी कामकी नहीं है। जिसको चमत्कारसे ही लाभ उठाना हो और जिसमें मुमुक्षुता न हो वह चाहे उसका संग करे, पर याद रखना चाहिये कि यह संग वास्तविक सत्संग नहीं है।

परन्तु इतना जरूर याद रखना चाहिये कि संतमें काम, क्रोध और लोभ--इन तीन विकारोंका अभाव तो अत्यन्त आवश्यक है। ये तीनों दोष उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं। दूसरी बातोंमें तो युगानुसार उपेक्षा भी की जा सकती है।परमात्मा वर्तमानकालके साधुओंको दोषमुक्त करें। खास करके इन तीन दोषोंको तो उनमें आने ही न दें-यही उन कृपालु भगवानूके प्रति प्रार्थना है।

संतोंकी उलटी चाल

'संतोंकी उलटी चाल' का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि संतोंका मनमाना आचरण होता है, वे बुरा कर्म करते भी नहीं डरते। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। संतोंकी उलटी चालका यह अर्थ है कि वे विषयी लोगोंके मार्गसे उलटे मार्गपर चलते हैं । विषयी पुरुष मान चाहते हैं, वे मानका त्याग करते हैं। विषयी लोग धनसे लिपटे रहते हैं, बे धनको तुच्छ समझते हैं । विषयी लोग सांसारिक उन्नतिको और शरीरके आरामको ही आराम मानते हैं, वे परमार्थके सामने सांसारिक उन्नतिको तुच्छ समझते हैं और दूसरेके आरामके लिये शरीरके आरामकी बलि चढ़ा देते हैं।

बात यह है कि विषयी पुरुष संसारमें फँसा रहना चाहता है और वे उससे मुक्त होना। इससे उनकी उलटी चाल तो होगी ही। परन्तु यह बात साधक संतोंकी है। सिद्ध संत तो सर्वथा उलटे हुए हैं। वे तो जहाँसे आये थे, उलटे जाकर वहीं पहुँच गये हैं। इससे उनकी बात यदि उलटी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। परन्तु वह उलटी भी सब संतोंकी नहीं होती। लोकसंग्रही संत तो यह उलटापन बाहर प्रायः आने ही नहीं देते। हाँ, बाह्याचारकी परवा न करनेवाले-अवधूतोंकी बात दूसरी है।

संत-महिमा

विकराल महामोह सन्तप्त प्राणी अने योनियोंमें भ्रमण करता हुआ भाग्यवशात् जब नरदेहको प्राप्त होता है तब इसका आवश्यक ध्येय और चरम लक्ष्य भोगविलास न होकर केवल भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये। भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन 'सत्संग' है।'सत्संग' भी तभी सम्भव है जब 'सत्' 'संत' मिलें।

“संत सदा धर्मका पालन करते हैं, संत घबराते नहीं तथा दुखी भी नहीं होते, संतोंका संतोंके साथ संग कभी व्यर्थ नहीं होता, संतोंसे संतोंको भय नहीं होता।'

“जहाँ संतोंका समागम होता है वहाँ मेरे (भगवान्के) चरित्रकी हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं, जिनको सुननेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा और प्रीति तथा भगवान्के भक्तिकी वृद्धि होती है।'

“जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये दृढ़ नौकाके समान भयानक संसारसमुद्रमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त संतजन ही परम अवलम्ब (सहारा) हैं।

“मायाको कौन तरता* है? जो कुसंगका त्याग करता है और महानुभावों (संतों) का संग करता है, माया, मोह, आसक्तिका त्याग करता है।

सब भूतोंमें निःस्वार्थ प्रेम होनेसे विश्वास उत्पन्न होता है, संतोंका सबसे निःस्वार्थ प्रेम होता है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य संतोंपर विशेष विश्वास करते हैं। जो परम गोप्य हृदयका भाव जल्दी किसी प्रेमीपर भी प्रकट नहीं किया जाता वह संतोंके सामने प्रकाशित कर दिया जाता है। वैद्यके समक्ष अपना रोग प्रकाशित करनेसे उसके समूल उन्मूलन करनेकी ओषधि भी मिल सकती है।

राग आदिका त्याग ही मोक्षका साधन है। त्यागवृत्तिके कारण ही महात्माओंका विशिष्ट स्थान माना गया है। कल्याणप्रेमी सज्जनोंको संतोंके संगसे शीघ्र ही लाभ लेनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जीवन अनित्य है इसलिये जवानी (जब समझे तभी) से धर्म करना शुरू कर देना चाहिये। कौन जानता है आज किसकी मृत्यु होगी, कल करूँगा फिर करूँगा ऐसे कहनेवालेका ही आज मरनेका नम्बर आ जाय, अतः *शुभस्य शीघ्रम् यह स्मरण रखना चाहिये। तुम्हारी आयुरूपी पूँजी भी तो बहुत थोड़ी है।

जो बहुत जीता है वह सौ वर्ष जीता है। अतः इस क्षणभंगुर जीवनको “संतों” के संगसे शीघ्र ही सफल बना लेना चाहिये।

बाबा रामदासजी महाराजके उपदेश

(१) सेवा सभी संतोंकी करनी चाहिये। सत्संग सभी संतोंका करना चाहिये। केवल एक ही संतका नहीं । परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज भक्तिमती शबरीके प्रति कहते हैंप्रथम भगति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

यहाँपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराज ' संतन” कहते हैं, एक संत नहीं। न जाने कौन-से संतके उपदेशसे अपना कल्याण हो जाय!

जब हम अपना घोड़ा किसीको बेंच देते हैं तो फिर उस घोड़ेके लिये घास-दानेकी फिक्र हम नहीं करते। उसका मालिक आप ही उसे घासदाना खिलावेगा। इसी प्रकार हमने जब अपना शरीर श्रीभगवान्के अर्पण कर दिया तो फिर हमें इसकी फिक्र क्यों करनी चाहिये ?

परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजके | कहते हैं- दास कभी बिगड़ते नहीं हैं। जिसने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी शरण ले लौ वह भला कैसे बिगड़ सकता है?

भारत के संत - महात्माओं का जीवन चरित्र

शिवभक्त उपमन्यु

भक्तराज उपमन्यु परम शिवभक्त, वेदतत्त्वके ज्ञाता महर्षि व्याघ्रपादके बड़े पुत्र थे। एक दिन उपमन्युने मातासे दूध माँगा। घरमें दूध था नहाँ। माताने चावलोंका आटा जलमें घोलकर उपमन्युको दे दिया। उपमन्यु मामाके घर दूध पी चुके थे। अतएव उन्होंने यह जानकर कि यह दूध नहीं है, मातासे कहा--'माँ! यह तो दूध नहीं है।' ऋषिपत्नी झूठ बोलना नहीं जानती थीं;

उन्होंने कहा-बेटा! तू सत्य कहता है, यह दूध नहीं है। नदी-किनारे वनों और पहाड़ोंकी गुफाओंमें जीवन बितानेवाले हम तपस्वी मनुष्योके यहाँ दूध कहाँसे मिल सकता है। हमारे तो सर्वस्व श्रीशिवजी महाराज हैं। तू यदि दूध चाहता है तो उन जगन्नाथ श्रीशिवजीको प्रसन्न कर! वे प्रसन्न होकर तुझे दूध-भात देंगे।

माताकी बात सुनकर बालक उपमन्युने पूछामाँ! भगवान् श्रीशिवजी कौन हैं ? कहाँ रहते हैं? उनका कैसा रूप है, मुझे वे किस प्रकार मिलेंगे? और उन्हें प्रसन्न करनेका उपाय क्या है?

बालकके सरल वचनोंको सुनकर स्नेहवश माताकी आँखोंमें आँसू भर आये। माताने उसे शिवतत्त्व बतलाया और कहा--' तू उनका भक्त बन, उनमें मन लगा, उनमें   विशवास रख, एकमात्र उनकी शरण हो जा, उन्हींका भजन कर, उन्हांको नमस्कार कर। ऐसा करनेसे वे कल्याणस्वरूप तेरा निश्चय ही कल्याण करेंगे। उनको प्रसन्न करनेका महामन्त्र "नमः शिवाय' है।'

मातासे उपदेश पाकर बालक उपमन्यु शिवको प्राप्त करनेका दृढ़ संकल्प करके घरसे निकल पड़े। बनमें जाकर प्रतिदिन “नमः शिवाय' मन्त्रके द्वारा वनके पत्र-पुष्पासे भगवान् शिवजीकी पूजा करते, और शेष समय मन्त्र-जप

करते हुए कठोर तप करने लगे। वनमें अकेले रहनेवाले तपस्वी उपमन्युको पिशाचोंने बहुत कुछ सताया; परन्तु उपमन्युके मनमें न तो भय हुआ, और न विघ्न करनेवालोंके प्रति क्रोध ही। वे उच्च स्वरसे "नमः शिवाय' मन्त्रका कीर्तन करने लगे। इस पवित्र मन्त्रके सुननेसे मरीचिके शापसे पिशाचयोनिको प्राप्त हुए, उपमन्युके तपमें विन्न करनेवाले वे मुनि पिशाचयोनिसे छूटकर पुनः मुनिदेहको प्राप्त होकर कृतज्ञताके साथ उपमन्युकी सेवा करने लगे।

तदनन्तर देवताओंके द्वारा उपमन्युकी उग्र तपस्याका हाल सुनकर सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भोलेनाथ श्रीशंकरजी भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये उनके अनन्यभावकी परीक्षा करनेकी इच्छासे इन्द्रका रूप धारणकर श्वेतवर्ण ऐरावतपर सवार होकर उपमन्युके समीप जा पहुँचे। मुनिकुमार भक्तश्रेष्ठ उपमन्युने इन्द्ररूपी भगवान् महादेवको देखकर धरतीपर सिर टेककर प्रणाम किया और कहा कि "हे देवराज! आपने कृपा करके स्वयं मेरे समीप पधारकर मुझपर बड़ी कृपा की है। बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इन्द्ररूपी परमात्मा शंकरने प्रसन्न होकर कहा--' हे सुव्रत! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ, तुम मुझसे मनमाना वर माँगो; तुम जो कुछ माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।'

इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्युने कहा--'देवराज! आपकी बड़ी कृपा है, परन्तु मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझे न तो स्वर्ग चाहिये, न स्वर्गका ऐश्वर्य ही। मैं तो भगवान् शंकरका दासानुदास बनना चाहता हूँ जबतक वे प्रसन्न होकर मुझे दर्शन नहीं देंगे, तबतक मैं तपको नहीं छोड़ुँगा। त्रिभुवनसार, सबके आदिपुरुष, अद्वितीय, अविनाशी भगवान् शिवको प्रसन्न किये बिना किसीको स्थिर शान्ति नहीं मिल सकती। मेरे दोषोंके कारण मुझे इस जन्ममें भगवान्के दर्शन न हों और यदि मेरा फिर जन्म हो तो उसमें भी भगवान् शिवपर ही मेरी अक्षय और अनन्य भक्ति बनी रहे।'

इन्द्रसे इस प्रकार कहकर उपमन्यु फिर अपनी तपस्यामें लग गये। तब इन्द्ररूपधारी शंकरने उपमन्युके सामने अपने गुणोंद्वारा अपनी ही निन्दा करना आरम्भ किया। मुनिको शिवनिन्दा सुनकर बड़ा ही दुःख हुआ; कभी क्रोध न करनेवाले मुनिके मनमें भी इष्टकी निन्दा सुनकर क्रोधका संचार हो आया और उन्होंने इन्द्रको वध करनेकी इच्छासे अघोरास्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर इन्द्रपर फेंकी, और शिवनिन्दा सुननेके प्रायश्चितस्वरूप अपने शरीरको भस्म करनेके लिये आग्नेयी धारणा करने लगे। ॥

उनकी यह स्थिति देखकर भगवान् शंकर परम प्रसन्न हो गये। भगवान्के आदेशसे आग्नेयी निवारण हो गया और नन्दीने अघोरास्त्रका निवारण कर दिया। इतनेहीमें उपमन्युने चकित होकर देखा कि ऐरावत हाथीने चन्द्रमाके समान सफेद कान्तिवाले बैलका रूप धारण कर लिया। और इन्द्रकी जगह भगवान् शिव अपने दिव्य रूपमें जगज्जननी उमाके साथ उसपर विराजमान हैं। वे करोड़ों सूर्योके समान तेजसे आच्छादि और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान सुशीतल सुधामयी किरणधाराओंसे घिरे हुए हैं। उनके शीतल तेजसे सब दिशाएँ प्रकाशित और प्रफुल्लित हो गयीं। वे अनेक प्रकारके सुन्दर आभूषण पहने थे। उनके उज्ज्वल सफेद वस्त्र थे। सफेद फूलोंकी सुन्दर माला उनके गलेमें थी। श्वेत मस्तकपर चन्दन लगा था। श्वेत ही ध्वजा थी, श्वेत ही यज्ञोपवीत था। धवल चन्द्रयुक्त मुकुट था। सुन्दर दिव्य शरीरपर सुवर्णकमलोंसे गुँथी हुई और रत्नोंसे जड़ी हुई माला सुशोभित हो रही थी। माता उमाकी शोभा भी अवर्णनीय थी। ऐसे देवमुनिवन्दित भगवान् शंकरके माता उमाके सहित दर्शन प्राप्तकर उपमन्युके हर्षका पार नहीं रहा। उपमन्यु गद्गद कण्ठसे प्रार्थना करने लगे।

भक्तकी निष्कपट और सरल प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने कहा--बेटा उपमन्यु! मैं तुझपर परम प्रसन्न हूँ। मैंने भलीभाँति परीक्षा करके देख लिया कि तू मेरा अनन्य और दृढ़ भक्त है। बता, तू क्या चाहता है? यह याद रख कि तेरे लिये मुझको कुछ भी अदेय नहीं है।'

भगवान् शंकरके स्नेहभरे वचनोंको सुनकर उपमन्युके आनन्दकी सीमा न रही। उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगी। वह गद्गद स्वरसे बोले-"हे नाथ! आज मुझे क्या मिलना बाकी रहा गया? मेरा यह जन्म सदाके लिये सफल हो गया। देवता भी जिनको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, वे देवदेव आज कृपा करके मेरे सामने विराजमान हैं, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये ? इसपर भी आप यदि देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल और अनन्य भक्ति सदा बनी रहे।'

भगवान् चन्द्रशेखरने उपमन्युका मस्तक सूँघकर उन्हें देवीके हाथोंमें सौंप दिया। देवीजीने भी अत्यन्त स्नेहसे उनके मस्तकपर हाथ रखकर उन्हें अविनाशी कुमारपद प्रदान किया। तदनन्तर भगवान् शिवजीने कहा--हे बेटा! तू आज अजर, अमर, तेजस्वी, यशस्वी और दिव्य ज्ञानयुक्त हो गया। तेरे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश हो गया। तू मेरा अनन्य भक्त है। वह दूध-भातकी खीर ले।' यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये! इन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्णको शिवमन्त्रकी दीक्षा दी।

आरुणि या उद्दालक

जीवनमें किसीपर श्रद्धा हो, किसीपर भी पूर्ण

विश्वास हो तो बस बेड़ा पार ही समझो। किसीके वचनको माननेकी इच्छा हो, आज्ञापालनकी दृढता हो तो उसके लिये जीवनमें कौन-सा काम दुर्लभ है। सबसे अधिक श्रद्धे, सबसे अधिक विश्वसनीय, सबसे अधिक प्रेमास्पद श्रीगुरु भगवान् ही हैं, जो निरन्तर शिष्यका अज्ञान दूर करनेके लिये मनसे चेष्टा करते रहते हैं। गुरुके बराबर दयालु, उनके बराबर हितैषी जगत्में कौन होगा। जिन्होंने भी कुछ प्राप्त किया है गुरुकृपासे ही प्राप्त किया है।

प्राचीन कालमें आजकी भाँति विद्यालय, हाईस्कूल और पाठशालाएँ तथा कालेज नहीं थे। विद्वान् तपस्वी गुरु जंगलोंमें रहते थे, वहीं शिष्य पहुँच जाते थे। वहाँ भी कोई नियमसे कापी-पुस्तक लेकर चार-छः घण्टे पढाई नहीं होती थी। गुरु अपने शिष्योंको काम सौंप देते थे, स्वयं भी काम करते थे। काम करते-करते बातों-ही-बातोंमें वे अनेक प्रकारकी शिक्षा दे देते थे। और किसीपर गुरुकी परम कृपा हो गयी तो उसे स्वयं ही सब विद्याएँ आ जाती थीं।

ऐसे ही एक आयोद धौम्य नामके ऋषि थे। उनके यहाँ आरुणि, उपमन्यु और वेद नामके तीन विद्यार्थी पढ़ते थे। धौम्य ऋषि बड़े परिश्रमी थे, वे विद्यार्थियोंसे खूब काम लेते थे। किन्तु उनके विद्यार्थी भी इतने गुरुभक्त थे कि गुरुजी जो भी आज्ञा देते उसका पालन वे बड़ी तत्परताके साथ करते। कभी उनकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करते। हमारा खयाल है कि उनके कड़े शासनके ही कारण अधिक विद्यार्थी उनके यहाँ नहीं आये। जो आये वे तपानेपर खरा सोना बनकर ही गये। तीनों ही विद्यार्थी आदर्श गुरुभक्त छात्र निकले।

एक दिन खूब वर्षा हो रही थी, गुरुजीने पांचालदेशके आरुणिसे कहा-- बेटा आरुणि! तुम अभी चले जाओ और वर्षामें ही खेतकी मेड़ बाँध आओ, जिससे वर्षाका पानी खेतके बाहर न निकलने पावे   गुरुकी आज्ञा पाकर आरुणि खेतपर गया। मूसलाधार पानी पड़ रहा था। खेतमें खूब पानी भरा था, एक जगह बड़ी ऊँची मेड़ थी। वह मेड़ पानीके वेगसे बहुत कट गयी थी। पानी

उसमेंसे बड़ी तेजीके साथ निकल रहा था। आरुणिने फावड़ीसे इधर-उधरकी बहुत-सी मिट्टी लेकर उस कटी हुई मेड़पर रखी। जबतक वह मिट्टी रखता और दूसरी मिट्टी रखनेके लिये लाता तबतक पहली मिट्टी बह जाती।

उसने जी तोड़कर परिश्रम किया, किन्तु जलका वेग इतना तीव्र था कि वह पानीको रोक न सका। तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा-गुरुकी आज्ञा है कि पानी खेतसे निकलने न पावे और पानी निरन्तर निकल रहा है। अतः उसे एक बात सूझी। फावड़ेको रखकर वह कटी हुई मेड़की जगह स्वयं लेट गया। उसके लेटनेसे पानी रुक गया। थोड़ी देरमें वर्षा भी बन्द हो गयी। किन्तु खेतमें पानी भरा हुआ था। वह यदि उठता है तो सब पानी निकल जाता है, अतः वह वहीं चुपचाप पानी रोके पड़ा रहा। वहाँ पड़े-पड़े उसे रात्रि हो गयी।

अन्तःकरणसे सदा भलाईमें निरत रहनेवाले गुरुने शामको अपने सब शिष्योंको बुलाया, उनमें आरुणि नहीं था। गुरुजीने सबसे पूछा-*आरुणि कहाँ गया ?' शिष्योंने कहा-*भगवन्! आपने ही तो उसे प्रातः खेतकी मेड़ बनाने भेजा था।' गुरुने सोचा-' ओहो! प्रातःकालसे अभीतक नहीं आया? चलो चलें, उसका पता लगावें।' यह कहकर वे शिष्योंके साथ प्रकाश लेकर आरुणिकी खोजमें चले। उन्होंने इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, किन्तु आरुणि कहीं दीखा ही नहीं। तब गुरुजीने जोरोंसे आवाज दी--'बेटा आरुणि! तुम कहां हो? हम तुम्हारी खोज कर रहे हैं।'

दूरसे आरुणिने पड़े-ही-पड़े आवाज दी-'गुरुजी! मैं यहाँ मेड बना हुआ पड़ा हूँ।' आवाजके सहारे-सहारे गुरुजी वहाँ पहुँचे। उन्होंने जाकर देखा कि आरुणि सचमुच मेड बना हुआ पड़ा है और पानीको रोके हुए है। गुरुजीने कहा--' बेटा! अब तुम निकल आओ ।' गुरुजीकी आज्ञा पाकर आरुणि मेड़को काटकर निकल आया, गुरुजीका हृदय भर आया। उन्होंने अपने प्यारे शिष्यको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमसे उसका माथा सूँघा और आशीर्वाद दिया-- बेटा! मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ तुम्हें बिना पढ़े ही सब विद्या आ जायगी, तुम जगतमें यशस्वी और भगवद्भक्त होगे। आजसे तुम्हारा नाम उद्दालक हुआ।' वे ही आरुणि मुनि उद्दालकके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिनका संवाद उपनिषदोंमें आता है।

अष्टावक्र

भगवान् अष्टावक्रके सम्बन्धमें पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि जब ये गर्भमें ही थे तभी इन्हें समस्त वेदोंका बोध था। इनके पिता कुछ अशुद्ध पाठ कर रहे थे। इन्होंने गर्भमेंसे ही कहा--' अशुद्ध पाठ क्यों करते हो?' पिताको यह बात कुछ बुरी लगी। उन्होंने शाप दिया कि अभीसे तू इतना टेढ़ा है तो जा, तू आठ जगहसे टेढ़ा हो। पिताका वचन सत्य हुआ और ये आठ स्थानसे टेढ़े ही पैदा हुए। इसीलिये इनका नाम अष्टावक्र पड़ा। इन्होंने फिर विधिवत् वेद-वेदान्तका अध्ययन किया।

उन दिनों महाराज जनकके यहाँ एक पुरोहित रहता था। उसने यह नियम बना लिया था कि जो शास्त्ार्थमें मुझसे हार जायगा उसे मैं जलमें डुबा दूँगा। बड़े-बड़े पण्डित जाते और हार जाते। हारनेपर वह पण्डितोंको जलमें डुबो देता। अष्टावक्रजीके पितामामा आदि भी इसी तरह जलमें डुबो दिये गये।

जब ये कुछ सयाने हुए तो इन्होंने इच्छा प्रकट को कि मैं भी उस पण्डितसे शास्त्रार्थ करने जाऊँगा इनकी बात सुनकर इनकी माता आदिने बहुत मना किया, किन्तु ये माने ही नहीं। सीधे महाराजकी राजसभामें पहुँचे। इनके आठ स्थानसे टेढ़े शरीरको देखकर सभी सभासद् हँस पड़े और उन्होंने जब यह सुना कि ये शास्त्रार्थ करने आये हैं तब तो वे और भी जोरोंसे हँसे।

अष्टावक्रजीने कहा-*हम तो समझते थे कि विदेहराजकी सभामें कुछ पण्डित भी होंगे। किन्तु यहाँ तो सब चर्मकार ही निकले।' यह सुनकर सभी उनके मुखकी ओर देखने लगे। राजाने पूछा--' ब्रह्मन्! आपने सभीको चर्मकार कैसे बताया, यहाँ तो बड़े-बड़े श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण पण्डित हैं। आप चर्मकार कहनेका अभिप्राय बताइये ।'

अष्टावक्रजीने कहा-- देखो, आत्मा नित्य है, शुद्ध है, निर्लेप और निर्विकार है। उसमें कोई विकार नहीं, दोष नहीं। वह मुझमें है। जिसे उसकी परीक्षा है वही ब्रह्मज्ञानी है, पण्डित है। उसे न पहचानकर जो चर्मसे ढके हुए इस अस्थि-मांसके शरीरको ही देखकर हँसता है उसे उस आत्माका तो बोध है नहीं, चर्मका बोध है। जिसे चर्मका बोध है वही चर्मकार है।'

इनकी ऐसी युक्तियुक्त बातें सुनकर महाराजको तथा समस्त सभासदोंको बड़ा संतोष हुआ। उन्होंने इनका अभिनन्दन किया, पूजा की और आनेका कारण पूछा। उन्होंने कहा--'मैं आपके उस पण्डितसे शास्त्रार्थ करूँगा जो सबको जलमें डुबा देता है।' महाराजने इन्हे बहुत मना किया, किन्तु ये माने ही नहीं। विवश होकर महाराजने उस पण्डितको बुलाया । इन्होंने उससे शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थमें उसे परास्त कर दिया। तब तो वह घबड़ाया।

इन्होंने उसे पकड़ लिया और कहा-"जैसे तैने सबको जलमें डुबोया है उसी प्रकार मैं तुझे जलमें डुबोऊँगा।' यह कहकर उसे जलमें घसीट ले गये। उसने सन्तुष्ट होकर कहा--' ब्रह्मन्! मैं आपकी विद्वत्ता और पाण्डित्यसे बहुत प्रसन्न हूँ। रह गयी मुझे डुबोनेकी बात, सो मैं जलमें डूब ही नहीं सकता। मैं वरुणका दूत हूँ। महाराज वरुण एक यज्ञ कर रहे हैं। उन्हें वहाँ पण्डितोंकी जरूरत थी, इसीलिये मैंने यहाँसे सब पण्डितोंको भेजा है। जिन्हें मैंने जलमें डुबाया है वे सब-के-सब जीवित हैं, और वरुणजीके यज्ञको करा   रहे हैं।

अब यज्ञ समाप्त हो गया। मैं उन सबको आपके सामने यहाँ लाता हूँ।' यह कहकर वह वरुणलोकमें चला गया और उन समस्त पण्डितोंको दक्षिणासहित ले आया। सभीने प्रेमपूर्वक अष्टावक्रजीका आलिंगन किया और कहा-"इसीलिये तो ऋषियोंने सत्पुत्रकी प्रशंसा की है। यदि समस्त कुलमें एक भी धर्मात्मा त्पुत्र हो जाता है तो वह समस्त कुलका उद्धार कर सकता है।'

महामुनि अष्टावक्रजी महाराज विदेहद्वारा सत्कृत और पूजित होकर समस्त विद्वन्मण्डलीके सहित अपने आश्रमको चले गये।

जडभरत

प्राचीन कालमें भरत नामके एक महान् प्रतापी एवं भगवद्भक्त राजा हो गये हैं जिनके नामसे यह देश * भारतवर्ष' कहलाता है। उनका चरित्र अन्यत्र दिया गया है। अन्त समयमें उनकी एक मृगशावकमें आसक्ति हो जानेके कारण उन्हें मृत्युके बाद मृगका शरीर मिला और मृगशरीर त्यागनेपर वे उत्तम ब्राह्मण-कुलमें जडभरतके रूपमें अवतीर्ण हुए। जडभरतके पिता आंगिरस गोत्रके वेदपाठी ब्राह्मण थे और बड़े सदाचारी एवं आत्मज्ञानी थे। वे शम,

दम, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि गुणोंसे विभूषित थे और तप, दान तथा धर्माचरणमें रत रहते थे। भगवान्‌के अनुग्रहसे जडभरतको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई थी। अत: वे फिर कहीं मोहजालमें न फँस जायँ इस भयसे बचपनसे ही निःसंग होकर रहने लगे।

उन्होंने अपना स्वरूप जान-बूझकर उन्मत्त, जड, अंधे और बहिरेके समान बना लिया और इसी छद्मवेषमें वे निर्द्वन्ध होकर विचरने लगे। उपनयनके योग्य होनेपर पिताने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करवा और उन्हें शौचाचारकी शिक्षा देने लगे। परन्तु वह आत्मनिष्ठ बालक जान-बूझकर पिताकी शिक्षाके विपरीत ही आचरण करता।

ब्राह्मणने उन्हें वेदाध्ययन करानेके विचारसे पहले चार महीनोंतक व्याहति, प्रणव और शिरके सहित त्रिपदा गायत्रीका अभ्यास कराया, परन्तु इतने दीर्घकालमें वे उन्हें स्वर आदिके सहित गायत्रीमन्त्रका उच्चारण भी ठीक तरहसे नहीँ करा सके। कुछ समय बाद जडभरतके पिता अपने पुत्रको विद्वान् देखनेकी आशाको मनहीमें लेकर इस असार संसारसे चल बसे और इनकी माता इन्हें तथा इनकी बहिनको इनकी सौतेली माँको सौंपकर स्वयं पतिका सहगमन कर पतिलोकको चली गयी।

पिताका परलोकवास हो जानेपर इनके सौतेले भाइयोंने, जिनका आत्मविद्याकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं था और जो कर्मकाण्डको ही सब कुछ समझते थे, इन्हें जडबुद्धि एवं निकम्मा समझकर पढ़ानेका

आग्रह ही छोड़ दिया। जडभरतजी भी जब लोग इनके स्वरूपको न जानकर इन्हें जड, उन्मत्त आदि कहकर इनकी अवज्ञा करते तो उन्हें जड और उन्मत्तका-सा ही उत्तर देते। लोग इन्हें जो कोई भी काम करनेको कहते उसे ये तुरन्त कर देते। कभी बेगारमें,कभी मजदूरीपर, किसी समय भिक्षा माँगकर और कभी बिना उद्योग किये ही जो कुछ बुरा-भला अन्न इन्हें मिल जाता उसीसे ये अपना निर्वाह कर लेते थे। स्वादकी बुद्धिसे तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये कभी कुछ न खाते थे।

क्योंकि उन्हें यह बोध हो गया था कि स्वयं अनुभवरूप आनन्दस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ और मान-अपमान, जयपराजय आदि द्वन्द्दोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखसे वे सर्वथा अतीत थे। वे सर्दी, गर्मी, वायु तथा बरसातमें भी वृषभके समान सदा नग्न रहते। इससे उनका शरीर पुष्ट और दृढ़ हो गया था। वे भूमिपर शयन करते, शरीरमें कभी तेल आदि नहीं लगाते थे और स्नान भी नहीं करते थे, जिससे उनके शरीरपर धूल जम गयी थी और उनके

उस मलिन वेषके अन्दर उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार छिप गया था जैसे हीरेपर मिट्टी जम जानेसे उसका तेज प्रकट नहीं होता।

वे कमरमें एक मैला-सा वस्त्र लपेटे रहते और शरीरपर एक मैला-सा जनेऊ डाले रहते, जिससे लोग इन्हें जातिमात्रका ब्राह्मण अथवा अधम ब्राह्मण समझकर इनका तिरस्कार करते। परन्तु ये उसकी तनिक भी परवा नहीं करते थे। इनके भाइयोंने जब देखा कि ये दूसरोंके यहाँ मजदूरी करके पेट पालते हैं तो उन्होंने लोकलज्जासे इन्हें धानके खेतमें क्यारी इकसार करनेके कार्यमें नियुक्त कर दिया, किन्तु कहाँ मिट्टी अधिक डालनी चाहिये और कहाँ कम डालनी चाहिये इसका उन्हें बिलकुल ध्यान नहीं रहता और भाइयोंके दिये हुए चावलके दानोंको, खलको,भूसीको, घुने हुए उड़द और पात्रमें लगी हुई अन्नकी खुरचन आदिको वे बड़े प्रेमसे खाते।

x x x x

एक दिन किसी लुटेरोंके सरदारने सन्तानकी कामनासे देवी भद्रकालीको नरबलि देनेका संकल्प किया। उसने इस कामके लिये किसी मनुष्यको पकड़कर मँगवाया, किन्तु वह मरणभयसे इनके चंगुलसे छूटकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके साथियोंने बहुत दौडधूप की, परन्तु अँधेरी रातमें उसका कहीं पता न चला। अकस्मात् दैवयोगसे उनकी दृष्टि जडभरतजी पड़ी, जो एक टाँडपर खड़े होकर हरिन, सूअर आदि जानवरोंसे खेतकी रखवाली कर रहे थे।

इन्हें देखकर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और यह पुरुष-पशु उत्तम लक्षणोंवाला है, इसे देवीकी भेंट चढानेसे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध होगा ऐसा समझकर वे लोग इन्हे रस्सीसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये। उन्होंने इन्हें विधिवत् स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये और आभूषण, पुष्पमाला और तिलक आदिसे अलंकृत कर भोजन कराया। फिर गान, स्तुति एवं मृदंग तथा मजीरोंका शब्द करते हुए उन्हें देवीके आगे ले जाकर बिठा दिया।

तदनन्तर पुरोहितने उस पुरुषपशुके रुधिररूप मद्यसे देवीको तृप्त करनेके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किये हुए कराल खड्गको उठाया और चाहा कि एक ही हाथसे उनका काम तमाम कर दे। इतनेमें ही उसने देखा कि मूर्तिमेंसे बड़ा भयंकर शब्द हुआ और साक्षात् भद्रकालीने मूर्तिमेंसे प्रकट होकर पुरोहितके हाथसे तलवार छीन ली और उसीसे उन पापी दुष्टोंके सिर काट डाले।

एक दिनकी बात है, सिन्धुसौवीर देशोंका राजा रहूगण तत्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे कपिलमुनिके आश्रमको जा रहा था। इक्षुमती नदीके तीरपर पालकी उठानेवालोंमें एक कहारकी कमी पड़ गयी। दैवयोगसे वहाँ महात्मा जडभरतजी आ पहुँचे। कहारोंने देखा कि यह मनुष्य हट्टा-कट्टा, नौजवान और गठीले शरीरका है, अत: यह पालकी ढोनेमें बहुत उपयुक्त होगा। अतः उन्होंने इनको जबरदस्ती पकड़कर अपनेमें शामिल कर लिया।

पालकी उठाकर चलनेमें हिंसा न हो जाय इस भयसे ये बाणभर आगेकी पृथ्वीको देखकर वहाँ कोई कीड़ा, चींटी आदि तो नहीं है यह निश्चयकर आगे बढ़ते थे। इस कारण इनकी गति जब दूसरे पालकी उठानेवालोंके साथ एक सरीखी नहीं हुई और पालकी टेढ़ी होने लगी तब राजाको उन पालकी उठानेवालोंपर बड़ा क्रोध आया और वह उन्हें डाँटने लगा। इसपर उन्होंने कहा कि हमलोग तो ठीक चल रहे हैं यह नया आदमी ठीक तरहसे नहीं चल रहा हैं।

यह सुनकर राजा रहूगण, यद्यपि उसका स्वभाव बहुत शान्त था, क्षत्रियस्वभावके कारण कुछ तमतमा उठा और जडभरतजीके स्वरूपको न पहचान उन्हें बुरा भला कहने लगा। जडभरतजी उसकी बातोंको बड़ी शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उसकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। राजा रहूगण भी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वको जाननेका अधिकारी था।

जब उसने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना तो उसके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो ये कोई छद्मवेशधारी महात्मा हैं।
अतः वह अपने बड़प्पनके अभिमानको त्यागकर तुरन्त पालकीसे नीचे उतर पड़ा और लगा उनके चरणोंमें गिरकर गिड़गिड़ाने और क्षमा माँगने। तब जडभरतजीने राजाको अध्यात्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर उपदेश दिया, जिसे सुनकर राजा कृतकृत्य हो गया और अपनेको धन्य मानने लगा।

कपिलदेव

ब्रहमजीने सर्गके आदिमें सृष्टिविस्तारके उद्देश्यसे कई पुत्र उत्पन्न किये। इनमेंसे एक कर्दम नामके प्रजापति भी थे। इन्होंने ब्रहमाजीकी आज्ञासे सन्तान उत्पन्न करनेके हेतु सरस्वती नदीके तटपर दस हजार वर्षतक तप किया; इसके अनन्तर वे समाधिसहित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोगके द्वारा शरणागतवत्सल भगवान्की भक्तिसहित उपासना करने लगे। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें दर्शन दिया। कर्दम ऋषि भगवानका योगिजनदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे।

उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की कि मुझे अपने समान स्वभाववाली और चतुर्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली सहधर्मिणी प्रदान कीजिये। भगवान्ने कहा--' हे प्रजापते ! ब्रहमाजीका पुत्र स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नीके साथ परसों यहाँ आवेगा तथा अपनी देवहूति नामक कन्याको तुम्हारे अर्पण करेगा। उसके द्वारा तुम्हें नौ कन्याएँ प्राप्त होंगी। मैं भी तुम्हारे प्रेमसे आकृष्ट होकर अपने अंशरूप कलाके द्वारा तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट होऊँगा और सांख्यशास्त्रूप संहिताकी रचना करूँगा।' यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भगवान्के कथनानुसार तीसरे दिन स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नीके सहित कन्याको साथमें लेकर कर्दमके आश्रममें पहुँचे और बड़े आग्रह और विनयके साथ वे ऋषिको अपनी कन्या अर्पित कर चले गये। इधर देवहूति माता-पिताके लौट जानेपर पतिकी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवा करने लगी। उसने विषयभोगकी इच्छा तथा कपट, द्वेष, लोभ, निषिद्ध आचरण और प्रमाद आदि दोषोंको त्यागकर शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि गुणोंसे अपने तेजस्वी पतिको सन्तुष्ट किया। काल पाकर उन्हें नौ कन्या उत्पन्न हुई।

अब तो कर्दम ऋषि अपने पिता ब्रहमाजीकी आज्ञा पूरी हुई जानकर संन्यासधर्ममें दीक्षित होनेका विचार करने लगे। उनके इस विचारको जानकर देवहूति उनसे हाथ जोड़कर बोली-* भगवन्! आप अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिये घर छोड़कर वनमें जाना चाहते हैं तो जाइये, मैं आपके मार्गमें बाधक होना नहीं चाहती। किन्तु मेरी एक छोटी-सी प्रार्थना है, उसे पूरी करके आपको जानेका विचार करना चाहिये।

वह यह है कि आपके वन चले जानेपर मेरा शोक दूर करनेके लिये मुझे एक ब्रह्मज्ञानी पुत्र चाहिये। केवल कन्या उत्पन्न करके आप पितृ-ऋणसे मुक्त नहीं हुए। अत: आप कुछ दिन और घरमें रहिये और पुत्र उत्पन्न होनेके बाद चले जाइये। मैंने विषयोंमें लिप्त रहकर अबतककी आयु तो व्यर्थ खो दी, परन्तु शेष जीवन मेरा भगवान्के भजनमें ही बीते ऐसी मेरी इच्छा है। आपको ब्रह्मज्ञानी न जानकर मैंने अबतक आपसे ग्राम्य सुखोंकी ही कामना की।

अब आप कृपा करके मुझे पुत्रकी प्राप्ति कराकर इस संसाररूप बन्धनसे छूटनेमें सहायता दीजिये।' उसके इन विनय एवं वैराग्ययुक्त वचनोंको सुनकर ऋषिको भगवानूके वचनोंका स्मरण हो आया। वे बोले-'हे राजपुत्रि! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो। तुम्हारे उदरमें भगवान् जगदीश्वर शीघ्र ही अवतार धारण करेंगे और तुम्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश कर तुम्हारे हृदयकी अहंकाररूप ग्रन्थिका छेदन करेंगे।

देवहूति भी प्रजापतिके वचनोंमें पूर्ण विश्वास कर भगवान् श्रीहरिकी प्रेमपूर्वक आराधना करने लगी। समय पाकर उसके उदरसे भगवान् मधुसूदन प्रकट हुए और चारों दिशाओंमें जयजयकारकी ध्वनि होने लगी। उस समय मरीचि आदि ऋषियोंसहित ब्रह्माजी कर्दम ऋषिके आश्रममें पहुँचे । उन्होंने कर्दम-देवहूतिको उन पुत्रका माहात्म्य बतलाया और कहा कि साक्षात् पूर्णपुरुष ही तुम्हारे यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। इनके केशकलाप सुवर्णके समान कपिलवर्ण होनेके कारण ये जगतूमें कपिल नामसे विख्यात होंगे।
ये सिद्ध-मुनियोंमें अग्रगण्य होंगे और सांख्यशास्त्रका प्रचार करेंगे।' यों कहकर ब्रह्माजी सत्यलोकको चले गये। उनके चले जानेके बाद कर्दम ऋषिने अपने यहाँ पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए भगवान् कपिलदेवकी अनेक प्रकारसे स्तुति की और उनसे संन्यासधर्मको स्वीकार करनेकी आज्ञा माँगी। भगवान् बोले--' हे प्रजापते! मुमुक्षुओंको आत्मज्ञान प्राप्त करानेमें सहायक प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेके लिये ही मैं इस समय धराधामपर अवतीर्ण हुआ हूँ। तुम अब सब प्रकारके ऋणानुबन्धोंसे मुक्त हो गये हो, अतः तुम संन्यास ग्रहण कर सकते हो, यद्यपि तुम्हें घरमें भी मुक्तिकी प्राप्ति कठिन नहीं है ।

परन्तु तुम मुझे बराबर स्मरण करते रहना और अपने समस्त कर्मोको मुझे अर्पणकर मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त मेरी उपासनामें लगे रहना। यद्यपि यह सूक्ष्म आत्मज्ञानका मार्ग बहुत 'पहलेसे चला आ रहा है तथापि बहुत काल बीत जानेसे वह लुप्त-सा हो गया है, अत: उसका पुन: प्रचार करनेके निमित्त ही मैं पृथ्वीपर प्रकट हुआ हूँ। सकल प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले मुझ

स्वयंप्रकाश परमात्माको अपने देहस्थित आत्मामें देखकर तुम शोकसे छूट जाओगे और मोक्षसुखको प्राप्त करोगे ।

मैं देवहूति माताको संचित और क्रियमाण आदि सब प्रकारके कर्मोंकी वासनाएँ मनसे दूर करनेवाली अध्यात्मविद्या कहुँगा, जिसके प्रभावसे यह देवहूति संसारभयको तर जायगी और मोक्षसुखको प्राप्त करेगी ।'

भगवान् कपिलदेवके इन वचनोंको सुनकर कर्दम ऋषि परम प्रसन्न हुए और भगवानूकी प्रदक्षिणा कर वनको चले गये। वे सकल संगोंको त्यागकर अहिंसाव्रतका पालन करते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे। उन्होंने अपने उत्कट भक्तियोगके द्वारा अन्तर्यामी भगवान् वासुदेवके चरणोंमें मन लगाकर उत्तम भगवद्भक्तोंको प्राप्त होनेवाली भागवती गतिको प्राप्त किया।

महामुनि भगवान् कपिलदेव पिता कर्दम ऋषिके वनमें चले जानेपर माताका प्रिय करनेकी इच्छासे कुछ दिन अपने पिताके आश्रममें ही रहे । एक दिन ब्रह्माजीके कथनको स्मरणकर देवहूति आसनपर बैठे हुए, वास्तव कर्मरहित किन्तु मुमुक्षुओंको तत्त्वमार्ग दिखानेवाले अपने पुत्रसे कहने लगी-- हे प्रभो! मैं इन दुर्निवार इन्द्रियोंकी तृष्तिके निमित्त विषयोंकी अभिलाषासे अत्यन्त श्रान्त हो रही हूँ। हे देव! आप मेरे इस महामोहको दूर करिये।

आप शरणागतोंके रक्षक और भक्तोंके संसाररूप वृक्षको छेदन करनेमें कुठारके समान हैं।' माताके इन वचनोंको सुनकर कपिलदेव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और मुस्कुराते हुए बोले-'हे माता! इस आत्माके बन्धन और मुक्तिका कारण चित्त ही है, चित्तके सिवा कोई दूसरा नहीं। यह चित्त शब्दादि विषयोंमें आसक्त होनेपर बन्धनका कारण होता है और वही ईश्वरके प्रति अनुरक्त होनेपर मुक्तिका कारण बन जाता है। इसी प्रकार दुष्ट पुरुषोंका संग जीवात्माको बाँधनेवाली दृढ़ फाँसी है और सत्पुरुषोंके संगको शास्त्रॉमें मोक्षका द्वार कहा गया है। अतः हे जननि! तुम्हें सत्पुरुषोंका ही संग करना चाहिये। साधुओंके समागमसे ही मेरे प्रभावका यथार्थ ज्ञान करानेवाली और अन्तःकरणको सुख देनेवाली कथाएँ सुनेको मिलती हैं।

जिनके श्रवणसे भगवानमें श्रद्धा, प्रीति और भक्ति क्रमशः उत्पन्न होती है। उस भक्तिसे ऐहिक तथा पारलौकिक सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्यसम्पन्न पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर योगादिके द्वारा अन्तःकरणको स्वाधीन करनेका प्रयत्न करता है और शब्दादि विषयोंके सेवनको त्यागकर वैराग्यसे बढे हुए ज्ञान, अष्टांगयोग और

भक्तिके द्वारा इसी देहमें मुझ सर्वान्तर्यामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

इसके अनन्तर देवहूतिके प्रश्न करनेपर कपिलदेवने भक्तिके लक्षणोंका वर्णन किया और फिर सांख्यशास्त्रकी रीतिसे पदार्थोंका वर्णन करते हुए प्रकृति-पुरुषके विवेकद्वारा मोक्षका वर्णन किया। इसके अनन्तर अष्टांगयोगसे स्वरूपकी उपलब्धि किस प्रकार होती है यह बतलाते हुए भवितयोगके अनेक प्रकार बतलाये और साथ ही संसारके दुखदायी स्वरूपका चित्रण किया। प्रसंगत: कामी जनोंकी कैसी गति होती है यह बतलाते हुए मनुष्ययोनिका महत्त्व बतलाया और यह भी बतलाया कि मनुष्ययोनि पाप और पुण्यके सम्मिश्रणसे प्राप्त होती है ।

अपने पुत्रके उपदेशको सुनकर देवहूतिके अज्ञानका पर्दा हट गया और वह उनके प्रभावको समझकर उनकी भगवद्बुद्धसे स्तुति करने लगी। भगवान् कपिल उनकी स्तुतिको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और स्नेह-गद्गद वाणीसे इस प्रकार बोले--'हे माता! मेरे कहे हुए इस मार्गसे यदि तू चलेगी तो बहुत ही शीघ्र जीवन्मुक्तिरूप उत्तम फलको प्राप्त करेगी। हे जननि! ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा सेवनीय मेरे इस अनुशासनपर तू विश्वास रख, इस प्रकार बर्ताव करनेसे तू संसारसे छूटकर मेरे जन्ममरणरहित स्वरूपको प्राप्त होगी।

मेरे इस मतको न जाननेवाले पुरुष मृत्युरूप संसारमें बार-बार गिरते हैं।' यों कहकर महामुनि कपिलजी मातासे विदा लेकर ईशानदिशाकी ओर चल दिये। देवहूति भी अपने पुत्रके बताये हुए योगमार्गसे अपने चित्तको एकाग्र करके अपने पतिके आश्रममें समाधिके द्वारा समय व्यतीत करने लगी। उसके घुँघराले बाल तीनों काल स्नान करनेसे पीले रंगके हो गये और जटा-से प्रतीत होते थे। उसका शरीर तपस्यासे दुर्बल हो गया जिसे वह वल्कल सस्त्रसे ढाँककर रखती थी। उसने अपने घर, बगीचे आदि मोह त्याग दिया, किन्तु पुत्रके चले जानेसे उसका मुख कुछ म्लान हो गया। उसने कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गसे भगवान्के प्रसन्न मुख तथा अंग-प्रत्यंगका ध्यान करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध किया और भगवानमें बुद्धि लगायी, जिससे उसका जीवभाव बहुत शीघ्र नष्ट हो गया।

समाधिमें सर्वदा मग्न रहनेके कारण उसका अहंता-ममतारूप भ्रम दूर हो गया, यहाँतक कि उसे अपने शरीरतककी सुधि न रही। इस प्रकार कपिलजीके उपदेशानुसार साधना करके देवहूति शीघ्र ही सर्वश्रेष्ठ, अन्तर्यामी, नित्यमुक्त एवं ब्रह्मरूप भगवान्के साथ एकताको प्राप्त हो गयी। जिस स्थानपर उसे योगसिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हुई वह स्थान

'सिद्धपद' के नामसे त्रिलोकीमें विख्यात हो गया और देवहूतिका शरीर एक नदीके रूपमें परिणत हो गया।

सौभरि

दयाकी मूर्ति भगवान् सौभरि ऋग्वेदके ऋषि हैं। इनके चरित्र वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें सर्वत्र मिलते हैं। 'सौभरिसंहिता' नामसे एक संहिता भी है। ये वृन्दावनके निकट कालिन्दीके तटपर रमणक नामक द्वीपमें रहते थे, जो आजकल सुनरख नामसे प्रसिद्ध है। ये यमुनाजीके जलमें डूबकर हजारों वर्षोतक तपस्या करते रहे। एक बार मल्लाहोंने मछली पकड़नेके लिये जाल डाला। मछलीके जालमें ये स्वयं भी फँसकर चले आये। मल्लाहोंने समझा कोई बड़ा भारी मत्स्य फँस गया है ।

उन्होंने ऊपर खींचा तो मालूम हुआ ये तो महर्षि सौभरि हैं। मल्लाह बड़े घबड़ाये। ऋषिने कहा--' भाई! हम अब तुम्हारे जालमें फँस गये हैं, तुम हमें बेच दो।' मल्लाहोंकी हिम्मत कहाँ थी, ऋषिके आग्रह करनेपर वहाँके राजा आ गये। ऋषिको भला कौन मोल ले सकता है, उनका मूल्य कौन-सी वस्तुसे आँका जा सकता है। अन्तमें ऋषिके सुझानेपर यह निश्चित हुआ कि गौके रोम-रोममें अनन्त देवताओंका निवास है, गौके बदलेमें ऋषि लिये जा सकते हैं। अत: राजाने एक कपिला गौको मूल्यमें देकर ऋषिको मुक्त कराया। मल्लाहोंको उन्होंने और भी बहुत-सा धन दिया।

एक बार ऋषिने देखा कि गरुड़देव उनके स्थानके समीप मछलियोंको खा रहे हैं। एक बड़ा मत्स्य था, उसे भी वे खाना चाहते थे। ऋषिने मना किया, किन्तु गरुड़ इतने भूखे थे कि उन्होंने ऋषिकी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। मत्स्यके बालक तड़पने लगे। महर्षिको बड़ी करुणा आयी और उन्होंने गरुड़को लक्ष्य करके शाप दिया कि 'आजसे यदि गरुड़ यहाँ आकर किसी भी जीवको खायगा तो उसकी मृत्यु उसी क्षण हो जायगी, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।' उस दिनसे उनके समीपका समस्त स्थान हिंसाशून्य बन गया। वहाँ कोई भी जीव हिंसा नहीं कर सकता।

एक बारकी बात है कि रमणक द्वीपके रहनेवाले सर्पोने सलाह की कि गरुड़ हमारे समस्त परिवारका बड़ी निर्दयतासे संहार करते हैं, अत: उनके पास

पारीपारीसे सर्प जाया करें और उन्हें बलि दिया करें। ऐसा करनेसे शीघ्र ही कुलका नाश न होगा। यह बात समस्त सर्पोंने स्वीकार कर ली और वे पारी-पारीसे गरुड़के पास जाने लगे। एक दिन कालियनागकी पारी आयी। वह गया और गरुड़की बलिको स्वयं ही खा गया। इसपर गरुड़ बड़े क्रोधित हुए, वे नागपर झपटे ।

कालिय अपनी जान लेकर भागा और भगवान् सौभरिकी शरणमें गया। ऋषिने उसे आश्रय देते हुए कहा--' यहाँ तुम्हें किसी भी बातका भय नहीं, यहाँ गरुड़ तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा।' उस दिनसे कालिय अहि भगवान् सौभरिके ही आश्रमके समीप रहने लगा। इसीलिये उस स्थानका नाम अहिवास और उसके समीप रहनेवाले भगवान् सौभरि ऋषिके वंशज अहिवासी कहलाये। क्रषिके विवाहकी भी एक बड़ी मनोरंजक कहानी है।

ऋषि सदा जलके भीतर समाधि लगाकर तपस्या करते थे। एक बार जलके भीतर-ही-भीतर उनकी समाधि भंग हुई। वहाँ उन्होंने देखा एक मत्स्य अपनी स्त्रीके सहित बड़े सुखसे विहार कर रहा है। आँखोंके जरासे कुसंगने अपना असर डाला, उसी समय ऋषिके मनमें संकल्प उठा कि 'देखो, ये जलचर जन्तु होकर कैसा सुखभोग कर रहे हैं, हम तो मनुष्यका शरीर पाकर भी इस सुखसे वंचित हैं।' यह विचार आते ही ऋषि समाधि, प्राणायाम सब भूल गये। जलसे बाहर निकले।

उन दिनों महाराजा मान्धाता अयोध्यामें राज्य करते थे, ऋषि सीधे उन्हींके पास पहुँचे। महाराजने ऋषिका बड़ा सत्कार किया, विधिवत् पूजा की, गौदान करनेके अनन्तर उनसे पधारनेका कारण पूछा। महर्षिने कहा-"राजन्! मैं गृहस्थसुखका उपभोग करना चाहता हूँ; तुम्हारे पचास कन्याएँ हैं, इनमेंसे एक मुझे दे दो।'

महाराज सुनकर सन्न रह गये। भला, हजारों वर्षके इन बूढ़े ऋषिको अब इस ढलती उम्रमें यह क्या सूझी। इन्हें कन्या कैसे दूँ? किन्तु मना करनेकी भी हिम्मत नहीं हुई। क्रषिकी तनिक-सी भ्रकुटी टेढ़ी होते ही राज-पाटसे हाथ धोना पड़ेगा। यह सब सोचसमझकर उन्होंने एक चाल चली। बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उन्होंने कहा--' भगवन्! मेरे अन्त:पुरमें आपके लिये कोई रुकावट तो है ही नहीं, आप भीतर पधारें। मेरे पचास लड़कियाँ हैं, उनमेंसे जो मेरी लड़की आपको पसन्द करे उसे ही आप प्रसन्नतापूर्वक ले जायँ।' महाराजने सोचा मेरी युवती कन्याएँ इन-जैसे अति बूढ़े ऋषिको क्यों पसन्द करने लगेंगी।

जब वे पसन्द न करेंगी तो ये खुद ही लौट जायँगे। इस प्रकार साँप भी मर जायगा और लाठी भी न टूटेगी। मना भी न करनी पड़ेगी और ऋषि भी नाराज न होंगे। महर्षि तो थे सर्वज्ञ। उनसे भला कोई क्या छिपा सकता है, वे महाराजके भावको ताड़ गये। तपस्याके बलसे वे नयी सृष्टि रच सकते थे, उन्होंने झटसे अपना रूप परम सुन्दर युवावस्थासम्पन्न बना लिया। रनवासमें जाते ही पचासों-की-पचासों कन्याएँ उनपर मुग्ध हो गयीं। राजाको अब क्या आपत्ति थी। पचासों कन्याएँ ऋषिके अर्पण कर दीं। उन सबको लेकर महर्षि अपने आश्रमपर आये।

विश्वकर्माको आज्ञा दी, बहुत जल्दी पचास महल बनें। फिर क्या था, बात'की-बातमें समस्त स्वर्गीय सुखोंसे युक्त पचास महल बन गये। उनमें सब प्रकारकी सुखोपभोगकी सामग्रियाँ थीं । योगबलसे पचास रूप बनाकर ऋषि उनके साथ गृहस्थसुखका उपभोग करने लगे। प्रत्येकके दस-दस पुत्र हुए। उन पुत्रोंके भी पुत्र हो गये। बड़ा परिवार होनेसे भाँति-भाँतिकी झंझटें, भाँतिभाँतिकी नित्य नयी उपाधियाँ होने लगीं। अब तो ऋषिको होश हुआ। अरे! यह मैंने क्या किया, तनिक देर विषयी मत्स्यका संसर्ग होनेसे मैं भी विषयी बन गया। विषयियोंके क्षणभरके संगका ऐसा दुष्परिणाम !!

यह सोचते ही वे चिल्लाकर कहने लगे "अरे! यह मेरा पतन तो देखो, मैं व्रतमें तत्पर सच्चरित्र तपस्वी था। जलके भीतर मत्स्यके प्रसंगको देखकर मैं इतने दिनके प्राप्त किये हुए अपने ब्रह्मतेजको विषयभोगोंके पीछे खो बैठा। मुमुक्षु पुरुषको मैथुनमें लगे हुए प्राणियोंका साथ कभी न करना चाहिये। यदि सब प्रकारसे न छोड़ सके तो बाहरकी इन्द्रियोंसे ही छोड़ दे। बिलकुल एकान्तमें रहकर अनन्त प्रभुमें चित्त लगाकर उनके प्यारे भक्तोंका सत्संग करना चाहिये।

निःसंग होना ही यतियोंके लिये मुक्तिका मार्ग है । संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। दुःसंगसे योगमें आरूढ़ हुए योगीतक गिर जाते हैं, फिर अल्पसिद्धिवाले जीवोंकी तो बात ही क्या है?' ऐसा सोचकर वे वानप्रस्थधर्मका पालन करते हुए ब्रह्ममें लीन हो गये। सौभरि ऋषिके जीवनमें भूतदया विशेषरूपसे देखी जाती है, वे प्राणियोंको दुखी नहीं देख सकते थे। प्राणिमात्रके प्रति दयाके भाव रखना, यही तो सच्ची साधुता है।

मंकणक

पुण्यसलिला सरस्वती नदीके किनारे एक परम तपस्वी मंकणक नामके ब्राह्मण रहते थे। एक दिनकी बात है, अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मके लिये कुश लाते समय कुशकी नोक उनके हाथमें गड़ गयी। उनके हाथोंसे खून बहने लगा। उसे देखकर उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि वे हर्षावेशमें नाचने लगे। उनकी तपस्याके प्रभावसे प्रभावित होनेके कारण स्थावर-जंगम सम्पूर्ण जगत् ही उनके नृत्यकी गतिमें गति मिलाकर नृत्य करने लगा। उनके तेजसे सभी मोहित हो गये।

उस समय इन्द्रादि देवगण एवं तपोधन ऋषियोंने मिलकर ब्रह्मासे प्रार्थना की कि आप ऐसा उपाय करें कि इनका नृत्य बन्द हो जाय। ब्रह्माने इसके लिये रुद्रसे कहा, क्योंकि मंकणक रुद्रके परमभक्त थे। ब्रह्माकी बात मानकर रुद्रदेव वहाँ गये और उन ब्राह्मण देवतासे कहा कि *विप्रश्रेष्ठ! तुम किसलिये नृत्य कर रहे हो? देखो, तुम्हारे नृत्य करनेसे सारा जगत् नृत्य कर रहा है ।' रुद्रदेवकी इस बातको सुनकर मंकणकने कहा--' क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मेरे हाथसे खून बह रहा है? उसीसे प्रसन्न और हर्षाविष्ट होकर नाच रहा हूँ।'

महादेवने कहा कि “ब्राह्मण! तुम देखते नहीं कि तुम्हारे इस अखण्ड नृत्यसे मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं आ है, तुम मेरी ओर देखो तो सही।' मंकणक सोचने लगे कि ये कौन हैं जो मुझे नाचनेसे रोक रहे हैं। उस समय महादेवने अपनी अँगुलियोंके अग्रभागसे अपने अँगूठेको दबाया और उससे उसी समय बरफके समान श्वेतवर्णका भस्म निकलने लगा। यह देखकर उन ब्राह्मण देवताको बड़ी लज्जा आयी और वे घबड़ाकर महादेवके चरणोंमें गिर पड़े। उनके मुँहसे बरबस ये शब्द निकल पडे कि “प्रभो! आपसे बढ़कर और कोई देवता है ही नहीं।

सारे जगत्के आधार आप ही हैं; आप ही इसकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। हे प्रभो! मैंने आपके सामने बड़ा अपराध किया है। मुझसे अनजानमें आपका बड़ा अपमान हो गया है, मुझ बालककी चूकपर दृष्टि न डालिये। क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये!!!

भगवान् शंकरने बड़ी प्रसन्नतासे कहा-- ब्राहमणदेव ! इसमें अपराधकी क्या बात है? आवेशके कारण तुम नाच रहे थे, ऐसी स्थितिमें अपमानकी तो कोई बात ही नहीँ है। मेरी इच्छासे नृत्य बन्द कर देनेके कारण मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यह तुम्हारी तपस्या और भी हजारों गुना बढ़ जाय, इस प्राची सरस्वतीके किनारे ही मैं सर्वदा तुम्हारे साथ निवास करूँगा।'

इतना कहकर शंकरने सरस्वती नदीकी और भी महिमा बतलायी तथा ब्राहमण मंकणकपर महान् भक्तवत्सलता प्रकट करके आशुतोष भगवान् शंकर उन्हींके साथ वहीं निवास करने लगे। आज भी भगवान् शंकर अपने आज्ञाकारी भक्त मंकणकके साथ सरस्वतीतटपर विचरते रहते हैं।

<u>अकृतब्रण</u>

छः ऋषियोंको इनमेंसे एक-एक संहिता पढ़ायी। परशुरामजीके शिष्य अकृतत्रण बड़े ही साधुस्वभाव मुनि हैं, इनके सम्बन्धमें पुराणान्तरमें ऐसी कथा आती है कि जब ये बहुत छोटे बालक थे तब इन्हे बाघ उठा ले गया। सौभाग्यसे बाघने इनको मारा नहीं, इनका पालन-पोषण उसने किया। ये जंगलमें शेरबाघोंके ही बीचमें पले। दैवसंयोगसे इन्हें भगवान् परशुरामजी मिल गये और ये उनके शरणापन्न हुए।

शेर-बाघोंमें रहते हुए भी इनके शरीरमें एक व्रण भी नहीं देखा गया, इसी हेतु इनका नाम ' अकृतत्रण' पड़ा। ये अत्यन्त गुरुभक्त हैं । भगवान् परशुरामके साथ ये छायाकी तरह रहते हैं। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणोंमें इनका नाम बहुत आता है । इससे अधिक इनके सम्बन्धमें हम कुछ भी नहीं जानते।

कणाद

भारतके छः मुख्य दर्शनोंमें वैशेषिक नामक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणाद हैं। इनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ विशेष पता नहीं चलता। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि ये किसी प्रकारका परिग्रह नहीं रखते थे। किसान अपने-अपने खेतोंमेंसे अन्न काट ले जाते उसके बाद कणोंके रूपमें जो कुछ बच रहता उसे ही बीनकर ले आते और उसीसे अपने शरीरका निर्वाह करते। इन तपस्वीने संसारको एक विशिष्ट दर्शनशास्त्रका दान किया है।

इन ऋषियोंको वस्तुतत्त्वका बोध न हो ऐसी बात नहीं, किन्तु सब प्रकारके साधकोंके लिये उनकी भूमिकाके अनुरूप विचारप्रणाली उपस्थित करना ही इनका उद्देश्य होता है। जिन्होंने न्यायदर्शनके अनुसार पदार्थविभाजन कर लिया है किन्तु जो सांख्यके अनुसार प्रकृति-पुरुषविवेक करनेमें पटु नहीं हुए हैं उनके लिये ही अनन्त परमाणुओंमें अनन्त विशेषोंका विचार इन्होंने उपस्थित किया है।

इसके फलस्वरूप अधिकारी पुरुष अगली भूमिकामें बढ़ता है । कूर्मपुराणमें ऐसा वर्णन आता है इन्होंने महर्षि नर-नारायणके पास जाकर अपनी जिज्ञासा पूर्ण की थी और भगवत्तत्त्व तथा भगवद्भक्तिसम्बन्धी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की थी। काशीमें अबतक इनके द्वारा स्थापित और आराधित एक शिवलिंग विद्यमान है जहाँ स्वयं भगवान् शिवने प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया था।

यद्यपि महर्षि कणादका विस्तृत जीवन उपलब्ध नहीं है फिर भी उनका वैशेषिक दर्शन उनके आन्तरिक और लोकोपकारी जीवनका साक्षात् प्रतीक है । वह चिरकालतक हमारा कल्याणसाधन करता रहेगा।

जरत्कारु ऋषि

पूर्वकालमें ऋषियोंकी अनेक संज्ञाएँ होती थीं। उन्हींमें एक यायावर नामका ऋषिवर्ग था। उनके वंशमें एक ही पुत्र था, जिसका नाम जरत्कारु था। जरत्कारुके माता-पिता परलोकवासी हो गये थे। इसलिये वे सदा जंगलोंमें रहते और भाँति-भाँतिके तप किया करते थे।

विविध प्रकारके तप करनेसे उनका शरीर क्षीण हो गया था, वे कभी फल-फूल ही खाकर रह जाते, कभी सूखे पत्ते ही चबा जाते, कभी वायु पीकर ही रह जाते। इस प्रकार वे हजारों वर्षतक तपस्या ही करते रहे। एक दिन वे जंगलमें कहीं जा रहे थे, उन्होंने वहाँ एक बिना पानीके कूपमें कुछ दुखी जनोंकी आवाज सुनी। कूपके समीप जाकर उन्होंने देखा कि वहाँ घासके एक तृणको पकड़े हुए कुछ पितर उलटे लटक रहे हैं। वे दुखी हैं और उस घासकी जड़को भी काटनेके लिये एक चूहा उद्योग कर रहा है।

जरत्कारु मुनिने उन दुःखित पितरोंको उलटे लटके देखकर दयाके साथ पूछा--"महानुभावो ! आप कौन हैं और यहाँ इस अवस्थामें ऐसे क्यों लटके हुए हैं ?' उन पितरोंने कहा-- ब्रह्मन्! हम यायावर नामके ऋषि हैं। हम अपने कर्मोंसे पितृलोकमें गये, किन्तु हमारे वंशमें कोई न होनेसे हम अब नीचे गिरना चाहते हैं। हमारे कुलमें एक ही सन्तान है, उसका नाम जरत्कारु है। जबतक वह है तबतक तो हम लटके ही हैं, उसके न रहनेपर हमारा वंश नष्ट हो जायगा और हम फिर इस गड़हेमें गिर जायँगे।

वह जरत्कारु आगे बंश चलानेका उद्योग नहीं करता। यदि वह शास्त्रविधिसे विवाह करके हमारे वंशको चलावे तो हम दुर्गतिसे बच जायँगै । ब्रह्मन्! आप बड़े दयालु हैं, यदि आपको कहीं जरत्कारु मिल जाय तो आप उसे ऐसी शिक्षा दें कि वह विवाह करके हमें इस गड्ढेमें गिरनेसे बचावे।' पितरोंकी ऐसी बात सुनकर जरत्कारु मुनिने कहा-*पितरो! वह जरत्कारु मैं ही हूँ, मुझे पता नहीं था कि मेरे कारण आपकी ऐसी दुर्दशा हो रही है। मैं अवश्य विवाह करूँगा, किन्तु मैं तभी विवाह कर सकता हूँ जब मेरे ही नामकी सुयोग्य ब्राह्मणकन्या मिले।'

जरत्कारुको पाकर पितर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन्हें बहुत प्रकारसे आशीर्वाद दिया। जरत्कारु अब तपस्या छोड़कर विवाहकी चिन्तामें घूमने लगे। पूरी पृथ्वी उन्होंने छान डाली, किन्तु उन्हें उनके नामवाली कोई लड़की नहीं मिली। वे दीन थे, दुखी थे, पितरोंकी उद्धारकी चिन्तामें चिन्तित थे। इसलिये जंगलमें जाकर रुदन करने लगे कि मैं अब अपने पितरोंका उद्धार कैसे कर सकूँगा। मुझ दीनको कोई कन्या नहीं देता। देता भी है तो मेरे नामवाली नहीं मिलती, मैं क्या करूँ?

उनके रुदनको सुनकर नागोंके राजा वासुकि अपनी बहिनको लेकर ऋषिके समीप आये और बोले--' ब्रह्म! आप मेरी इस बहिनके साथ विवाह कर लीजिये, यह धर्मपरायणा है और सर्वगुणसम्पन्ना है।'

ऋषिने पूछा-* और सब तो ठीक है, इसका नाम क्या है ?' नागराजने कहा--ब्रह्मन्! इसका नाम जरत्कारु है। विधिका ऐसा ही विधान है, आप इसके साथ विवाह कर लें और मेरे यहाँ नागलोकमें सुखसे रहें। वहाँ आपको कोई कष्ट न होगा और हम सब प्रकारसे आपकी सेवा करेंगे।'

जरत्कारु मुनिने कहा--' नागराज! मैं आपकी बात मानता हूँ, किन्तु मैं तभीतक तुम्हारी इस बहिनके साथ रहुँगा जबतक यह मेरे विपरीत कोई आचरण न करेगी। जिस दिन इसने ऐसी कोई बात की उसी दिन मैं चला आऊँगा।'

नागराजने यह बात स्वीकार कर ली और उन्होंने अपनी बहिनका विवाह विधिपूर्वक ऋषिके साथ कर दिया। ऋषि अपने नामवाली उस नागकन्याके साथ आनन्दपूर्वक नागलोकमें रहने लगे। कुछ समयके अनन्तर नागकन्या गर्भवती हुई और वह सब तरहसे सेवामें तत्पर रहने लगी। संयोगकी बात, एक दिन जरत्कारु ऋषि अपनी स्त्रीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे कि इतनेमें सूर्यास्तका समय आ गया; किन्तु ऋषि नहीं जागे।

तब ऋषिपत्नीने सोचा कि ठीक समयपर सन्ध्या न करनेसे पतिका धर्म भ्रष्ट हो जायगा, और मैं यदि उन्हें जगा दूँगी तो वे मुझे अवश्य छोड़ देंगे; परन्तु वे छोड़ भले ही दें, उनके धर्मकी रक्षा करना ही मेरा धर्म है--ऐसा निश्चय कर ऋषिपत्नीने उनको जगा दिया और नम्रतासे सन्ध्या करनेके लिये प्रार्थना की। तपस्वी ऋषिने कहा--“नागकन्या! तूने मुझे जगाकर मेरा अपमान किया, इसलिये मैं अब प्रतिज्ञानुसार तेरे पास नहीं रहूँगा।

तुझे यह बात जाननी चाहिये थी कि जब मैं नित्य ठीक समयपर सन्ध्या करता हुँ तब सूर्यदेव मुझसे अर्घ्य ग्रहण किये बिना कैसे अस्त हो जायँगे।' धन्य पति-पत्नी दोनोंकी धर्मनिष्ठा! तदनन्तर ऋषि नागकन्याको उसी समय छोड़कर वनमें तपस्या करने चले गये।

समय पूरा होनेपर नागकन्याके उदरसे महर्षि आस्तीकका जन्म हुआ, जिन्होंने जनमेजयके नागयज्ञमें भस्म होते हुए समस्त नागोंकी रक्षा की । इसीलिये आजतक सर्प काटनेपर लोग आस्तीक मुनिका स्मरण करते हैं और उनके स्मरणसे सर्प भाग जाते हैं।

मैत्रेय

महर्षि मैत्रेय पुराणवक्ता ऋषि हैं। ये 'मित्र' के अपत्य होनेके कारण मैत्रेय कहाये। श्रीमद्भागवतमें इनके सम्बन्धमें इतना ही मिलता है कि ये महर्षि पराशरके शिष्य और वेदव्यासजीके सुहृद् सखा थे। पराशर मुनिने जो विष्णुपुराण कहा उसके प्रधान श्रोता ये ही हैं।

इन्होंने स्वयं कहा है "हे गुरुदेव! मैंने आपसे ही सम्पूर्ण वेद, वेदांग और सकल धर्मशास्त्रोंका क्रमशः अध्ययन किया है। हे मुनिश्रेष्ठ! आपकी कृपासे मेरे विपक्षी भी मेरे लिये यह नहीं कह सकते कि मैंने सम्पूर्ण शास्त्रोंके अभ्यासमें परिश्रम नहीं किया है।' इससे यही स्पष्ट बोध होता है कि जिस प्रकार ये भगवान् वेदव्यासके सुहृद और सखा थे वैसे ही ये पूर्ण ज्ञानी और शस्त्र-मर्मज्ञ भी थे।

भगवान् श्रीकृष्णकी इनके ऊपर पूर्ण कृपा थी। उन्होंने निज लोकको पधारते समय अधिकारी समझकर अपना समस्त ज्ञान इन्हींको दिया था।भगवान् जब परमधामको पधारने लगे तब खोजतेखोजते उद्धवजी उनके पास पहुँचे। भगवान् एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे सरस्वतीके तटपर प्रभासक्षेत्रके समीप सुखासीन थे।

उद्धवजीने उन प्रभुके दर्शन किये। उसी समय महामुनि मैत्रेयजी भी वहाँ पहुँच गये। भगवान्‌ने उन्हें ज्ञानोपदेश दिया और आज्ञा की कि इसे महामुनि विदुरको भी देना। जब उद्धवजीसे यह समाचार सुनकर महामना विदुरजी इनके समीप पहुँचे तो ये बड़े प्रसन्न हुए। उस भगवद्दत्त ज्ञानका जिसे इन्होंने विदुरजीको दिया था वर्णन श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके चौथे अध्यायसे आरम्भ होता है।

महामुनि मैत्रेयका नाम ऐसा है जिसे समस्त पुराणपाठक भली प्रकार जानते हैं। मैत्रेयजी ज्ञानके भण्डार, भगवल्लीलाओंके परम रसिक और भगवान्‌के परम कृपापात्र थे। इनके गुरु महर्षि पराशरने विष्णुपुराण सुनानेके अनन्तर अपनी गुरुपरम्परा बतलाते हुए इनसे कहा कि इस पुराणको, जिसे तुमने मुझसे सुना है, तुम भी कलियुगके अन्तमें शिनीकको सुनाओगे। इस प्रकार ये चिरंजीवी हैं और अब भी किसी-न-किसी रूपमें इस धराधामपर विद्यमान हैं।

अणिमाण्डव्य

प्राचीन कालमें माण्डव्य नामके एक बड़े शान्त, तपस्वी, तेजस्वी, तितिक्षु मुनि थे। उन्होंने शम-दमके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था। वे अपने आश्रमके द्वारपर एक वृक्षके नीचे बैठकर तपस्या किया करते थे। उन्होंने मौनव्रत धारण किया था, एक हाथ ऊपर करके वे तपस्या किया करते थे। उन्हें अपने शरीरका भी भान नहीँ रह गया था। एक बार कुछ चोरोंने मिलकर राजाके महलमें चोरी की। ज्यों ही वे चोरीका धन लेकर महलसे निकले त्यों ही राजाके सिपाहियोंको पता लग गया।

सिपाहियोंने चोरोंका पीछा किया, चोर अपने पीछे राजकर्मचारियोंको देखकर जंगलकी ओर भागे; किन्तु सिपाहियोंने उनका पीछा नहीं छोड़ा, वे जंगलमें भी उनका पीछा करते गये। जब चोर भागते-भागते थक गये तो कहीं छिपनेकी जगह देखने लगे। दैवयोगसे माण्डव्य ऋषिका आश्रम उन्हें मिल गया। जल्दीसे वे धनको इधर-उधर डालकर आश्रममें छिपकर बैठ गये। राजकर्मचारियोंने आश्रमको घेर लिया, आश्रमके द्वारपर ऊर्ध्वबाहु मौनी ऋषिको देखकर कर्मचारी पूछने लगे--'ब्रह्मन्! इधर चोर आये थे, वे कहाँ गये? अभीअभी इधर ही आये थे, उनका पता हमें बताइये।' ऋषि तो मौन थे, उन्होंने राजकर्मचारियोंके प्रश्नका कुछ भी उत्तर नहीँ दिया।

सिपाही धन भी वहीं पड़ा हुआ है । कर्मचारियोंने चोरोंको बाँध लिया, धन भी उठा लिया और ऋषिके पास आये। उन्हें विश्वास हो गया कि यह ऋषिके वेषमें चोरोंका सरदार है, दम्भसे हमें भुलावा देनेके लिये ऐसा वेष बनाये बैठा है। यह सोचकर उन्होंने ऋषिको भी बाँध लिया और सबको राजाके सामने उपस्थित किया। राजाने सब हाल सुनकर आज्ञा दी कि इन लोगोंको सूलीपर चढ़ा दो। राजाकी ऐसी आज्ञा पाकर कर्मचारियोंने ऋषिसहित उन चोरोंको सूलीपर चढ़ा दिया। और सब लोग तो सूलीपर चढ्नेसे मर गये, किन्तु माण्डव्य मुनि सूलीपर चढ़े हुए ही तपस्या करने लगे। सिपाहियोंने जब देखा कि ये तो जीवित हैं, तो सारा वृत्तान्त जाकर राजासे कहा। राजा सब समाचार सुनकर दौड़ा आया। हाथ जोड़कर विनीत भावसे उसने ऋषिकी प्रार्थना की । अपने अपराधको अज्ञानमें किया हुआ बताकर ऋषिसे बार-बार क्षमायाचना की। ऋषि प्रसन्न हुए और उन्होंने राजाको क्षमा कर दिया। तब सूलीको नीचे

उतारकर राजाने उसे ऋषिके शरीरमेंसे निकालना चाहा, किन्तु वह निकली नहीं।

राजा बहुत घबड़ाये, उन्हें कोई उपाय सूझा नहीं । तब विवश होकर राजाने सूलीके फरको कटवा दिया। सूलीकी नोक ' अणि' ऋषिके बदनमें घुसी ही रह गयी। इसलिये उनका नाम ' अणिमाण्डव्य' प्रसिद्ध हो गया। शरीरमें 'अणि' के रहनेपर भी वे घोर तपस्या करते रहे और अपने उग्र तपके प्रभावसे बड़े-बड़े लोकोंको उन्होंने जीत लिया। जब वे तपके प्रभावसे ब्रह्मलोकको चले गये, तब वे एक दिन यमराजके यहाँ गये।

आश्रमको ढूँढने लगे। उन्होंने देखा कि आश्रममें चोर छिपे हुए बैठे हैं और यमराज न्यायासनपर बैठे थे, क्रषिको आया हुआ देखकर उन्होंने उनका सत्कार किया और यथास्थान बिठाया। तब ऋषिने पूछा-- धर्मराज! मुझे जो इतना शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरे कौनसे पापका फल है, क्योंकि बिना उग्र पापके ऐसा दु:ख नहीं मिलता। मैं अपने उस महान् पापको सुनना चाहता हूँ।'

यमराजने कहा--ब्रह्मन! आपने बाल्यकालमें पाप किया था। एक कोडेको बिना बात ही आपने सुईकी नोकसे छेद दिया था। सूई चुभोनेसे जितना कष्ट आपको होता है उतना ही उसे भी हुआ होगा। जैसे थोड़ा पुण्य करनेपर वह बढ़ जाता है, उसी प्रकार थोड़ा पाप करनेपर भी वह बढ़ जाता है। आपने उस कीड़ेके सुईकी नोक चुभोयी थी, उसके बदले आपको सूलीकी नोकका दुःख सहना पड़ा। उसे थोड़ी देर कष्ट हुआ, आपको उसके बदले इतने दिन कष्ट हुआ।'

ऋषिने पूछा--“यह पाप मैंने कब किया था?'

यमराजने कहा--“तब आप बहुत छोटे थे।'

तब ऋषिने कहा-*जब मुझे पाप-पुण्यका ज्ञान ही नहीं था, उस अवस्थामें किये हुए पापका आपने ऐसा घोर दण्ड दिया तो मैं भी आपको शाप देता हूँ कि आप पृथ्वीमें शूद्रयोनिमें जन्म ग्रहण करेंगे।' यमराजने ऋषिके शापको सहर्ष स्वीकार किया। वे ही यमराज विदुरजीके रूपमें पैदा हुए।

एक संत राजा

एक बहुत ही धर्मात्मा राजा था। धर्मपूर्वक राज्य करनेपर यथाकाल उसकी मृत्यु हो गयी। पुण्यात्मा होनेपर भी किसी एक पापका फल भुगतानेके लिये यमदूत उसे सम्मानपूर्वक नरकमार्गसे ले गये। नरकोंका दृश्य देखकर राजाका हृदय दहल गया। वहाँके पीड़ित प्राणियोंका चीत्कार उससे सुना नहीं जाता था। वहाँका दृश्य देखकर ज्यों ही वह यमसेवकोंके साथ नरक छोड़कर जाने लगा त्यों ही नरककी असह्य पीड़ा भोगनेवाले सब-के-सब नरकवासी बड़े जोरोंसे चिल्ला उठे और करुणविलाप करते हुए पुकारकर राजासे कहने लगे-'हे राजन्! आप प्रसन्न होइये।

घड़ीभर आप यहाँ और ठहर जाइये। आपके अंगसे स्पर्श करके आनेवाली हवासे हमें बड़ा ही सुख मिल रहा है, इस सुख-शीतल वायुके स्पर्शमात्रसे हमारी सारी पीड़ा और जलन एकदम जाती रही है और हमपर मानो आनन्दकी वर्षा हो रही है, दया कीजिये!' राजाने यह सुनकर यमदूतोंसे पूछा--' मेरे यहाँ रहनेसे इन लोगोंको सुख मिलनेका क्या कारण है? मैंने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है जिसके कारण इनपर आनन्दकी वर्षा हो रही है?'

यमदूतने कहा-- महाराज! आपने पितृ, देवता, अतिथि और आश्रितोंका भरण-पोषण पहले करके उनसे बचे हुए द्रव्यसे अपना भरण-पोषण किया है, तथा श्रीहरिका स्मरण किया है, इसीलिये आपके शरीरसे स्पर्श की हुई हवासे पापियोंकी पीड़ा नष्ट हो रही है। आपके तेजसे और आपके दर्शनसे पापियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले यमराजके अस्त्र, शस्त्र, तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी, नरकाग्नि आदि सभी तेजोहत होकर मृदु हो गये हैं; इसीलिये नरकवासी पापियोंको इतना सुख मिल रहा है।'

यह सुनकर राजाने कहा--'इनके सुखसे मुझको बड़ा सुख मिल रहा है, मेरी ऐसी मान्यता है कि आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें जो सुख होता है स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें भी वैसा सुख नहीं होता।* यदि मेरे यहाँ रहनेसे इनकी पीड़ा दूर होती है तो दूतो! मैं तो पत्थरकी तरह अचल होकर यही रहूँगा।' राजाकी यह बात सुनकर यमदूतोंने कहा-'चलिये, यह तो पापियोंके नरकभोगकी जगह है। आप यहाँ क्यों रहेंगे? आप अपने पुण्योंका फल भोगिये।' राजाने कहा'जबतक इनका दुःखोंसे छुटकारा नहीं होगा तबतक मैं यहाँसे नहीं जाऊँगा। क्योंकि मेरे यहाँ रहनेसे इन्हें सुख मिल रहा है।

आर्त और आतुर होकर शरण चाहनेवाले शत्रुपर भी जो मनुष्य अनुग्रह नहीं करता उसके जीवनको धिक्कार है! दुखियोंके दुःख दूर करनेमें जिसका मन नहीं है उसके यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी इस लोक और परलोकमें सुखके कारण नहीं होते। बालक, आतुर, दुखी और वृद्धोंके प्रति जिसका चित्त कठोर है, मेरी समझमें वह मनुष्य नहीं, राक्षस है।

इन लोगोंके पास रहनेसे मुझे नारकीय अग्निके तापसे अथवा भूख-प्यासके कारण बेसुध कर देनेवाला महान् दुःख क्यों न भोगना पड़े, इनको सुखी करनेसे मिले हुए उस दुःखको मैं अपने लिये स्वर्गसुखसे भी बढ़कर समझूँगा। मुझ एकके दुःख पानेसे यदि इतने आर्त जीवोंको सुख होता है तो इससे बढ़कर मुझे और क्या लाभ होगा?!

यमदूतोंने कहा,महाराज! देखिये--ये साक्षात् धर्म और इन्द्र आपको ले जानेके लिये यहाँ आये हैं; अब आपको जाना ही पड़ेगा, अतएव पधारिये ।' धर्मने कहा, "राजन्! आपने सम्यक् प्रकारे मेरी उपासना की है, इसीलिये मैं स्वयं आपको स्वर्गमें ले जाऊँगा; आप देर न करें, विमानपर जल्दी सवार हों।' राजाने कहा "हे धर्म! हजारों जीव नरकमें दुःख पा रहे हैं, और मेरे यहाँ रहनेसे इनका दुःख दूर होता है, ऐसी हालतमें मैं यहाँसे नहीं जा सकता।'

इन्द्र बोले-* राजन्! अपनेअपने कर्मफलसे ये पापी लोग नरक भोग रहे हैं। आपको भी अपने कर्मोका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें चलना चाहिये।--इन नरकवासियोंपर दया करनेसे आपका पुण्य लाखों गुना और भी बढ़ गया है। अतएव इस पुण्यफलके भोगके लिये आप स्वर्ग चलिये!' राजाने कहा, "जब मेरे पुण्यसे इनको सुख मिलता है तो मैं अपना सब पुण्य इनको देता हूँ। इस पुण्यसे ये सारे यातनाभोगी पापी नरकसे छूट जायँ।' इन्द्रने कहा, "इससे आपका पुण्य और भी बढ़ गया। आपकी और भी उच्च गति हो गयी! यह देखिये, सारे पापी नरकसे छूटकर जा रहे हैं।'

राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और इन्द्र उन्हें विमानपर चढ़ाकर स्वर्गमें ले गये! नारकी प्राणी सभी राजाके पुण्य-प्रभावसे सद्गतिको प्राप्त हुए।

केशिध्वज और खाण्डिक्य

यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः। तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्॥* महाराज निमिके मृतक शरीरको मथनेसे जो पुत्र हुआ उसका नाम 'मिथिल' पड़ा। बंश चलानेवाले होनेके कारण उनका नाम 'जनक' और विदेह अवस्थामें होनेसे 'विदेह' भी उनकी संज्ञा हुई। उसी जनकवंशमें महारानी सीताजीके पिता महाराज सीरध्वज हुए। महाराज सीरध्वजके प्रपौत्र कृतध्वज और मितध्वज हुए।

कृतध्वजके पुत्रका नाम केशिध्वज और मितध्वजके पुत्रका नाम खाण्डिक्य था। इस बंशमें प्राय: जितने राजा हुए सभी ब्रह्मवादी और ज्ञानी हुए। यह पूरा-का-पूरा वंश ही ब्रह्मवादी वंश हुआ। केशिध्वज और खाण्डिक्य दोनों ही राजा थे। केशिध्वज पृथ्वीमण्डलमें अध्यात्मविद्याके बड़े विख्यात पण्डित थे, उसी प्रकार खाण्डिक्य कर्मकाण्डके जानकार थे। दोनों क्षत्रिय थे, पट्टीदार थे, एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छामें लगे रहते थे।

केशिध्वजने समय पाकर खाण्डिक्यको जीत लिया और उसका राज्य, धन सब अपहरण कर लिया। राज्यच्युत होकर खाण्डिक्य अपने मन्त्री-पुरोहितोंके सहित वनमें चले गये और वहाँ रहकर सुखपूर्वक यज्ञ-यागादि कार्योंमें अपना समय बिताने लगे। उन्हें न राज्यकी चिन्ता थी, न पराजित होनेका दुःख, इसे भगवान्‌की लीला समझकर वे यज्ञ-यागादिद्वारा विष्णुभगवान्‌की आराधनामें लगे रहते थे। केशिध्वज ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी कर्तव्य कर्म समझकर वैदिक यज्ञोंको सदा करते रहते थे।

एक बार वे एक बड़े भारी यज्ञानुष्ठानमें लगे हुए थे कि उनकी धर्मधेनुको (जिसके हविसे यज्ञ-याग होते थे) जंगलमें किसी सिंहने मार डाला। यज्ञमें यह एक बड़ा भारी विघ्न था। राजाने इसका प्रायश्चित्त मुनियोंसे पूछा।

मुनियोंने एक स्वरसे कहा--'इस विषयमें ठीक-ठीक निर्णय हम नहीं दे सकते। इसका पूरा विधान तो इस समय एक ही जानते हैं और उनके समीप आप जा नहीं सकते।'

केशिध्वजने कहा-'मुनियो! आप मुझे बतावें, इसका विधिवत् प्रायश्चित्त कौन जानता है? मैं उनके समीप जरूर जाऊँगा।'

तब ऋषियोंने कहा-*जिसका तुमने राज्य ले लिया है वह तुम्हारा भाई खाण्डिक्य ही इस विषयको भलीभाँति जानता है। वही इसका विधिवत् प्रायश्चित्त बता सकता है।'

केशिध्वजने कहा--'खाण्डिक्यको मैंने जीता है तो क्या हुआ, मैं उनके पास जाऊँगा; यदि वे मुझे मार देंगे तो मुझे वीर क्षत्रियकी गति प्राप्त होगी और यदि उन्होंने मुझे प्रायश्चित्त बता दिया तो मेरा यज्ञ पूरा हो जायगा।' यह कहकर केशिध्वज अपने भाई खाण्डिक्यके समीप प्रायश्चित्त पूछने चले।

वे यज्ञमें दीक्षित थे; अतः काले मृगका चर्म ओढे, हाथमें कुशा लिये हुए वे खाण्डिक्यके पास पहुँचे। खाण्डिक्यने समझा कि यह मुझे मारनेके लिये यहाँ आ रहा है, अतः वे धनुषपर बाण चढ़ाकर युद्धके लिये तैयार हो गये और केशिध्वजको ललकारा। केशिध्वजने कहा--' भाई! बाणको धनुषपरसे उतार लो, मैं युद्ध करनेके लिये नहीं आया हूँ। मेरे यजञमें एक बड़ा भारी विघ्न हो गया है, उसीका प्रायश्चित्त पूछने मैं यहाँपर अकेला तुम्हारे पास आया हूँ।'

खाण्डिक्यने अपने मन्त्री-पुरोहितोंसे सलाह की, उन्होंने कहा--' अच्छा है, "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्'। शत्रु आपके वशमें है, इसे यहीं मारकर आप राज्यके अधिकारी बन जायँ।'

खाण्डिक्यने कहा--' आप सब बात तो नीतिकी कह रहे हैं, किन्तु परमार्थके यह विरुद्ध है। जब वह मेरे पास जिज्ञासु बनकर आया है तो मैं उसकी शंकाका समाधान करूँगा। जब वह युद्धके लिये तैयार नहीं है तो उससे युद्ध करना पाप है।' यह कहकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे कहा-* भाई! तुम आ जाओ और तुम्हे जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछ लो।'

केशिध्वजने आकर धर्मधेनुके मारे जानेकी बात कही और उसका प्रायश्चित्त पूछा। खाण्डिक्यने धर्मशास्त्रके अनुसार उसका विधिवत् प्रायश्चित्त बताया और उसकी सभी क्रियाएँ भी बतायीं। प्रायश्चित्त जानकर केशिध्वज अपने यज्ञमण्डपमें गये और वहाँ जाकर प्रायश्चित्त करके यथाविधि उन्होंने अपने यज्ञको समाप्त किया। ब्राह्मणोंको यथेच्छ दक्षिणा दी।

अन्नदान, भूमिदान, सुवर्णदान, सभी प्रकारके दान दिये। फिर भी राजाको शान्ति नहीं हुई। उन्हें यज्ञमें कोई अभाव-सा खटकने लगा। बहुत सोचनेपर उन्हें ध्यान आया कि मैंने और सब तो किया, किन्तु खाण्डिक्यको गुरुदक्षिणा नहीं दी। यह सोचकर केशिध्वज रथपर सवार होकर धनुष-बाण

धारण करके खाण्डिक्यके पास राजसी ठाटमें पहुँचे। अबकी बार केशिध्वजको सब प्रकारसे सुसज्जित देखकर खाण्डिक्यने समझा कि अवश्य ही यह अबकी बार युद्ध करने आया है।

यह सोचकर वह भी युद्धके लिये तैयार हो गये। केशिध्वजने कहा--' भाई, मैं इस बार भी तुमसे युद्ध करने नहीं आया हूँ। तुमने मुझे जो महान् प्रायश्चित्त बताया था उसीकी गुरुदक्षिणा देने तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हें जो भी अच्छा लगे माँग लो।'

अबके भी खाण्डिक्यने अपने मन्त्री-पुरोहितोंसे सम्मति पूछी। उन्होंने कहा-- क्षत्रियका प्रधान धर्म है प्रजापालन। यह धर्म बन गया तो मानो उसने सब धर्म कर लिये, अतः आप गुरुदक्षिणामें सम्पूर्ण राज्यको माँग लीजिये। इस तरहसे बिना युद्धके राज्य भी हाथ लगेगा और पुनीत क्षत्रियधर्मका भी पालन होगा।'

खाण्डिक्यने कहा--'यह ठीक है । क्षत्रियोंका धर्म तो यही है, किन्तु मैं शक्तिहीन न होता तो वह मुझे पराजित ही कैसे करता। आज मुझे छलसे पृथ्वीका राज्य मिल सकता है। किन्तु मुझे शक्तिहीन समझकर उसे दूसरा ले भी सकता है। मैंने स्वेच्छासे तो क्षात्रधर्मको छोड़ा नहीं है। यदि मैं राज्यके बदले इनसे ब्रह्मविद्या माँगता हूँ तो मेरा परलोक बनता है, शाश्वतपद प्राप्त होता है । अतः मैं इनसे गुरुदक्षिणामें ब्रह्मविद्या ही माँगूँगा।'

खाण्डिक्यने अपने भाई केशिध्वजको सत्कारपूर्वक बुलाया और उनसे कहा--' क्या सचमुच तुम मुझे मनमानी दक्षिणा दोगे ?'

केशिध्वजने कहा-*आप जो भी चाहें माँग लें, मैं इसीलिये आया हूँ। इस समय आप यदि मेरा शिर भी माँगेंगे तो मैं मना नहीं करूँगा, आप निर्भय होकर जो माँगना चाहें माँग लें।'

खाण्डिक्यने कहा--' अच्छा तो तुम देना ही चाहते हो तो मुझे ब्रह्मविद्याका यथावत् उपदेश दो।'

केशिध्वजने कहा-' तुमने मेरा सम्पूर्ण राज्य क्यों नहीं माँग लिया, यह तो क्षत्रियका धर्म है।'

खाण्डिक्यने कहा-'तुम मुझे भुलावा मत दो; मैं इन नाशवान् राज-पाट, धन-ऐश्वर्यको लेकर क्या करूँगा? यदि माँगना ही है तो फिर ऐसी वस्तु क्यों न माँगूँ जिससे सदाके लिये आवागमन और बन्धनसे छूट जाऊँ ?'

खाण्डिक्यका ऐसा उत्तर सुनकर केशिध्वजने उन्हे ब्रह्मविद्याका यथावत् उपदेश दिया। उसे धारण करके खाण्डिक्य कृतकृत्य हुए; मन्त्री, पुरोहित और रानीको अपने पुत्रको सौंपकर वे परमपदको प्राप्त हुए। इधर केशिध्वज निष्काम कर्म करते हुए अपने प्रारब्धके भोगोंको क्षय करके अन्तमें विदेहमुक्तिको प्राप्त हुए।

मयूरध्वज

द्वापरके अन्तमें रत्नपुरके अधिपति महाराज मयूरध्वज एक बहुत बड़े धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त संत हो गये हैं। इनकी धर्मशीलता, प्रजावत्सलता एवं भगवान्के प्रति स्वाभाविक अनुराग अतुलनीय ही था। इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ अनेकों बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, करते ही रहते थे।

एक बार इनका अश्वमेधका घोड़ा छूटा हुआ था और उसके साथ इनके वीर पुत्र ताम्रध्वज तथा प्रधानमंत्री सेनाके साथ रक्षा करते हुए घूम रहे थे। उधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिरका भी अश्वमेधयज्ञ चल रहा था और उनके घोड़ेके रक्षकके रूपमें अर्जुन और उनके सारथि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे। मणिपुरमें दोनोंकी मुठभेड़ हो गयी।

उन दिनों भगवान्के सारथ्य और अनेकों वीरोंपर विजय प्राप्त करनेके कारण अर्जुनके मनमें कुछ अपनी भक्ति तथा वीरताका घमंड-सा हो आया था। सम्भव है इसीलिये अथवा अपने एक छिपे हुए भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिये भगवान्ने एक अद्भुत लीला रची। परिणामतः युद्धमें श्रीकृष्णके ही बलपर मयूरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने विजय प्राप्त किया और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन दोनोंको मूर्च्छित करके वह दोनों घोड़ोको अपने पिताके पास ले गया।

पिताके पूछनेपर मन्तरीने बड़ी प्रसन्नतासे सारा समाचार कह सुनाया किन्तु सब कुछ सुन लेनेके पश्चात् मयूरध्वजने बड़ा खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा कि तुमने बुद्धिमानीका काम नहीं किया। श्रीकृष्णको छोड़कर घोडेको पकड़

या यज्ञ पूरा करना अपना उद्देश्य नहीं है। तुम मेरे पुत्र नहीं बल्कि शत्रु हो जो भगवान्के दर्शन पाकर भी उन्हें छोड़कर चले आये। इसके बाद वे बहुत

पश्चात्ताप करने लगे।

उधर जब अर्जुनकी मूर्छा टूटी तब उन्होंने श्रीकृष्णसे घोड़ेके लिये बड़ी व्यग्रता प्रकट की। भगवान् अपने भक्तकी महिमा दिखानेके लिये स्वयं ब्राह्मण बने और अर्जुनको अपना शिष्य बनाया और मयूरध्वजकी यज्ञशालामें उपस्थित हुए। इनके तेज और प्रभावको देखकर मयूरध्वज अपने आसनसे उठकर नमस्कार करनेवाले ही थे कि इन्होंने पहले ही स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दिया। मयूरध्वजने इनके इस कर्मको अनुचित बतलाते हुए इन्हें नमस्कार किया और स्वागत-सत्कार करके अपने योग्य सेवा पूछी।

ब्राह्मणवेषधारी भगवानने अपनी इच्छित वस्तु लेनेकी प्रतिज्ञा कराकर बतलाया कि "मैं अपने पुत्रके साथ इधर आ रहा था कि मार्गमें एक सिंह मिला और उसने मेरे पुत्रको खाना चाहा। मैंने पुत्रके बदले अपनेको देना चाहा, पर उसने स्वीकार नहीं किया। बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने यह स्वीकार किया है कि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपनी स्त्री और पुत्रके द्वारा अपने आधे शरीरको आरेसे चिरवाकर मुझे दे दें, तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।' राजाने बड़ी प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ली।

उन्हे ऐसा मालूम हुआ कि इस वेशमें स्वयं भगवान् ही मेरे सामने उपस्थित हैं। यह बात सुनते ही सम्पूर्ण सदस्योंमें हलचल मच गयी। साध्वी रानीने अपनेको उनका आधा शरीर बताकर देना चाहा, पर भगवान्ने दाहिने अंशकी आवश्यकता बतलायी। पुत्रने भी अपनेको पिताकी प्रतिमूर्ति बताकर सिंहका ग्रास बननेकी इच्छा प्रकट की, पर भगवान्ने उसके द्वारा चीरे जानेकी बात कहकर उसकी प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी।

अन्तमें दो खंभे गाड़कर उनके बीचमें हँसते हुए और उच्च स्वरसे भगवान्के गोविन्द, मुकुन्द, माधव आदि मधुर नामोंका उच्चारण करते हुए मयूरध्वज बैठ गये और उनके स्त्री-पुत्र आरा लेकर उनके सिरको चीरने लगे। सदस्योंने आपत्ति करनेका भाव प्रकट किया; परन्तु महाराजने यह कहकर कि "जो

मुझसे प्रेम करते हों, मेरा भला चाहते हों, वे ऐसी बात न सोचें।' सबको मना कर दिया।

जब उनका शरीर चीरा जाने लगा तब उनकी बायीं आँखसे आँसूके कुछ बूँद निकल पड़े, जिन्हें देखते ही ब्राह्मण देवता बिगड़ गये और यह कहकर चल पड़े कि 'दुःखसे दी हुई वस्तु मैं नहीं लेता।' फिर अपनी स्त्रीकी प्रार्थनासे मयूरध्वजने उन ब्राह्मण देवताको बुलाकर बड़ा आग्रह किया और समझाया कि ' भगवन्! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि मेरा शरीर काटा जा रहा है; बल्कि बायीं आँखसे आँसू निकलनेका यह भाव है कि ब्राह्मणके काम आकर दाहिना अंग तो सफल हो रहा है, परन्तु बायाँ अंग किसीके काम न आया! बायीं आँखके खेदका यही कारण है।'

अपने परमप्रिय भक्त मयूरध्वजका यह विशुद्ध भाव देखकर भगवान्ने अपने-आपको प्रकट कर दिया। शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज पीताम्बर पहने हुए प्रभुने अभयदान देते हुए उनके शरीरका स्पर्श किया और उनका स्पर्श पाते ही मयूरध्वजका शरीर पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ हो गया। वे भगवान्के चरणोंपर गिरकर स्तुति करने लगे।

भगवान्ने उन्हें सान्त्वना दी और वर माँगनेको कहा। उन्होंने भगवान्के चरणोंमें अविचल प्रेम माँगा और आगे चलकर वे भक्तोंकी ऐसी परीक्षा न लें इसका अनुरोध किया। भगवान्ने बड़े प्रेमसे उनकी अभिलाषा पूर्ण की और स्वयं अपने सिरपर कठोरताका लांछन लेकर भी अपने भक्तकी महिमा बढ़ायी। अर्जुन उनके साथ-हीसाथ सब लीला देख रहे थे।

उन्होंने मयूरध्वजके चरणोंपर गिरकर अपने घमंडकी बात कही और भक्तवत्सल भगवान्की इस लीलाका रहस्य अपने घमंडको चूर करना बतलाया। अन्तमें तीन दिनतक उनका आतिथ्य स्वीकार करनेके पश्चात् घोड़ा लेकर वे दोनों चले गये। और मयूरध्वज निरन्तर भगवान्के प्रेममें छके रहने लगे।

देवहूति

स्वायंभुव मनुकी कन्या और प्रजापति कर्दमकी पत्नी एवं भगवान् कपिलकी माता ही देवहूतिके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस समय भगवान्की आज्ञासे स्वायंभुव मनुने विवाह करनेके लिये भगवान्की आज्ञा प्राप्त किये हुए एवं प्रतीक्षा करते हुए कर्दम ऋषिके आश्रमपर स्वयं उपस्थित होकर अपनी प्रिय पुत्रीको समर्पण किया तब वे बडी कठोर तपस्यामें स्थित थे । परन्तु आदिराज मनुकी सुकुमार पुत्री जरा भी आलस्य न करके निष्कपटभावसे उनकी सेवामें लगी रही । बड़े विश्वास, पवित्रता, गौरव, आत्मसंयम, सेवा, प्रेम एवं मधुर वाणीसे काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप एवं मदको छोड़कर बड़ी सावधानीके साथ वह निरन्तर अपने पतिदेवकी सेवामें लगी रहती।

कुछ दिनोंके बाद उसकी सेवासे प्रजापति कर्दम प्रसन्न हुए और देवहूतिकी इच्छा जानकर एक सर्वांगसुन्दर, सम्पूर्ण भोगविलासकी सामग्रियोंसे युक्त एवं सर्वर्तुसुखद तथा इच्छागामी विमानका अपने योगबलसे निर्माण किया। उस विमानका ऐश्वर्य देखकर जब अपने इस दुबले-पतले और मैले-कुचैले शरीरसे देवहूतिको उसपर चढ़नेकी हिम्मत न हुई तब कर्दमने सामनेके सरोवरमें स्नान करनेका संकेत किया। स्नान करते ही अनेकों प्रकारके वस्त्राभूषण लेकर हजारों दासियाँ आ उपस्थित हुईं और स्वयं देवहूति भी हृष्ट-पुष्ट एवं परम सुन्दरी होकर निकली।

अब कर्दमने भी स्नान किया और वे भी सर्वांगसुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ होकर निकले। इस प्रकार एक साथ ही दोनोंने उस दिव्य विमानपर आरोहण किया और गृहस्थ-धर्मसे निवास करते हुए उन्हें नौ कन्याएँ हुईं। उपयुक्त पतियोंके साथ उनका विवाह करनेके पश्चात् जब विरक्त होकर कर्दम प्रजापतिने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की तब देवहूतिने उन्हें रोक लिया और उसके बाद स्वयं भगवान् उसके गर्भमें आये।

समयपर भगवान् कपिलने अवतार ग्रहण किया और अपने पिता कर्दमको उपदेश किया, वे विरक्त होकर जंगलमें चले गये और सर्वत्र सर्वरूपमय भगवानूका अनुभव करके भगवत्स्वरूप हो गये।

इधर देवहूतिने इन विषयोंकी विषमताका अनुभव कर लिया था। इनकी दुःखरूपता, अनित्यता एवं असत्यताकी बात उसके मनमें बैठ गयी थी। भगवान् कपिलसे उसने अपने उद्धारकी प्रार्थना की एवं उन्होंने योग, ज्ञान

और भक्तिके उपदेश किये। उनके उपदेश भागवतके तृतीय स्कन्धके कई अध्यायोंमें हैं। कल्याणकामी पुरुषको अवश्य उनका अध्ययन करना चाहिये। अन्तमें उन्होंने अपनी माता देवहूतिको भक्तिका उपदेश किया और देवहूतिका अज्ञान दूर कर दिया।

उसकी अनुमतिसे वे तपस्या करनेके लिये अन्यत्र चले गये और वह वहीं सरस्वतीके किनारे उनके आदेशानुसार भगवानका चिन्तन करने लगी। विमान और उसकी भोग-सामग्रियोंको छोड़कर वल्कल धारण किये हुए अपने दुर्बल शरीरसे वह तपस्यामें लग गयी और अब भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु उसके मनमें नहीं आती थी। सारे संसारको भगवान्‌में और भगवानको सारे संसारमे अनुभव करके, वह भगवत्स्वरूपमें ही स्थित रहती थी। उसे अपना शरीर भी भूल गया।

कोई दूसरा उसका पालन-पोषण करता तो होता, नहीं तो यों ही पड़ी रहती। बाल खुले होते, वस्त्र गिर जाता, फिर भी उसे पता नहीं चलता। इस प्रकार कपिलोक्त मार्गसे उसे परम सिद्धि प्राप्त हुई और वह भगवान्‌में स्थित हो गयी | भगवती सरस्वतीके किनारे वह स्थान आज भी सिद्धपद नामसे विख्यात है और साधन करनेवालोंको सिद्धि देनेवाला है।

मदालसा

शुद्धोधसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि ॥ संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां मदालसा वाचमुवाच पुत्रम् ॥* प्राचीन कालमें काशीके एक राजा महापराक्रमी शत्रुजित् नामके थे। उनके पुत्रका नाम ऋतुध्वज था। ब्रह्मवादिनी मदालसा इन्हीं ऋतुध्वजकी पटरानी थीं और विश्वावसु गन्धर्वराजकी पुत्री थीं। इनका ब्रह्मज्ञान जगद्विख्यात है। पुत्रोंको पालनेमें झुलाते-झुलाते इन्होंने ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया था।

उन दिनों गालव नामके एक बड़े भारी तेजस्वी ऋषि महाराज शत्रुजित्के राज्यमें तपस्या करते थे। उनकी तपस्यामें पातालकेतु नामका एक राक्षस बड़ा ही विघ्न करता था। जब ऋषि यज्ञ-याग अथवा नित्यकर्म करते तो पातालकेतु आकर उनके आश्रममें विष्ठा, मूत्र तथा रक्तादिकी वर्षा करता।

इससे ऋषि बड़े दुखी होते। एक दिन किसी दैवी पुरुषने ऋषिको एक घोड़ा देते हुए कहा-' भगवन्! आप इस घोड़ेको लीजिये, इसका नाम कुवलयाश्‍व है।

यह आकाश-पातालमें सब जगह जा सकता है, इसे आप जाकर महाराज शत्रुजित्के राजकुमार ऋतुध्वजको दें । ऋतुध्वज इसपर चढ़कर पातालकेतु तथा अन्यान्य राक्षसोंको मारेगा।' इतना कहकर वह दैवी पुरुष चला गया। ऋषि घोड़ेको लेकर महाराज शत्रुजित्के समीप आये। ऋषिको आया हुआ देखकर महाराजने उनका अर्घ्य, मधुपर्क आदिसे सत्कार किया और आनेका कारण पूछा। ऋषिने सब बातें बताया और वह कुवलयाश्व भी महाराजको दिया।

पहले तो महाराज राजकुमारकी कोमलता और बालकपनेको देखकर हिचके, फिर दैवी आदेश और ऋषिकी आज्ञा समझकर उन्होंने स्वीकार किया । राजकुमार ऋतुध्वजको बुलाकर उन्होंने कहा-"पुत्र! तुम ऋषिकी आज्ञासे इस अश्वपर चढ़कर ऋषिके आश्रमपर जाओ और दुष्ट पातालकेतुको मारो।' पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके राजकुमार घोड़ेपर चढ़कर ऋषिके आश्रमपर पहुँचे। उस समय पातालकेतु सूकरका वेष बनाये इधरउधर आश्रमके समीप घूम रहा था। राजकुमारने उसके

पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया, वह दौड़ते-दौड़ते एक बिलमें घुस गया, कुवलयाश्व भी उसके साथ ही उस बिलमें घुस गया। बिलके भीतर जाकर वहाँ एक बड़ा सुन्दर नगर राजकुमारने देखा। वहाँ जाकर सूकर गायब हो गया, राजकुमार बड़े सोचमें पड़ गये।

एक सखीके संकेत करनेपर वे भीतर गये, बहाँ एक परम सुन्दरी राजकुमारीको उदास मन देखा। राजकुमारका उसपर सहज स्नेह हो गया। उस सखीने बताया कि ये गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री हैं । राक्षस इन्हें चुराकर यहाँ ले आया है और इनके साथ विवाह करना चाहता है, किन्तु इन्होंने अपना विवाह राजकुमार ऋतुध्वजसे करना निश्चय किया है।

राजकुमारने अपना परिचय दिया और नारदजीकी सहायतासे वहीं मदालसा और ऋतुध्वजका गान्धर्वविवाह हो गया। पातालकेतुको मारकर और मदालसाको लेकर कुमार अपनी राजधानीमें आये। महाराजने तथा प्रजाने कुमारका और नववधूका हृदयसे स्वागत किया। राजकुमार मदालसाके साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

एक बार महाराजने राजकुमारसे कहा-- भाई! तुम्हारे पास कुवलयाश्व है। जाओ राज्यमें घूमो, जहाँ राक्षस हों उन्हें मारो। दुष्टोंको दण्ड दो, ऋषियोंको सुख पहुँचाओ।' महाराजकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजकुमार अपने अश्वपर चढ़कर राज्यमें घूमते रहे। पातालकेतुका एक भाई मायावी तालकेतु था। उसने ब्राह्मणका रूप बनाकर छलसे राजकुमारसे एक मणि ले ली, उसे लेकर वह वृद्ध ब्राह्मणके रूपमें महाराज शत्रुजितृकी राजधानीमें पहुँचा और कह दिया कि कुमार तो एक राक्षसके साथ लड़तेलड़ते मर गये।

इस समाचारसे सब लोग बड़े दुखी हुए। मदालसाने भी अग्निमें प्रवेश किया। पीछे जब ऋतुध्वज आये और उन्होंने अपनी पत्नीकी यह दशा सुनी तो वे घोर तप करने लगे। नागराज अश्वतरके उद्योगसे मृत्युंजय शिवजीकी कृपासे कुमारको फिर मदालसा मिल गयी और राजकुमार सुखपूर्वक रहने लगे।

यथासमय महाराज शत्रुजित् स्वर्गवासी हुए। ऋतुध्वज राजा बने। उनके तीन पुत्र हुए; उनके नाम विक्रान्त, सुबाहु और अरिमर्दन थे। तीनोंको महारानीने बाल्यकालमें ही ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया और वे तीनों ही संसारत्यागी संन्यासी बन गये। अब जब चौथे पुत्र अलर्कको भी महारानी ब्रह्मज्ञान सिखाने लगीं तो राजाने कहा-'देवि! इस पितृ-पितामहके चले आये राज्यको कौन करेगा? इसे तो संसारके योग्य रहने दो।' रानीने उनकी बात मान ली। अलर्क राजा हुए और उन्होंने गंगा-यमुनाके संगमपर अपनी अलर्कपुरी नामकी राजधानी बनायी (जो आजकल अरैलके नामसे प्रसिद्ध है)। मदालसाने उसे एक उपदेश लिखकर दिया और कहा कि जब

बड़ी विपत्ति पड़े तब इसे खोलना। एक बार राजाके ऊपर किसी दूसरेने चढ़ाई की। इसे विपत्ति समझकर अलर्कने माताके पत्रको खोला, उसमें ब्रह्मज्ञानका उपदेश था, महाराज उसी समय राज्य उस राजाको सुपुर्द करके वनको चले गये। इस प्रकार योग्य माता मदालसाने अपने चारों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानी बना दिया। धन्य हैं ऐसी ब्रह्मवादिनी माता और धन्य है ऐसी भारतभूमि जहाँ ऐसी-ऐसी माताएँ उत्पन्न हुई।

सुलभा

ब्रह्मवादिनी सुलभाका नाम तो कई जगह आया है, किन्तु उनका कोई विशेष चरित्र नहीं मिलता। महाभारतके शान्तिपर्वमें जनक-सुलभाका संवाद आता है। उसके देखनेसे पता चलता है कि सुलभा परम विदुषी और ब्रह्मवेत्त्री थीं। महाराज जनकजीको इन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय यही बताया कि "मैं उत्तम क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुई हूँ।

"प्रधान' नामके एक राजर्षि थे, मैं उनके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। मेरे पूर्वजोंने बड़े-बड़े यज्ञ-याग किये हैं। मुझे मेरे योग्य पति नहीं मिला है, इसीसे मैं आजन्म ब्रह्मचारिणी हूँ। पतिधर्मका पालन करती हुई मैं मोक्षधर्ममें प्रवृत्त हूँ।'

इससे मालूम पड़ता है कि ये आजन्म ब्रह्मचारिणी रही हैं और संन्यासधर्मका विधिवत् पालन करती रही थीं। उन दिनोंमें महाराज जनकका ब्रह्ज्ञानियोंमें बड़ा नाम था। सुलभाके मनमें स्वाभाविक इच्छा हुई कि महाराज जनक किस प्रकारके ज्ञानी हैं, देखना चाहिये। यह विचारकर उसने संन्यासिनीका वेष त्याग दिया और

योगबलसे एक बहुत ही सुन्दरी युवतीका रूप धारण करके भिक्षाके बहाने राजा जनकके यहाँ पहुँची। महाराजने विधिवत् इनका स्वागत-सत्कार किया, पूजा की और भोजन कराये। पीछे इन्होंने उनसे ब्रह्मज्ञानकी चर्चा छेड़ी। महाराजने अपनी सब दशा सुना दी। राज्य करते हुए मुझे राज्यका मोह नहीं । अग्नि-चन्दनको समान समझता हूँ, मुझे मान-अपमानका ध्यान नहीं। इत्यादि बहुत-सी बातें बतायीं।

तब सुलभाने कहा-- महाराज, आप जो कह रहे हैं सब ठीक है; किन्तु जिन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है फिर वे मौन हो जाते हैं, सब कामोंसे उदासीन होकर एकदम शान्त बन जाते हैं। अभी आपको वादीप्रतिवादी, विजय-पराजय, स्वपक्ष-परपक्षका ध्यान है; शास्त्रार्थ भी करते हैं, पराजय भी करना चाहते हैं, अत: अभी कुछ त्रुटि है।' महाराजने इसे स्वीकार किया। सुलभा एक रात्रि वहाँ रहकर महाराजकी अनुमतिसे अपने आश्रमको चली आयी।

मैत्रेयी

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो पत्नियाँ थीं-एक तो महर्षि भरद्वाजकी पुत्री कात्यायनी थीं, दूसरी 'मित्र' ऋषिकी कन्या मैत्रेयी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी हुई। जब भगवान् याज्ञवल्क्य संन्यास लेने लगे तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंको बुलाकर कहा--'मेरा विचार अब संन्यास लेनेका है; अत: मेरी जो भी सम्पत्ति है उसे मैं तुम दोनोंमें बराबर-बराबर बाँट देना चाहता हूँ, जिससे पीछे झगड़ा न हो। इस विषयमें तुम्हारी क्या सम्मति है सो कहो।'

कात्यायनी यह सुनकर चुप रहीं। तब मैत्रेयीने कहा--' भगवन्! इस नश्वर सम्पत्तिको लेकर हम क्या करेंगी। यह तो क्षणिक है, दूसरे क्षणमें नाश होनेवाली है। हमें तो आप वह सम्पत्ति दें जिसके कारण आप यथार्थ सम्पत्तिवान् समझे जाते हैं। उसी सम्पत्तिकी हमें अधिकारिणी बनाकर उसमेंसे हिस्सा दीजिये।'

याज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीको बहुत समझाया कि सम्पत्तिसे किस तरह संसारमें सुख मिलता है, किस प्रकार बिना धन-सम्पत्तिके असुविधा होती है; किन्तु

मैत्रेयीने उसे स्वीकार नहीं किया। उसने कहा-* भगवन्! संसारी सुखोंका मूल्य ही क्या है? नाशवान् वस्तुके भरण-पोषणमें इतनी चिन्ताकी क्या जरूरत। मुझे तो वह ज्ञान दीजिये जिससे यह सब प्रपंच ही विलीन हो जाय।'

अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नीकी बातें सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य गद्गद हो गये। वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए, प्रसन्न होकर वे बोले-- देवि! तुम मुझे पहलेसे ही बहुत प्यारी थीं, किन्तु आज इस उत्तरको सुनकर तो मैं तुमपर बहुत ही अधिक प्रसन्न हुआ। तुमने मुझे खरीद लिया। देवि! यथार्थ बात यही है, सच्चा धन तो ब्रह्मज्ञान ही है।'

यह कहकर महर्षिने मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया। उपनिषद्का वह उपदेश अद्वितीय है, मैत्रेयी उसे प्राप्त करके कृतार्थ हो गयी। उसने अपना जीवन सफल बनाया और सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि की। यथार्थमें यही तो सच्ची सम्पत्ति है जो भगवती मैत्रेयीने अपने ब्रह्मज्ञानी पतिसे प्राप्त की थी।

सावित्री

सती सावित्री प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी राजर्षि अश्वपतिकी एकमात्र कन्या थीं। अपने वरकी खोजमें जाते समय उसने निर्वासित और वनवासी राजा द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्को पतिरूपसे स्वीकार कर लिया। उनके चरणोंमें अपना हृदय चढ़ा दिया। जब देवर्षि नारदने उनसे कहा कि सत्यवानूकी आयु केवल एक वर्षकी ही शेष है तो सावित्रीने बडी दृढ़ताके साथ कहा--'जो कुछ होना था सो तो हो चुका। हृदय तो बस, एक बार ही चढ़ाया जाता है। उस चढ़ाये हुए हृदयको सती अपने प्राणधनके चरणोंसे कैसे लौटा सकती है ?' माता-पिताने भी बहुत समझाया, परन्तु सती अपने धर्मसे नहीं डिगी!

सावित्रीका सत्यवानके साथ विवाह हो गया। सत्यवान् बड़े धर्मात्मा, माता-पिताके भक्त एवं सुशील थे। सावित्री राजमहल छोड़कर जंगलकी कुटियामें आ गयी। आते ही उसने सारे सस्त्राभूषणोंको त्यागकर सास-ससुर और पति जैसे वल्कलके वस्त्र पहनते थे वैसे ही पहन लिये और अपना सारा समय अपने अन्धे सास-ससुरकी सेवामें बिताने लगी। दिनोंके जाते क्या देर लगती है, वर्ष पूरा होनेको आया। सत्यवानकी मृत्युका दिन निकट आ पहुँचा।

सत्यवान् अग्निहोत्रके लिये जंगलमें लकड़ियाँ काटने जाया करते थे। आज सत्यवान्के महाप्रयाणका दिन है। सावित्री बड़ी चिन्तित हो रही है। सत्यवान् कुल्हाड़ी उठाकर जंगलकी तरफ लकड़ियाँ काटनेको चले। सावित्रीने भी साथ चलनेके लिये अत्यन्त आग्रह किया। सत्यवानूकी स्वीकृति पाकर और सास-ससुरसे आज्ञा लेकर सावित्री भी पतिके साथ वनमें गयी। सत्यवान् लकडियाँ काटनेको वृक्षपर चढ़े, परन्तु तुरंत ही उन्हें चक्कर आने लगा और वे कुल्हाड़ी फेंककर नीचे उतर आये। पतिका सिर अपनी गोदमें रखकर सावित्री उन्हें अपने अंचलसे हवा करने लगी।

थोड़ी देरमें ही उसने भैंसेपर चढ़े हुए, काले रंगके सुन्दर अंगोंवाले, हाथमें फाँसीकी डोरी लिये हुए, सूर्यके समान तेजवाले एक भयंकर देव-पुरुषको देखा। उसने सत्यवान्के शरीरसे फाँसीकी डोरीमें बँधे हुए अँगूठेके बराबर पुरुषको बलपूर्वक खींच लिया । सावित्रीने अत्यन्त व्याकुल होकर आर्त स्वरमें पूछा-' हे देव! आप कौन हैं और मेरे इन हृदयधनको कहाँ ले जा रहे हैं?' उस पुरुषने उत्तर दिया--'हे तपस्विनी! तुम पतिव्रता हो, अतः मैं तुम्हें

बताता हूँ कि मैं यम हूँ और आज तुम्हारे पति सत्यवान्की आयु क्षीण हो गयी है, अतः मैं उसे बाँधकर ले जा रहा हूँ।' तुम्हारे सतीत्वके तेजके सामने मेरे दूत नहीं आ सके, इसलिये मैं स्वयं आया हूँ। यह कहकर यमराज दक्षिण दिशाकी तरफ चल पड़े।

सावित्री भी यमके पीछे-पीछे जाने लगी। यमने बहुत मना किया। सावित्रीने कहा-- जहाँ मेरे पतिदेव जाते हैं या किसीके द्वारा ले जाये जाते हैं वहाँ मुझे जाना ही चाहिये। यह सनातन धर्म है।' यम बार-बार मना करते रहे, परन्तु सावित्री पीछे-पीछे चलती गयी। उसकी इस दृढ़ निष्ठा और पातिव्रतधर्मसे प्रसन्न होकर यमने एक-एक करके वररूपमें सावित्रीके अन्धे सासससुरको आँखें दी, खोया हुआ राज्य दिया, उसके पिताको सौ पुत्र दिये और सावित्रीको लौट जानेको कहा। परन्तु सावित्रीके प्राण तो यमराज लिये जा रहे थे, वह लौटती कैसे? यमराजने फिर कहा कि सत्यवान्को छोड़कर चाहे सो माँग लो, सावित्रीने कहा-यदि आप प्रसन्न हैं तो माँगा कि मुझे सत्यवान्से सौ पुत्र प्रदान करें। यमने बिना ही सोचे प्रसन्न मनसे तथास्तु कह दिया।

वचनबद्ध यमराज आगे बढ़े। सावित्रीने कहा--' मेरै पतिको तो आप लिये जा रहे हैं और मुझे सौ पुत्रोंका वर दिये जा रहे हैं। यह कैसे सम्भव है ?' उसने कहा- “मैं पतिके बिना सुख, स्वर्ग और लक्ष्मी, किसीकी भी कामना नहीं करती। बिना पतिके मैं जीना भी नहीं चाहती ।'

वचनबद्ध यमराजने सत्यवान्के सूक्ष्म शरीरको पाशमुक्त करके सावित्रीको लौटा दिया, और सत्यवान्को चार सौ वर्षकी नवीन आयु प्रदान की। यह है भारतीय सतीत्वशक्तिका अमोघ सामर्थ्य । ऐसा उदाहरण संसारके इतिहासमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

शाण्डिली

प्राचीन कालमें कौशिक नामका एक ब्राह्मण प्रतिष्ठानपुरमें रहता था। वह अत्यन्त क्रोधी, निष्ठुर एवं कोढ़ी था। उसकी पत्नी शाण्डिली पतिव्रता एवं निष्ठावती थी। वह अपने पतिको हर तरहसे प्रसन्न रखनेकी चेष्टा किया करती थी। एक बार वह ब्राह्मण किसी सुन्दरी वेश्याको देखकर उसपर

मोहित हो गया और उसके घर ले चलनेके लिये अपनी स्त्रीसे आग्रह करने लगा। उसकी स्त्रीने पहले तो उसे बहुत समझाया, परन्तु जब वह किसी तरह भी माननेको तैयार नहीं हुआ तो उसे विवश होकर अपने पतिकी आज्ञा माननी पड़ी।

वह अपने पतिको कंधेपर बैठा और साथमें कुछ रुपये लेकर अँधेरी रातमें वेश्याके घरकी तरफ चल पड़ी। रास्तेमें शूलविद्ध अणिमाण्डव्य ऋषि तपस्या कर रहे थे। अँधेरेमें उन्हें उस कोढ़ी ब्राह्मणके पैरका धक्का लगा, जिससे माण्डव्य ऋषिने बिगड़कर शाप दिया कि प्रातःकाल सूर्योदय होते ही इस नराधमका प्राणान्त हो जायगा। अब तो सती घबड़ायी। उसने सोचा कि यदि प्रातःकाल सूर्योदय हो ही नहीं तब तो मेरे पतिके प्राण बच सकते हैं, अन्यथा नहीं; अत: उसने भी अपने पातिव्रतके बलपर कहा कि 'जबतक मैं नहीं कहुँगी सूर्योदय होगा ही नहीं ।' सतीका वचन अन्यथा कैसे हो

सकता था। सूर्यदेवको गति रुक गयी। दस दिनतक सूर्य नहीं उगे। समस्त ब्रह्माण्डमें हाहाकार मच गया। सभी देवता चिन्तित होकर जगत्पिता ब्रह्माजीके पास गये और उनके सम्मुख संसारके इस महान् कष्टका वर्णन किया। ब्रह्माजीने सतीके प्रभावका सारा वृत्तान्त देवताओंको सुनाकर प्रसिद्ध सती अत्रि-पत्नी अनसूयाको प्रसन्न करके इस कष्टका निवारण करनेको प्रार्थना करनेके लिये कहा।

सभी देवता अत्रि-आश्रमपर पहुँचे और अनसूयाजीको अपना दु:ख सुनाया। देवताओंकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर अनसूया जगत्-हितकी इच्छासे उस ब्राह्मणपत्नीके पास जाकर बोलीं-'हे देवि! तुम अपना संकल्प त्याग दो, नहीं तो अकालमें ही प्रलय हो जायगा। सूर्योदय होनेपर तुम्हारे पतिके प्राण त्याग करते ही मैं उन्हें अपनी सतीत्व शक्तिसे पुन: जिला दूँगी और उसका शरीर भी नीरोग हो जायगा।' सतीकी बात सतीने मान ली।

सूर्य उदय हुए, और सूर्योदय होते ही ब्राह्मणका मृत शरीर जमीनपर गिर पडा | श्रीअनसूयाजीके सतीत्वके प्रतापसे वह पुनर्जीवित एवं रोगरहित और युवा बनकर उठ खड़ा हुआ। उसके सारे मानस रोग भी मिट गये। देवतालोग श्रीअनसूयाजी एवं सती शाण्डिलीको नाना प्रकारके वर देकर स्वर्गको चले गये।

सुखिया मालिन

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यकरद्वयम्। फलैरपूरयद्रत्नैः ^ फलभाण्डमपूरि च॥*

क फलभाण्डमपूर जिन्होंने पूर्वजन्मोंमें अनेकों सुकृत कर्म किये हों उन्हें ही कन्हैयाके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। भाग्यहीन तो सुरसरिके समीप रहता हुआ भी प्यासा मरता है, कल्पवृक्षके नीचे भी व्याघ्रादि हिंसक प्राणियोंसे सताया जाता है और सुमेरुके शृंगपर बैठकर भी सम्पत्तिकी इच्छा करनेवाला होता है। श्रीहरिं जिन्हें अपना बनाकर बुद्धियोग देते हैं वे ही उनकी बाँकी झाँकीके असली अधिकारी बन सकते हैं। अन्य द्वेष करनेवाले क्रूरकर्मा पुरुषोंको तो वे आसुरी योनियोंमें फेंक देते हैं, वे मूढ़ पुरुष उन योनियोंमें श्रीचरणोंसे और भी अधिक दूर हटते-हटते इसी संसारचक्रमें घूमते रहते हैं।

वे बड़भागी हैं जिन्हें किसी भी सम्बन्धसे श्यामसुन्दरने अपनाया है । श्यामसुन्दरको बात-बातपर नचाना, धमकाना और यहाँतक कि बाँध देना यह भी एक गूढ़ स्नेह है। अतः--'येन केन प्रकारेण मनः कृष्णो निवेशयेत्।' --जैसे भी बने तैसे ही उन मुरलीमनोहरके विषयमें चित्त लगे यही परमपुरुषार्थ है। यही अन्तिम साध्य और यही दुर्लभ मनुष्ययोनिका सर्वोत्तम फल है। मथुराकी एक सुखिया नामकी मालिन व्रजमें सागभाजी तथा फल-फूल बेचनेके लिये आया करती थी।

नन्हें-से साँवरेकी सलोनी सूरतपर वह आसक्त थी। मुरलीमनोहरकी मनोहर मूर्ति उसके मन-मन्दिरमें सदा बनी रहती और वह भावोंके पुष्प चढ़ाकर अहर्निश उनकी अर्चा-पूजा करती रहती। श्यामसुन्दर उसके मनोभावको जानते थे, किन्तु उसके अनुरागको बढ़ानेके निमित्त उससे बोलते नहीं थे। वह जब भी आती तभी आप खेलनेके बहाने बाहर निकल जाते।

वह बेचारी मन मसोसकर रह जाती और मन-ही मन कहती--' श्यामसुन्दर! तुम इतने निष्ठुर क्यों हो? जो तुम्हें चाहते हैं, उनसे तुम दूर भागते हो और जो तुमसे वैर करते हैं उन्हें प्रसन्नतासे पास बुला लेते हो। तुम्हारी इस वक्रताका असली रहस्य क्या है, इसे

कौन जान सकता है।'

मालिनके मनसे मदनमोहन कभी दूर हटते ही नहीं थे, किन्तु शरीरसे सदा अलग ही रहते, मानो वे उससे डरते हों। मालिन घंटों नन्दभवनमें बैठी रहती, किन्तु नंदलालके साथ आजतक उसका कभी संलाप नहीं हुआ। कभी उस विहारीने मालिनकी ओर हँसकर नहीं देखा।

प्रेमकी कुछ उलटी ही रीति है, प्रेमी ज्यों-ज्यों अपनी ओरसे उपेक्षाके भाव दिखाता है, अनुरागके भाव त्यों-ही-त्यों अधिकाधिक उमड़ने लगते हैं। प्रेमका स्वारस्य वियोगहीमें है। विकलता उस आनन्दका परिवर्धन करती है। बेदना ही उसका फल है, 'चाह' ही उसतक पहुँचाती है। मालिनका मन अब दूसरी जगह न जाकर सदा नन्दके आँगनमें ही चक्कर लगाने लगा।

वैसे तो मालिन साग-पात बेचकर मथुरा चली जाती, किन्तु उसका मन गोकुलमें ही रह जाता। प्रातःकाल उठते ही वह मनकी खोजमें फिर गोकुल आती और मनमोहनकी मन्द-मन्द मुसुकानके साथ अपने मनको क्रीड़ा करते देखकर वह अपने आपेको भूल जाती।

उसका शरीर साँवलेकी सुन्दर रक्तवर्णकी पतलीपतली उँगलियोंको स्पर्श करनेके लिये सदा उत्सुक रहता। मनकी भी एकमात्र यही साध थी कि मेरे रहनेका घर भी श्यामसुन्दरके सुखद स्पर्शसे पावन बन जाय | जब मालिनकी चाह पराकाष्ठाको पहुँच गयी, जब उसे संसारमें मोहनके सिवा कुछ भी नहीं दीखने लगा तब फिर मोहनके मिलनमें क्या देर थी । मोहन तो चाहनेवालोंसे दौड़कर लिपरनेवाले हैं, किन्तु वह चाह हो असली। अब मालिनकी चाहमें किसी प्रकारका आवरण नहीं रहा, उसकी चाह मोहनमयी बन गयी।

एक दिन वह मोहनकी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करती हुई ब्रजमें आवाज दे रही थी 'फल ले लो री 'फल'। सम्पूर्ण फलोंके एकमात्र दाता श्रीहरि मालिनसे फल खरीदनेके लिये घरसे दौड़े। अरुण रंगके छोटेछोटे दोनों हाथोंमें धान्य भरकर वे जल्दी-जल्दी हाँफ हुए मालिनकी ओर आ रहे थे। कोमल करोंकी सन्धियोंमेंसे अनाज बिखरता हुआ चला आता था। मोहन उस मालिनसे फल लेनेको अधीर थे, मालिनका मन भी मोहनमय बना हुआ उस अवर्णनीय दृश्यमें तन्मय था।

चिरकालकी साधको पूरी होते देखकर मालिन अपने आपेको भूल गयी । कन्हैयाके परमदुर्लभ कोमल करस्पर्शके सुखके लिये अधीर हुई उस मालिनने कमलकी पँखुड्योंके समान खिले हुए उन दोनों जुड़े हुए हाथोंको

फलोंसे भर दिया। अहा! उस समय उसकी क्या दशा हुई होगी, उसका वर्णन कौन-सा कवि अपनी कविताद्वारा करनेमें समर्थ हो सकता है। श्यामसुन्दरके लिये उसने सर्वस्व समर्पण कर दिया। सम्पूर्ण अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हरिने भी प्रेमके अमूल्य मोतियोंसे उसके रिक्त भाण्डको भर दिया।

मालिनका जीवन सफल हुआ, उसने साधारण 'फल देकर फलोंका भी फल, दिव्यफल प्राप्त किया। मनमोहनका ध्यान करते-करते वह उन्हींकी नित्यकिंकरी हो गयी। प्रभुने उसे अपना लिया। उसी दिनसे वह धन्य हो गयी।

संकर्षण

शास्त्रॉमें भगवान्के पंचविध स्वरूप माने गये हैं। इनमेंसे एक रूप व्यूहके नामसे परिचित है। यह रूप सृष्टि, पालन और संहार करनेके लिये, संसारी जनोंका संरक्षण करनेके लिये और उपासकोंपर अनुग्रह करनेके लिये ग्रहण किया जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, ये चार व्यूह हैं। वास्तवमें संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं-वासुदेव तो व्यूहमण्डलमें आकर व्यूहरूपमें केवल गिने जाते हैं। इनमेंसे संकर्षण जीवतत्त्वके अधिष्ठाता हैं।

इनमें ज्ञान और बल, इन दो गुणोंकी प्रधानता है। यही शेष अथवा अनन्तके रूपमें पातालमूलमें रहते हैं और प्रलयकालमें इनके मुखमेंसे संवर्तक नाम अग्नि प्रकट होकर सारे जगत्को भस्म कर देती है। यही भगवान् आदिपुरुष नारायणके पर्यकरूपमें क्षीरसागरपर रहते हैं। ये अपने सहस्र मुखोंके द्वारा भगवानका निरन्तर गुणानुवाद करते रहते हैं और अनादिकालसे ऐसा करते रहनेपर भी कभी अघाते या ऊबते नहीं। ये भक्तोंके परम सहायक हैं।

और जीवको भगवान्की शरणमें ले जाते हैं । इनकी सारे देवता वन्दना करते हैं और इनके बल, पराक्रम, प्रभाव और स्वरूपको जानने अथवा वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, नाग

आदि कोई भी इनके गुणोंकी थाह नहीं लगा सकते; इसीसे इन्हें अनन्त कहते हैं। ये पंचविध ज्योतिःसिद्धान्तके प्रवर्तक माने गये हैं ।

ये सारे विश्वके आधारभूत भगवान् नारायणके विग्रहको धारण करनेके कारण सब लोकोंमें पूज्य और धन्यतम कहे जाते हैं। ये सारे ब्रह्माण्डको अपने मस्तकपर धारण किये रहते हैं। ये भगवान्के निवास, शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, पादपीठ, तकिया तथा छत्रके रूपमें शेष अर्थात् अंगीभूत होनेके कारण 'शेष' कहलाते हैं त्रेतायुगमें श्रीलक्ष्मणके रूपमें और द्वापरमें श्रीबलरामके रूपमें यही अवतीर्ण होकर भगवान्की लीलामें सहायक होते हैं। ये भगवानूके नित्य परिकर, नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं।

वैनतेय

ये भी भगवानूके अन्य परिकरोंकी भाँति नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं। ये वेदोंके अधिष्ठातृदेवता एवं वेदात्मा कहे जाते हैं, अतएव इन्हें शस्त्रॉमें सर्वज्ञ भी कहा गया है। इनका भगवानूके दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान एवं व्यजनके रूपमें वर्णन आता है। श्रुतिमें इन्हें 'सर्ववेदमयविग्रह' कहा - बृहद्रथ और रथन्तर नामक सामवेदके दो भेद ही इनके दो पंख हैं और उड़ते समय इन पंखोंसे सामगानकी ध्वनि निकलती है ।२ ये भगवानके नित्यसंगी हैं और सदा उनकी सेवामें रत रहते हैं।

इनके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि इनकी पीठपर भगवान्के चरण सदा स्थापित रहते हैं, जिससे उनके चमड़ेपर घट्ठा-सा पड़ गया है।१ श्रीमद्भागवतमें एक जगह वर्णन आता है कि गया है। यह सौभाग्य इन्हींको प्राप्त है। भगवान् उच्छिष्ट प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार भी इन्हींको मिला हुआ है। असुरादिकोंके साथ युद्धमें भगवान् इन्हें अपने सेनापतिका पद देकर अपना सारा भार इनपर छोड़ देते हैं, क्योंकि ये भगवानूके अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक हैं। इनका जन्म कश्यप और विनतासे हुआ था, अतएव ये वैनतेय कहलाते हैं। भगवानूने गीतामें इन्हें

अपनी विभूति बतलाया है। ये भी भगवान्के नित्य परिकर होनेके नाते भक्तोंके सर्वस्व एवं महान् सहायक हैं। अष्टादश पुराणान्तर्गत गरुडपुराण इन्हींके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्की कृपा एवं प्रेरणासे इन्होंने ही इस पुराणका कथन कश्यपजीके सामने किया था और उसीको फिर व्यासजीने संकलनकर प्रसिद्ध किया।

चक्रिक भील

द्वापरयुगमें चक्रिक नामका एक संतस्वभाव भील वनमें रहता था। भील होनेपर भी उसके आचरण बहुत ही उत्तम थे। वह मीठा बोलनेवाला, क्रोध जीतनेवाला, अहिंसापरायण, दयालु, दम्भहीन और माता-पिताकी सेवा करनेवाला था। यद्यपि उसने कभी शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया था तथापि उसके हृदयमें भगवान्की भक्तिका आविर्भाव हो गया था। वह सदा हरि, केशव, वासुदेव और जनार्दन आदि नामोंका स्मरण किया करता था। बनमें एक भगवान् हरिकी मूर्ति थी।

वह भील वनमें जब कोई सुन्दर फल देखता तो पहले उसे मुँहमे लेकर चखता, फल मीठा न होता तो उसे स्वयं खा लेता और यदि बहुत मधुर और स्वादिष्ठ होता तो उसे मुँहसे निकालकर भक्तिपूर्वक भगवान्के अर्पण करता। वह प्रतिदिन इस तरह पहले चखकर स्वादिष्ठ फलका भगवानुके श्रद्धासे भोग लगाया करता। उसको यह पता नहीं था कि जूठा फल भगवान्के भोग नहीं लगाना चाहिये। अपनी जातिके संस्कारके अनुसार ही वह सरलतासे ऐसा आचरण किया करता।

एक दिन वनमें घूमते हुए भीलकुमार चक्रिकने एक पियाल वृक्षके एक पका हुआ फल देखा। उसने फल तोड़कर स्वाद जाननेके लिये उसको जीभपर रखा। फल बहुत ही स्वादिष्ठ था। परन्तु जीभपर रखते ही वह गलेमें उतर गया। चक्रिकको बड़ा विषाद हुआ, भगवान्के भोग लगानेलायक अत्यन्त स्वादिष्ठ 'फल खानेका वह अपना अधिकार नहीं समझता था।

“सबसे अच्छी चीज ही भगवान्को अर्पण करनी चाहिये' उसकी सरल बुद्धिमें यही सत्य समाया हुआ था। उसने दाहिने हाथसे अपना गला दबा लिया कि जिससे फल पेटमें न चला जाय। वह चिन्ता करने लगा कि “अहो! आज मैं भगवान्को मीठा फल न खिला सका, मेरे समान पापी और कौन होगा!' मुँहमें अँगुली डालकर उसने वमन किया, तब भी गलेमें अटका हुआ फल नहीं निकला। चक्रिक श्रीहरिका एकान्त सरल भक्त था, उसने भगवान्की मूर्तिक समीप आकर कुल्हाड़ीसे अपना गला एक तरफसे काटकर फल निकाला और भगवान्के अर्पण किया।

गलेसे खून बह रहा था। पीड़ाके मारे व्याकुल हो चक्रिक बेहोश होकर गिर पड़ा। कृपामय भगवान् उस सरलहृदय शुद्धान्तःकरण प्रेमी भक्तकी महती भक्ति देखकर प्रसन्न हो गये और चतुर्भुजरूपसे साक्षात् प्रकट होकर कहने लगे-“इस चक्रिकके समान मेरा भक्त कोई नहीं, क्योंकि इसने अपना कण्ठ काटकर मुझे फल प्रदान किया है। मेरे पास ऐसी क्या वस्तु है जिसे देकर मैं इससे उऋण हो सकूँ? इस भील-पुत्रको धन्य है! मैं ब्रह्मत्व, शिवत्व या विष्णुत्व देकर भी इससे उऋण नहीं हो सकता।'

इतना कहकर भगवान्ने उसके मस्तकपर हाथ रखा। कोमल करकमलका स्पर्श होते ही उसकी सारी व्यथा दूर हो गयी और वह उसी क्षण उठ बैठा! भगवान् उसे उठाकर अपने पीताम्बरसे, जैसे पिता अपने प्यारे पुत्रके अंगकी धूल झाड़ता है, उसके अंगकी धूल झाड़ने लगे। चक्रिकने भगवानको साक्षात् अपने सम्मुख देखकर हर्षसे गद्‌गदकण्ठ हो मधुर वाक्योंसे उनकी स्तुति की।

भगवान् उसकी स्तुतिसे बड़े सन्तुष्ट हुए और उसे वर माँगनेको कहा! सरल भक्तने कहा- है परब्रह्म! हे परमधाम!! हे कृपामय परमात्मन्!!! जब मैंने साक्षात् आपके दर्शन प्राप्त कर लिये तो मुझे और चरकी क्या आवश्यकता है? परन्तु हे लक्ष्मीनारायण! आप वर देना ही चाहते हैं तो कृपाकर यही वर दीजिये

कि मेरा चित्त आपमें ही अचलरूपसे लगा रहे!

असुर गुडाकेश

बहुत पहले सृष्टिके प्रारम्भमें ही महासुर गुडाकेश ताँबेका शरीर धारण करके चौदह हजार वर्षतक अडिग श्रद्धा और बड़ी दृढ़ताके साथ भगवान्‌की आराधना करता रहा। उसकी निश्चयपूर्ण तीव्र तपस्यासे सन्तुष्ट होकर भगवान् उसके रमणीय आश्रमपर प्रकट हुए। तपस्यानिरत गुडाकेश भगवानको देखकर कितना आनन्दित हुआ, यह बात कही नहीं जा सकती। शंख-चक्रगदाधारी, चतुर्बाहु, पीताम्बर पहने, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए भगवान्के चरणोंपर गिर पड़ा।

उसके सारे शरीरमें रोमांच हो आया, आँखोंसे आँसू बहने लगे, हृदय गद्गद हो गया, गला रुँध गया और वह उनसे कुछ भी बोल नहीं सका। थोड़ी देरके बाद जब कुछ सम्हला तब अंजलि बाँधकर, सिर झुकाकर भगवान्के सामने खड़ा हो गया। भगवान्‌ने मुस्कराते हुए कहा--' निष्पाप गुडाकेश! तुमने कर्मसे, मनसे, वाणीसे जिस वस्तुको वांछनीय समझा हो, जो चीज तुम्हें अच्छी लगती हो, माँग लो।

मैं आज तुम्हें सब कुछ दे सकता हूँ।' भगवान्की बात सुनकर गुडाकेशने विशुद्ध हृदयसे कहा--' भगवन्! यदि आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हैं तो ऐसी कृपा करें कि मैं जहाँ-जहाँ जन्म लूँ, हजारों जन्मतक तुम्हारे चरणोंमें ही मेरी दृढ़ भक्ति बनी रहे। भगवन्! एक बात और चाहता हूँ। तुम्हारे हाथसे छूटे हुए चक्रके द्वारा ही मेरी मृत्यु हो और जब चक्रसे मैं मारा जाऊँ तब मेरे मांस, मज्जा आदि ताँबेके रूपमें हो जायँ और वे अत्यन्त पवित्र हों। उनकी पवित्रता इसीमें है कि उनमें भोग लगानेसे तुम्हारी प्रसन्नता सम्पादित

हो(अर्थात् मरनेपर भी हमारा शरीर तुम्हारे ही काममें आवे) ।' भगवान्ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा 'तबतक तुम ताँबा होकर ही रहो। यह ताँबा मुझे बड़ा प्रिय होगा। वैशाख शुक्ल द्वादशीके दिन मेरा चक्र तुम्हारा वध करेगा और तब तुम सर्वदाके लिये मेरे पास आ जाओगे।' यह कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। और वह मनमें इस उत्सुकताके साथ बड़ी तपस्या करने लगा कि कब वैशाख शुक्ल द्वादशी आवे और कब अपने प्रियतमके हाथोंसे छूटे हुए चक्रके द्वारा हमारी मृत्यु हो, जो मुझे उनके प्यारसे भी मीठी होगी ।

अन्ततः वह द्वादशी आ गयी। बड़े उत्साहके साथ उसने भगवानको पूजा की और प्रार्थना करने लगा-मुञ्च मुञ्च प्रभो चक्रमपि वह्निसमप्रभम्। आत्मा मे नीयतां शीघ्रं निकृत्याङ्गानि सर्वशः॥ “हे प्रभो! शीघ्रातिशीघ्र धधकती हुई आगके समान जाज्वल्यमान चक्र मुझपर छोड़ो, अब विलम्ब मत करो। नाथ! मेरे शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके मुझे शीघ्रातिशीघ्र अपने चरणोंकी सन्निधिमें बुला लो।'

अपने भक्तकी सच्ची प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने तुरन्त ही चक्रके द्वारा उसके शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके अपने पास बुला लिया और अपने प्यारे भक्तका शरीर होनेके कारण वे आज भी ताँबेसे बहुत प्रेम करते हैं और वैष्णवलोग बड़े प्रेमसे ताँबेके पात्रमें भगवान्‌को अर्घ्यपाद्यादि समर्पित करते हैं। इसीके मलसे सीसा, लाख, काँसा, रूपा और सोना आदि भी बने हैं। तभीसे भगवानको ताँबा अत्यन्त प्रिय है।

बनस्पति-योनिके संत

श्रीरामवृक्षजी

अयोध्याजीमें अशोकवनमें एक सुन्दर श्यामवृक्ष था। छोटे-छोटे पत्ते थे। घनी आनन्दप्रद छाया थी। छोहारेके समान मीठे फल लगते थे, जो अत्यन्त पुष्टिकारक होते थे। फूल इन्दीवरके समान बड़े ही सुन्दर होते थे। उन्हें देखनेसे आँखोंको रोशनी मिलती थी, सेवनसे यक्ष्माका नाश होता था। उसकी लता बच्चोंकी दवा थी--दाँत सहज ही निकल आते और “हाँका' से बचाव रहता। उसकी सुखद छायामें सतत बैठनेसे मूर्ख बुद्धिमान्, दरिद्री सम्पत्तिवान् और साधक सिद्ध हो जाता था।

जो मामला कहीं नहीं निपटता था, वह उसकी छायामें न्याय करनेसे निपट जाता था। उसकी छालको कहींसे भी हटाइये, तो भीतर रामनाम लिखा हुआ पढ़ लीजिये-श्रीहनुमानजीके शरीरकी तरह वृक्षके सर्वांगमें महामन्त्र लिखा हुआ था। यह आश्चर्यकी बात अवश्य है, परन्तु है सोलहो आने ऐतिहासिक सत्य। इसीसे जनताने उस वृक्षविशेषका नाम 'रामनामी वृक्ष' अथवा

'रामवृक्ष' रख दिया था। दूर-दूर देशोंके लोग उसे देखनेके लिये आते थे और परीक्षा करके चमत्कृत होते थे। उसकी जड़में जो गुणविशेष था उसे संत लोग ही जानते थे, परन्तु किसीको बताते नहीं थे।

श्रीरामवृक्षजी सच्चे संत थे। भगवानकी कुंजोंमेंवनोंमें जो वृक्ष, लताएँ, पत्ते अद्यावधि विद्यमान हैं, वे सच्चे संत हैं। उन्होंने दिव्यधाममें अखण्ड वास पाया है। भावुक भक्त ऐसा ही समझते भी हैं। श्रीरामवृक्षजीने नर-रूप धारण किये बिना ही स्वतः पल्लवोंको हिलाकर सात कथाएँ कही हैं; उनमें सात सतियोंके चरित हैं, जो अपूर्व हैं, अत्यन्त प्राचीन तत्त्वपूर्ण कथाएँ हैं। इसी आर्या-सप्त-सतीकी एक कथा 'कल्याण' के साधारण अंकमें, *शिवांक' निकलनेके पीछे प्रकाशित हुई थी, जिसे सबने पसन्द किया था। आज उन्हींकी कहीं हुई दूसरी सतीकी कथा कहनेका उपक्रम करता हूँ।

महाभारतके पीछेकी बात है। महाराज धृतराष्ट्रको ज्ञानोपदेश देनेके लिये महात्मा विदुरके अनुरोधसे सनत् "सुजात' (श्रीसनत्कुमारजी) का आगमन हुआ था। राजाको बोध कराकर जब वे ब्रह्मलोकको जाने लगे, तब देवर्षि नारदजीके संकेतपर वे श्रीरामनवमीपर्वस्नानके निमित्त अयोध्याजी चले आये। उस वर्ष मेषसंक्रान्तिके भीतर श्रीरामनवमी पड़ी थी। अतः महत्त्वपूर्ण थी। प्रायः सुर, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, नाग, रक्ष, सभी श्रेणीके देवगण पधारे थे।

स्नान-ध्यानके अनन्तर सब देवगण तो चले गये, परन्तु सनत्सुजातका मन नागकेसर-वनमें रम गया। उन्होंने वहाँ आसन जमाया और दिव्य विभूतिपर मुग्ध होकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके आराधनमें तत्पर हो गये। मधुमास तो समाप्त हो गया था, माधवका भी कृष्णपक्ष बीत गया। शुक्लपक्षकी नवमी अर्थात् श्रीजानकीनवमी आ पहुँची। उस दिन उन्होंने देखा कि एक नववयस्का तपस्विनी लट छटकाये, दोनों हाथ झाड़ती हुई आयी और उनकी परिक्रमा करने लगी।

कर-झटकारमें सैकड़ों मोतियों और हीरे-जवाहिरोंकी ढेर लग जाती थी। किन्तु ज्यों ही उनपर सनतूजीकी दृष्टि पड़ती वे अदृश्य हो जाते। सात प्रदक्षिणाएँ पूरी हुई स्तुति हुई-"संत ही सुखधाम हैं, अत्यन्त वे निष्काम हैं। रामभक्त ललाम हैं, अथवा स्वयं श्रीराम हैं॥'

अनन्तर जब वह चरणस्पर्श करनेके लिये सनत्जीकी ओर झुको, तब बाल भगवानूने हाथ जोड़ दिया। वे बोले, "माता! मैं आपका बच्चा हूँ। आपके वात्सल्यका भिखारी हूँ। दयामयी! आप ऐसा न करें। आप तपस्विनी,

अयोध्यावासिनी एवं दिव्यविभूतिसम्पन्ना हैं। आपका चरणतीर्थ पान करने आया हूँ। क्षमा करें।'

तपस्विनी हट गयी और बोली--'जो इच्छा हो वर माँगिये, जो इच्छा हो लीजिये। श्रीरामजन्मोत्सवकी बधाईमें आप अयोध्याजी पधारे हैं, तो आपको कुछ उपहार ग्रहण करना चाहिये। और मुझे संतसेवाहीमें आनन्द आता है। फिर संकोच छोड़कर जो इच्छा हो कहिये ।'

सनतूजीने कहा--'माताका प्यार ही बच्चेके लिये अलम् है। इच्छा तो यही है कि आपके ही श्रीमुखसे आपका सुन्दर वृत्तान्त सुनूँ, बस यही।'

देवीने कहा-आप मुनिराज हैं, भगवत्-स्वरूप हैं, आप मेरा वृत्तान्त जानते ही हैं। फिर भी आप मुझे ही अपनी राम-कहानी कहनेकी आज्ञा देते हैं तो सुनिये। स्वारोचिष मन्वन्तरमें विनध्योत्तर देशमें तुलसीवनिकामें मेरा जन्म हुआ। राजकुमारी हुई, राजसुखमें पली और राजसिंहासनपर राजदण्ड धारण करके आसीन हुई। परन्तु हे मुनिराज! न जाने क्यों कभी मेरा मन हर्षित नहीं हुआ।

इसी तरह नन्दपर्वतपरसे गिरी, समुद्रमें डूब गयी, अवर्षणकालमें केवल वायुसेवन करके बारह वर्ष रही, परन्तु कभी दुःखित नहीं हुई। जब अपनी अजीब प्रकृतिका मुझे स्वयं अनुभव हुआ, तब मैं स्वेच्छासे इस आदिपुरमें चली आयी और जहाँ आप देखते हैं, यहीं रहने लगी। एक दिन आपकी ही तरह संत अमरेन्द्रजी यहाँ आये। वे अन्वेषणकार्यमें तत्पर थे। वे ऐसा हृदयहीन प्राणी खोजते थे, जिसपर सुख-दुःखका कुछ भी प्रभाव न पड़ता हो। मुझसे मिले। मैंने स्वीकार किया कि वैसा हदयहीन प्राणी मैं ही हूँ। यह सुनकर संत बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने कहा-- तुम्हारा हृदय मुझे गोदावरी-तीर्थमें प्राप्त हुआ था और यह आज्ञा हुई थी कि इसको तुम्हारे पास पहुँचा

दूँ। अस्तु, इसे ले लो और यथास्थान इसे लगा दो।'

मैंने अपना हृदय ले लिया और धारण कर लिया। मुनिराज तो चले गये, किन्तु मुझे अब प्रत्येक घटनापर, दिन-रातके नैमित्तिक कार्यमें सुख-दुःखका अनुभव होने लगा और पूर्वस्थितिका स्मरण करके मैं अपनी वर्तमान स्थितिपर चिन्तित रहने लगी। दैनिक व्यवहारमें दुःखकी मात्रा ही अधिक रहनेके कारण मेरा सारा समय दुःखहीमें कटने लगा। अब मैं यही सोचा

करती कि कोई व्यक्ति मेरा हृदय अपहरण कर लेता तो तज्जनित सुख-दुःखके पचड़ेसे छुट्टी मिलती।

इसी वनमें, इसी चिन्तामें, मैं बैठी हुई थी कि एकबारगी मेरी दृष्टि घोड़ोंकी सरपट चालपर आकर्षित हुई। देखा कि दो राजकुमार घोड़ोंपर सवार होकर शिकार खेलने जा रहे हैं। वे बड़े ही सुन्दर थे, एक श्याम और दूसरे गोरे। वे कठिन धनुर्धर थे। श्यामकिशोरने तो विशाल भूकुटिको चाप, बरौनीको प्रत्यंचा और दृष्टिको ही बाण बनाकर उसे मेरे दुःखपूर्ण हृदयमें ऐसा बाण मारा कि मैं विक्षिप्त हो गयी।

दशा सँभलनेपर मैं पूर्वस्थितिमें कुछ-कुछ आ गयी | सुख-दुःखरूपी द्वन्द्से छुट्टी मिली। परन्तु एक तीसरी बात हो गयी। मेरा तिकोनिया हृदय, जो साँवरेके दृष्टिबाणसे विद्ध हो गया था, त्रिशंकुकी तरह आकर्षणसूत्रमें टँग गया। उसके साथ मैं भी लटक गयी। पात-पातमें, बात-बातमें, सन्ध्या-प्रभातमें, घातप्रतिघातमें वही साँवरा दिखायी देता है। मैं पूछती हूँ कि तुम कौन हो? वह कहता है--'मैं वासुदेव हूँ।'

मैंने कहा--' मेरे प्राणप्यारे ! अपना पूरा परिचय तो बता दो और पता-ठिकाना भी जतला दो, ताकि पूछतीपूछती तुमतक पहुँच जाऊँ।'

तब वह बोला-'प्रियतमे! मैं परम वासुदेव राम हुँ, और दशरथात्मज राम, भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण चार अंशसे परिपूर्ण हूँ। मैं वशिष्ठगोत्री हूँ, रघुवंशी हू मैं सभी प्राणियोंको अपनी अलौकिक ज्योतिद्ठारा आच्छादित किये हूँ। इसलिये मेरा नाम "वासुदेव है। मैं देवकी-पुत्र कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण हूँ, घोर आंगिरसगोत्री हूँ, यदुवंशी, वृष्णिवंशी एवं हूँ। सूर्यके रूपमें रहकर मैं अपनी किरणाँसे स संसारको ढके हुए हँ. और सभी प्राणियोंका अधिवास होनेसे भी मेरा नाम वासुदेव है। मैं धर्मपुत्र, कृष्ण, हरि, नर और नारायण हूँ। अच्युतगोत्री हूँ, मन्त्रद्रष्टा हूँ   ऋग्वेदीय अष्टम मण्डलान्तर्गत ८९ के सूक्तका मन्त्रकार हूँ, कार्ष्णायन गोत्रका आदि ऋषि हूँ। मैंने अपने अलौकिक तपसे सम्पूर्ण जगतूको स्तम्भित कर दिया है, सम्पूर्ण प्राणियोंको सत्त्वगुणसे ढक लिया है, जिससे सभी प्राणी सुखके आधारसे परिपूर्ण हों।

मैं अन्तर्यामी, प्रत्यगात्मा, तैजस और वैश्वानर हूँ, यज्ञपुरुष हूँ, कर्मबुद्धीश्वर हूँ, उचित कर्मफलदाता हूँ । मैंने संतत यज्ञसे संसारको आच्छादित कर लिया है, जठराग्नि हवनकुण्ड है, पित्त और वायु समिधा हैं,

बुभुक्षा अग्निशिखा है, भोजन-कौर आहुति है। इसी यज्ञमें सब प्राणी सतत संलग्न हैं।

“प्रियतमे ! मैंने अपना परिचय बहुत-कुछ दे दिया। संकेत बता दिया साकेतधाममें पहुँचनेके प्रस्थानोंका। कुछ सुस्पष्ट बातें भी बता देता हूँ। जाने रहो कि मैं सदा तुम्हारे पास रहता हूँ, खाता-पीता-सोता हूँ । तुम्हारे जितना निकट मैं हूँ उतना निकट तुम्हारा मन भी नहीं है। परन्तु तू मुझे स्पर्श नहीं करती, न देखती है, न आँख मिलाती है; कुछ सुनती है, कुछ अनसुनी कर देती है। मैंने तेरे हदयको अपनी ओर अच्छी तरह खींच लिया है। अब हृदय-से-हृदय मिलनेमें केवल दो अंगुलका अन्तर है। इस कसरके मिटते ही तू मुझमें समा जायगी। अंकमाल बन जायगी।'

सनत्-' माता! तू धन्य है और मैं भी धन्य हूँ कि आज तेरे दर्शनसे कृतार्थ हो गया। मैं बालक हूँ। तेरी गोदमें बैठकर उस परम वासुदेव श्रीरामकी दिव्य झाँकी

करनेकी इच्छा रखता हूँ। इस सुधापानसे ही तृप्त होना चाहता हुँ। वास्तवमें जो 'चतुर्व्यूह', “चतुर्भुज' और “चतुर्मुख' के रहस्यको समझ जाता है, वही तो द्विभुज श्यामसुन्दरके साक्षात् दर्शनसे सनाथ होकर परमवैष्णवपदपर प्रतिष्ठित होता है। इसी हेतुसे बालस्वभावचावसे मैंने तेरी आत्मकथा तेरे ही मुखसे सुननेका वर माँगा था। हे वरदात्री! तूने इस कंगालको निहाल कर दिया।

जिस गहन तत्त्वके प्रस्फुटीकरणमें विधाता भी कुशल नहीं हैं, वही रहस्यात्मक तत्त्व तेरी आत्मकथामें प्रातःकालीन कमलकी तरह विकसित है। देवि! अब क्यों विलम्ब कर रही हो? दो अंगुलकी कसर मिटनी चाहिये। दो अँगुलियोंसे चुटकी बजाते हुए साकेतकी दक्षिणवाहिनी *विरजा' में स्नान करके उत्तरवाहिनी

सरयूमें सती हो जा। यही तो परमगति है।' उसी समय वह देवी दो अँगुलियोंसे चुटकी बजाकर “विरजा' में स्नान करके द्वन्द्वातीत, त्रिगुणातीत होकर सरयूमें प्रविष्ट होकर, धधकती हुई योगज्चाल-

शिखामें भस्मसात् हो गयी। सती हो गयी। संत ' श्रीरामवृक्षजी' कुलवन्तराय प्रधानसे दूसरी सतीकी पवित्र कथा समाप्त करते हुए कहने लगे कि जहाँ देवीने चुटकी बजायी थी वह पवित्र स्थल *चुटकी-देवी' के नामसे प्रसिद्ध

तीर्थ है। इस स्थानके सेवन, पूजन, मज्जन, रंजन करनेसे सब प्रकारके मनोरथ पूर्ण होते हैं। संत 'श्रीरामवृक्षजी' और सतीकी जय!

नृसिंह मुनि

नृसिंह मुनिके बाल्यकाल, माता-पिता आदिका कुछ पता नहीं चलता। कहते हैं कि समस्त वेद-वेदांग, पुराण आदिका अध्ययन कर लेनेपर भी इन्हें शान्ति नहीं मिली; तब ये वास्तविक सुख और सच्ची शान्तिके अन्वेषणमें घरसे निकल पड़े और अनेक देशदेशान्तरोंमें भटकते रहे, परन्तु इन्हें संत सद्गुरुकी प्राप्ति नहीं हुई।

अन्तमें हारकर ये भगवान्से प्रार्थना करने लगे। भगवान्की प्रेरणासे ये शुकदेव मुनिके आश्रमपर पहुँच गये। उस समय वे ध्यानमें मग्न थे। पद्मासन लगाकर समस्त प्राणोंको समान करके मन, वाणी और बुद्धिके परे परमतत्त्व--परब्रह्मस्वरूपमें स्थित थे। उनकी समाधिमें विघ्न न हो इस दृष्टिसे मुनिने बड़ी शान्तिके साथ धौरेसे उन्हें नमस्कार किया और समाधि टूटनेकी प्रतीक्षा करने लगे।

उस समय इनके मनकी विचित्र दशा थी। सारा संसार इनकी आँखोंके सामने नाच रहा था। इसकी क्षणभंगुरता, अनित्यता और असत्ताके विचार बार-बार इनके मनमें आ रहे थे। इनके हृदयमें इस बातकी बड़ी उत्कण्ठा थी कि कब शुकदेवजी महाराज उठेंगे और अपनी कृपासे मुझे कृतकृत्य करेंगे।

अपने अधिकारकी ओर दृष्टि जानेपर इन्हें बड़ी निराशा भी होती थी। धीरे-धीरे इनके अन्दर शान्ति आने लगी।आश्रमके प्रभावसे इनका मन एकाग्र होने लगा और ये एकटक श्रीशुकदेवजीके श्यामवर्णके सुगठित किशोर अवस्थावाले शरीरकी ओर देखने लगे। अब शुकदेवकी इस ब्राह्मणको उठा लिया। अधिकार देखकर योग, ज्ञान आदिकी सांग और सरहस्य दीक्षा दी। यद्यपि शुकदेव निःसंग और निःस्पृह थे, तथापि सम्प्रदायमर्यादाका उच्छेद न हो इसलिये नृसिंह मुनिको शिष्यके रूपमें स्वीकार कर लिया। ये बहुत दिनोंतक कन्द-मूल-फल आदिके द्वारा उनकी सेवा करते रहे।

इनकी तपस्या इतनी बढ़ी थी कि एक बार उसे देखकर इन्द्र भी घबड़ा उठे। इन्हें इसका क्या पता कि ये निःस्पृह ऋषि स्वर्गराज्यकी तो क्या बात, ब्रह्मलोककी भी अभिलाषा नहीं रखते-यदि स्वयं इन्हें प्राप्त हो जायँ तो तिरस्कार कर दें। अन्तमें उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराएँ भेजी गयीं; परन्तु इनके प्रभावसे डरकर वे स्वयं लौट गयीं। काम भी इन्हें अपने अधीन 'करनेकी इच्छासे वसन्तके साथ आया, परन्तु इनके ललारसे सूर्यकी भाँति निकलती हुई ज्योतिको देखकर इन्हें साक्षात् शंकर समझकर दूरसे ही नमस्कार करके स्वर्ग चला गया।

इनकी वह अखण्ड तपस्या आज भी पूर्ववत् चल रही है। वह अपने मोक्ष या कल्याणके लिये नहीं हैये तो नित्यमुक्त कल्याणस्वरूप ही हैं, परन्तु इनकी यह तपस्या जगत्के कल्याणके लिये है। ये आज भी अधिकारी पुरुषोंको दर्शन दे सकते हैं। आकाशमार्गसे चलकर कभी-कभी हमारे घर भी अतिथिके रूपमें आ जाते होंगे, पर हमारे ऐसे भाग्य कहाँ कि उन्हे समाधि खुल गयी। उन्होंने अपने चरणोंपर गिरते हुए | पहचान सकें।

महेश मुनि

नृसिंह मुनिकी भाँति महेश मुनिके सम्बन्धमें भी अधिकांश बातोंका पता नहीं चलता। ये बचपनसे ही बड़े शान्त और गम्भीर थे। इनके सामने कोई बात आ जाती तो ये उसपर इतना विचार करते और उसका एक ऐसा निश्चय करते कि बड़े-बड़े लोग दंग रह जाते। इनकी शरणागति, योग्यता और जिज्ञासा देखकर नृसिंह मुनिको बडी प्रसन्नता हुई। उन्होंने इन्हें सम्प्रदायके सम्पूर्ण रहस्य, योग, ज्ञान आदिका उपदेश किया। इनकी तत्परता, लगन और निष्ठा देखकर जब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि ये कृतकृत्य हो गये तब उन्होंने आकाशमार्गसे स्वच्छन्द विचरणके लिये प्रस्थान किया।

उनके जानेपर महेश मुनिने विचार किया कि यद्यपि हमें कोई कामना नहीं है, फिर भी किसी एक स्थानपर रहकर तपस्या करनेसे उसके प्रति आसक्ति बढ़ जाती है और इनद्रादिके मनमें व्यर्थकी आशंका होने लगती है कि ये मेरे

राज्यके लिये तपस्या कर रहे हैं। अतः किसी एक स्थान, एक व्यक्ति और एक वस्तुसे सम्बन्ध करना ठीक नहीं।

यह सोचकर ये विचरने लगे। एक रात्रिसे अधिक कहीं निवास नहीं करते। लोगोंको दुखी देखकर इनके मनमें बड़ी दया आयी। इन्होंने अपने संकल्प और उपदेशसे अनेकों पुरुषोंका कल्याण किया, इनकी तपस्या बड़ी उग्र थी। इन्हें देखकर मालूम होता मानो ये दूसरे शंकर ही हैं। वास्तवमें इनका 'महेश' नाम सार्थक था। सभी सिद्ध संत जैसे समय-समयपर अपनेको प्रकट करते हैं वैसे ही ये भी कभी-कभी करते हैं। प्राय: गुप्त रहकर अपने संकल्पसे ही जगतका मंगलविधान किया करते हैं।

भास्कर योगी

भास्कर योगी बचपनसे ही बड़े मननशील थे। इनमें योगके यम और नियम स्वभावसिद्ध थे। किसी बातपर विचार करने बैठते तो घंटों एक आसनसे बैठे विचार करते रहते, पता ही न चलता कि श्वास चल रहा है या नहां। खाना-पीना बिल्कुल भूल जाते। जब इन्हें इस जगत्की दुःखरूपताका बोध हुआ तब इन्होंने संत सद्गुरु महेश मुनिकी शरण ग्रहण की ।

इन्हें स्वभावत: शान्त, नम्र, शरणागत देखकर उन्होंने जीव और परमात्माकी एकता समझायी। उसके श्रवणमात्रसे इनका अज्ञान मिट गया। मनन-निदिध्यासन तो इन्होंने मर्यादाकी रक्षाके लिये किया। ये चाहे किसी भी स्थितिमें रहते इनकी वृत्तियाँ ब्रह्माकार ही रहतीं।

महेन्द्र मुनि

पहलेके कई सदगुरुओंकी भाँति इनके जन्मकर्मका रहस्य भी मालूम नहीं होता। इनकी सिद्धियाँ प्रख्यात थीं। ये अपने योगबलसे असम्भवको भी सम्भव कर दिखाते। परन्तु सिद्धियोंसे इन्हें संतोष नहीं हुआ। इनके हृदयमें

जिस ज्ञानामृतकी प्यास थी वह सिद्धियोंसे शान्त होनेवाली नहीं थी। इन्होंने भास्कर योगीकी शरण ली। इन्हें साधनसम्पन्न, विरक्त और जिज्ञासु देखकर उन्होंने उपनिषदोंके रहस्य--तत्त्वज्ञानका उपदेश किया।

अन्तःकरण तो शुद्ध था ही, सद्गुरुकी कृपा हो गयी, अब क्या चाहिये, पूर्ण बोधकी उपलब्धि हो गयी। अब ये निर्भय होकर जगतूके दुखी प्राणियोंको शान्ति देनेके लिये विचरने लगे।

एक बार स्वच्छन्द विचरण करते समय इनकी दयादृष्टि संन्यासियोंपर पड़ गयी । इन्होंने देखा कि जिस कामिनी, कांचन और कीर्त्तिका त्याग करके, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे ऊपर उठकर इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था, इनका वह त्याग कहाँ गया। क्या संन्यासका उद्देश्य केवल चार्वाकपन्थियोंकी भाँति इस जीवनको आरामसे दुनियाकी मौज लूटनेमें बिताना ही है? यदि ज्ञान हुआ तो क्या आश्रमधर्मके विरुद्ध पाखण्डको प्रश्रय दिया जा सकता है?

यदि ज्ञान नहीं हुआ तो उसके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहकर गुरुसेवा, जप, नित्यकर्म आदिके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके ज्ञानका अधिकारी बनना चाहिये या यों लोगोंमें अपनेको महात्मा घोषित करके पुजाना चाहिये ? इत्यादि बहुत-सी बातें उन दयालु महात्माके मनमें आयीं और उन्होंने डाँटते हुए उन संन्यासिवेषधारी पाखण्डियोंको 'फटकारा-“मूर्खो! तुमने संन्यास क्यों लिया है? इसका उद्देश्य पेटपूजा है या मोक्ष? यदि मोक्ष है तो वह ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

ज्ञान श्रवणे होता है-और श्रवण महात्माओंकी सेवा तथा जिज्ञासासे होता है। इसलिये संन्यास लेकर तुम्हें सद्गुरुकी शरण ग्रहण करके श्रवण करना चाहिये। यों पेटपूजामें लगकर अपने जीवन और पवित्र आश्रमको नष्ट मत करो।'

इनकी बात सुनकर पहले तो वे दम्भी लोग बड़े रुष्ट हुए। परन्तु पीछे इनकी योगशक्ति, प्रभाव और ज्ञान देखकर सब-के-सब इनकी शरणमें आये और इन्होंने बड़े प्रेमसे उन्हें अपनाकर उनका जीवन सुधारा। उन्हें ज्ञान-विज्ञानका उपदेश देकर संन्यासधर्मपर आरूढ़ रहनेकी शिक्षा दी। इनके उपदेशोंसे, मूक तपस्या और संकल्पसे बहुतोंका कल्याण हुआ।

माधवानन्द

संसारसे स्वाभाविक विरक्ति होनेके कारण माधवने बचपनमें ही संत सद्गुरु महेन्द्र मुनिकी शरण ली। इनके हृदयकी पवित्रता, शुद्ध बुद्धि और विनम्रता देखकर उन्होंने इन्हें सम्प्रदायकी मर्यादाकी रक्षाके लिये शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इनकी अविचल श्रद्धा, सच्ची सेवा और वास्तविक तत्त्वजिज्ञासा देखकर उन्होंने इन्हें रहस्यज्ञानका उपदेश किया। उनकी कृपामात्रसे ये कृतकृत्य हो गये। समस्त वेद, उपनिषद् आदिका सार रहस्य इनकी समझमें
आ गया और ये सारे जगतका अहैतुक कल्याण कलमें लग गये।

इन्होंने स्वाभाविक ही कृपापरवशताके कारण अनेकों व्यक्तियोंका उद्धार किया। इनके एक प्राचीन सूक्ति है कि “जैसे माधव श्रीकृष्णने कृपा करके दैत्योंसे भयभीत देवताओंको बचा लिया, वैसे ही सिद्धवर माधवने भी अज्ञानरूपी राजाके विकट भट काम क्रोधादिसे सताये हुए प्राणियोंको बचाकर सदाके लिये उन्हें उनके शासनसे पृथक् कर लिया।

जिष्णुदेव

माधवानन्दके सम्प्रदायप्रवर्तक शिष्य जिष्णुदेव थे। इनकी तपस्या, शील आदिसे सन्तुष्ट होकर उन्होंने इन्हें शिष्यके रूपमें स्वीकार किया था। उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद इनके हदयमें सच्ची शान्तिका अनुभव हुआ। इनके चेहरेपर इनकी तपस्या, तेजस्विता और एक अद्भुत ज्योति जगमगाती रहती थी। इन्हे किसी वस्तुकी कामना तो थी ही नहीं, विषयोंके सामने आनेपर भी उनकी ओरसे आँख बंद कर लेते थे। इनके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना समान थे।

इन्होंने सोचा, अब कलियुगका जमाना है। कोई योग्य अधिकारी तो है नहीं, किसको उपदेश करें। अतः अब एकान्तमें चलकर भजन करना चाहिये।

इनकी उपरति, आत्मनिष्ठा और भगवत्प्रेम देखकर लोग इन्हे शुकदेव कहने लगे थे। ये लोगोंसे अधिक मिलना पसंद नहीं करते थे-इसलिये सुदूर गौड़ प्रदेशके एक कोनेमें जाकर भगवद्‌भजनमें लग गये। जगतूके कल्याणके लिये अब भी वे सहज भजनमें तल्लीन रहते हैं।

गौडपाद

शुकदेवके आश्रमके पास एक भूपाल नामका ग्राम था। उसमें विष्णुदेव और गुणवती नामके ब्राह्मणदम्पती निवास करते थे। वे ब्राह्मण धन-धान्य, वेद-शास्त्र आदिसे सर्वथा सम्पन्न थे। देवता-अतिथियोंके पूजा-सत्कारमें उनकी बड़ी प्रीति थी। वे अपनी शक्तिभर दूसरोंकी भलाई करते थे। उनकी अवस्था ढलती जा रही थी। अबतक पुत्र नहीं हुआ था, इससे चिन्तित होकर वे एक दिन शुकदेवके आश्रमपर पहुँचे। उस सिद्‌ध स्थानपर जाकर एक आसनसे बैठे रहकर बिना अन्न-जलके सात दिनतक वे बड़ी श्रद्‌धा-भक्तिसे गायत्रीजप करते रहे।

अन्तिम दिन शुकदेवकी गुहासे एक आवाज सुनायी पड़ी--' ब्राह्मण! तुम्हें एक बड़ा यशस्वी पुत्र प्राप्त होगा। वह सर्वज्ञ और सर्वसिद्‌धिसम्पन्न होगा। सभी सिद्‌ध उसका सम्मान करेंगे।' शुकदेवकी यह वाणी सुनकर वे बड़ी प्रसन्नतासे घर लौटे और समयपर उन्हें सूर्यकी भाँति कान्तिमान् पुत्र उत्पन्न हुआ। पिताने जातकर्म करके उसका 'शुकदत्त' नाम रखा। पाँच वर्षकी अवस्थामें शुकदत्तने समस्त वेद-वेदांग, शास्त्र आदिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

अब वे परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये शुकदेवके आश्रमपर गये। गुहाके सामने एक दिन-रात बिना अन्न-पानीके खड़े रहे। दूसरे दिन गुहाके अंदरसे आवाज आयी कि--'बालक! तुम गौडदेशमें जाओ, वहीं मेरे सम्प्रदायके सद्‌गुरु हैं। उनका नाम जिष्णुदेव है, वे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे । संसारमें तुम्हें लोग मेरा अर्थात् शुकदेवका शिष्य कहेंगे। अभी मेरे दर्शनका समय नहीं आया है। जिष्णुदेवसे उपदेश पानेके पश्चात् तुम मुझे सर्वव्यापीके रूपमें देख सकोगे ।'

शुकदेवकी वाणी सुनकर बालक शुकदत्त अपने माता-पिताके पास आये और उनसे सब बातें निवेदन करके गौडदेशकी यात्रा की। पहले तो माता-पिताने बड़ा हठ किया, उनके साथ लग गये; परन्तु शुकदत्तने दूसरा पुत्र होनेकी बात कहकर उन्हें घर लौटा दिया। पाँच वर्षके बालक शुकदत्त अकेले पैदल चलकर गौडदेशमें पहुँचे और वहाँ लोगोंसे पूछकर वे जिष्णुदेवके गुहाद्वारपर उपस्थित हुए।

जिष्णुदेवके पूछनेपर इन्होंने अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। साक्षात् शुकदेवकी आज्ञा सुनकर जिष्णुदेवने इन्हें परमज्ञानका उपदेश किया और समस्त योग, सिद्धि, मन्त्रोके रहस्य इन्हें बता दिये। ये वेदान्तके परम विद्वान्, सिद्ध और सद्गुरु थे। ये शुकदेवके आश्रमसे चलकर पैदल ही गौड्देशमें गये थे, इसलिये इनका नाम गौडपाद पड़ा। किसी-किसी सज्जनने इनके 'गौडपाद' नाम और नैष्कर्म्यसिद्धिके एक श्लोकका मनःकल्पित अर्थ करके इन्हें गौडीय सिद्ध किया है, परन्तु यह ठीक नहीं है।

इन्हें शुकदेवकी कृपासे सर्वत्र उनके दर्शन हुआ करते थे। स्मरण करते ही वे इनके सामने आ जाते। लोगोंकी मन्द प्रज्ञा और अल्पायु आदि देखकर इन्होंने विचार किया कि अब सब लोग उपनिषदोंका चिन्तनमननादि पूर्णतः नहीं कर सकते और मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार एकमात्र माण्डूक्यके अध्ययनसे कल्याण हो सकता है, अतः माण्डूक्यका रहस्य सर्वसाधारणपर

प्रकट किया जाय । इसीलिये इन्होंने माण्डूक्य उपनिषद्प कारिकाकी रचना की। यह माण्डूक्यकारिका वेदान्तका अप्रतिम ग्रन्थ है। इसपर शंकराचार्यने बड़ा विशद भाष्य किया है। कहते हैं कि एक दिन जब शंकराचार्य गंगातटपर आत्मचिन्तनमें लगे थे तब गौडपादजी उनके पास पधारे। शंकरने ससम्भ्रम उठकर उनकी अभ्यर्चना की ।

तत्पश्चात् गौडपादकी आज्ञासे उन्होंने इन्हें अपना भाष्य दिखलाया। देखकर उनके परमगुरुने बडी प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने शंकराचार्यसे वर माँगनेका आग्रह किया, परन्तु आचार्यने आत्मचिन्तनके अतिरिक्त और कुछ माँगनेसे अस्वीकार कर दिया। इसपर उनकी प्रसन्नता और भी बढ़ गयी। वे इन्हें आशीर्वाद देकर यथेच्छ चले गये।

गौडपादके और कई भी ग्रन्थ देखे जाते हँ--जैसे सांख्यकारिकाका भाष्य और उत्तरगीताका भाष्य । परन्तु कई विद्वान् इन ग्रन्थोंको उनका नहीं स्वीकार करते । इनके समयके सम्बन्धमें भी बड़ा मतभेद है। कोई इन्हें विक्रम संवत्से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व मानते हैं और कोई बाद। परन्तु अबतक

शंकराचार्यके समयपर ही मतैक्य न होनेके कारण इनके समयका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता।

गोविन्द भगवत्पाद

इन्होंने बचपनमें ही आचार्य गौड़पादकी शरण ली थी और उनकी कृपासे सिद्धिलाभ कर लिया था। ये नर्मदातटपर एकान्तमें ही रहते थे। ये आत्मचिन्तनमें ही सर्वदा संलग्न रहते थे, जान पड़ता है इसीसे इन्होंने किसी ग्रन्थका निर्माण नहीं किया। जिस समय शंकराचार्य इनके पास संन्यास ग्रहण करनेके लिये गये, उस समय ये एक गम्भीर गुहाके अन्दर बैठे थे।

शंकरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर इन्होंने उनसे पूछा-तुम कौन हो ? शंकरने ' चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्' आदि उत्तर दिया। इसपर प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें सम्प्रदायागत उपदेश किया। इनका सम्बन्ध व्यास आदिसे था। यह बात इस प्रकार प्रकट होती है कि जब इनके समाधिस्थ होनेपर नर्मदामें भयंकर बाढ़ आयी तब गुरुकी समाधि न टूटे, इसलिये शंकरने उसका जल कमण्डलुमें भर लिया।

धीरे-धीरे गोविन्द भगवत्पादको इस बातका पता चल गया। उन्होंने शंकरसे कहा कि एक बार वेदव्यास उपनिषदोंका व्याख्यान करके रहे थे-तब मैंने पूछा कि "महर्षे! आपने ब्रह्मसूत्रोंका भी भाष्य क्यों नहीं बना दिया?' इसके उत्तरमें व्यासदेवने कहा कि ' भाष्य बनानेका काम तुम्हारे उस शिष्यपर है जो नर्मदाका सारा जल अपने कमण्डलुमें भर लेगा।

भैया! तुम साधारण पुरुष नहीं हो, अब काशी जाकर भाष्यका निर्माण करो।' शंकर चले गये।इनके समयका भी ठीक पता नहीं। गौडपाद और शंकरके बीच समय ही ऐतिहासिक दृष्टिसे इनका उचित समय जान पड़ता है।

मैं यहाँ एक बात बड़ी नम्रतासे निवेदन करना चाहता हुँ, वह यही है कि इन सिद्ध संतोंका ऐतिहासिक दृष्टिसे समय निर्णय करना ठीक नहीं जँचता। कारण, इन्होंने कालपर विजय प्राप्त किया है, इनका शरीर भी चिन्मय हो

गया है। ये कालके मापके अंदर नहीं आ सकते। व्यास उधर धृतराष्ट्र और पाण्डुके पिताके रूपमें हैं तो इधर मण्डनमिश्रके घर भी पधारते हैं।

शुकदेव व्यासके पुत्रके रूपमें भी हैं और चरणदासको ज्ञानोपदेश भी करते हैं। गौडपाद शुकदेव और शंकर दोनॉसे ही मिलते हैं। इनकी आयुका भी हमलोगोंकी भाँति ही सौ-पचास वर्षका औसत लगा लिया जाय तो यह संत-शरीरकी अनभिज्ञता ही होगी । अतः सनकादिसे लेकर गोविन्दपादतकके सिद्ध संत-सदगुरुओंको समय और इतिहासके ऊपर मानना ही न्याय होगा।

विष्णुस्वामी

धर्मराज युधिष्ठिरके संवत् २५०० व्यतीत हो | आराधना करके विष्णुस्वामीको पुत्ररूपमें प्राप्त किया जानेपर अर्थात् विक्रमसे ६०० वर्ष पूर्व द्रविडदेशके एक | था। कोई-कोई इनका समय विक्रमके बाद या मानते हैं! क्षत्रिय राजाके मन्त्री भक्त ब्राह्मणने भगवानूकी बड़ी भगवद्विभूतिस्वरूप होनेके कारण बचपनमें ही इनमें विष्णुस्वामी अलौकिक गुण प्रकट हुए थे ।

इनकी जैसी अद्भुत प्रतिभा थी वैसा ही सुन्दर शरीर भी था। यज्ञोपवीतसंस्कारके अनन्तर थोडे ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण वेद-वेदांग, पुराणादिकोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त कर लिया। 'यो यदंशः स तं भजेत्' के नियमानुसार अब ये परम सुखके अन्वेषणको ओर अग्रसर हुए। इन्होने मर्त्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकपर विचार किया, परन्तु इन्हें इनके अभीष्ट वस्तुके दर्शन न हुए।

अन्ततः इन्होंने उपनिषदोंकी शरण ली । बृहदारण्यक उपनिषद्के अध्याय ४ के ब्राह्मण ४ में "स वा एष महानज आत्मा....सर्वस्य वशी' से लेकर ' एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' तक जो वर्णन हुआ है उसीके अनुसार ईश्वरका निश्चय करके इन्होंने उपासना प्रारम्भ कर दी।

इनका निश्चय दृढ़ था। प्रभुके साक्षात्कारपर इन्हें पूर्ण विश्वास था। इनकी उपासना बहुत दिनोंतक बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-सी चलती रही, परन्तु अभिलाषा पूर्ण न हुई।

अब इन्होंने भगवद्वियोगमें अन्न-जलका त्याग कर दिया, परन्तु भगवत्सेवा पूर्ववत् चलती रही। छः दिन बीत गये, शरीर शिथिल पड़ गया, परन्तु उत्साहमें न्यूनता नहीं आयी। सातवें दिन इनकी विरहव्यथा इतनी तीव्र हो गयी कि इन्हें एक-एक क्षण कल्पके समान जान पड़ने लगा, जीना भाररूप हो गया, तब इन्होंने अपने शरीरको विरहाग्निमें जला देनेका निश्चय किया।

इसी समय इनका हृदय प्रकाशसे भर गया और भगवत्प्रेरणासे आँखें खुलनेपर इन्होंने 'सन्तं बयसि कैशोरे' आदि श्लोकोंमें वर्णित किशोराकृति, वेणुवादनतत्पर, शृंगाररसमूर्ति, पीताम्बरधारी, सखीद्वयसेवित, त्रिभंगललित भगवान् श्यामसुन्दरका सुर-मुनिदुर्लभ दर्शन प्राप्त किया। उस समय इनकी जो दशा हुई वह सर्वथा अवर्णनीय है आनन्दपूर्ण हृदयसे इन्होंने भगवान्के चरणकमलोंपर सिर रख दिया एवं पुलकित शरीरसे अश्रुधारा बहाते हुए वहीँ लोटने लगे।

भगवान्‌ने इन्हें निज करकमलोंसे उठाकर हृदयसे लगाया एवं इनके सिर तथा पीठपर हाथ फेरकर कृतार्थ किया। थोड़ी देर बाद सम्हलकर, अंजलि बाँधकर इन्होंने भगवान्‌की स्तुति की। इनके मनमें उपनिषदोंके अभिप्रायके सम्बन्धमें कुछ सन्देह था, अतः उसका निवारण करनेके लिये भगवान्‌ने इन्हें अपने गुस्यतम तत्त्वका रहस्य बताया। भगवान्ने कहा-“अपने मनमें इस सन्देहको तो स्थान ही मत दो कि मुझ पुरुषोत्तम भगवान्के, जो तुम्हारे सामने साकाररूपसे साक्षात् प्रत्यक्ष होकर बात कर रहा हुँ, अतिरिक्त भी कोई दूसरा तत्त्व है।

मैं इसी साकाररूपसे एक, अद्वितीय त्रिविधभेदशून्य, अनिर्वचनीय परम तत्त्व हूँ। माया, जगत् आदि कुछ नहीं, सब मैं-ही-मैं हूँ। जितने विरुद्ध धर्म दीखते हैं सब मुझमें हैं। मैं ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्बिशेष सब कुछ हूँ। अतः यह शंका छोड़कर सर्वभावसे मेरा ही भजन करो।'

इसके पश्चात् विष्णुस्वामीसे भगवान्की बहुत देरतक बातचीत होती रही। इन्होंने आग्रह किया कि अब आप अन्तर्धान न हों, सर्वदा मुझे दर्शन दिया करें या अपने साथ ले चलें। भगवान्‌को तो इनसे भक्तिका प्रचार कराना था,

अतः एक मूर्ति बनानेवालेको बुलाकर दर्शन दिया और वैसी ही मूर्ति बनाकर स्थापित करके अर्चा-सेवा करनेका आदेश दिया और स्वयं उसमें प्रवेश कर गये। विष्णुस्वामी उस विग्रहको साक्षात् भगवद्रूप मानकर अर्चा-पूजा करते हुए आनन्दसे जीवन बिताने लगे। ये ' श्रीकृष्ण तबास्मि' इस मन्त्रका जप करते थे।

भगवत्प्रेरणासे भक्तिकी संवर्द्धना करते-करते इनकी वृद्धावस्था आ गयी, तब इन्होंने शास्त्रमर्यादाके रक्षणके लिये त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण किया और भगवच्चिन्तन करते-करते भगवान्के नित्यधाममें प्रवेश किया।

इनके सम्प्रदायमें सात सौ आचार्य हुए हैं। उनमें एक बिल्वमंगल भी थे। ये बिल्वमंगल तीन-चार प्रसिद्ध बिल्वमंगलोंसे भिन्न हैं। जब इनके उपदेशसे अनधिकारी भी भक्तिराज्यमें प्रवेश करने लगे तब इन्हें संसारकी व्यवस्था ठीक करनेके लिये अन्तर्धान होकर रहनेकी आज्ञा हुई। जिस समय आचार्य वल्लभ एक दूसरे मतमें मिलने जा रहे थे तब स्वप्नमें प्रकट होकर बिल्वमंगलने उन्हें भगवानका आदेश बताया और शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्गका उपदेश किया।

इन्हीं श्रीविष्णुस्वामीके सिद्धान्तके आधारपर आचार्य वल्लभने अपना सिद्धान्त स्थिर किया और समय-समयपर भगवानूने उनके सामने प्रकट होकर उसका समर्थन किया।

आळवार संत

(जीवनी और उपदेश) (लेखक--स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

सरश्च महदाह्वयंभटनाथश्रीभक्तिसारकुळशेखरयोगिवाहान् ॥ भक्ताङ्घ्रिरेणुपरकाळयतीन्द्रमिश्रान् श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

“पराशर भट्ट भूतं।

आळवार कौन हैं?

भारतकी मुख्य सम्पत्ति अध्यात्मविद्याका दीपक टिमटिमाने लगा था। विदेशियोंके संसर्गकी आँधी बड़ी तेजीके साथ भगवत्प्रेमकी लौको बुझानेमें लगी हुई थी। मनुष्यकी अहंमन्यताने इस जगत्रूपी नाटके नेपथ्यमें काम करनेवाले भगवत्संकल्पको भुला दिया था। उन त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी वाणीका अनादर होने लगा था जिनके बनाये हुए आध्यात्मिक नियमोंके आधारपर भारतीय संस्कृति टिकी हुई है।

आत्माको उन्नत करनेवाले वैदिक सिद्धान्तोंको दबाकर एक प्रकारके नैतिक जड़वादने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। लोग अपना समय कभी समाप्त न होनेवाले शाब्दिक 'कलहमें अथवा साम्प्रदायिक झगड़ोंमें नष्ट कर रहे थे। लोगोंका चित्त 'मैं' और 'मेरे' के चक्करमें पड़कर अशान्त हो रहा था और इसी “मैं” और 'मेरे' के पीछे लोगोंमें परस्पर संघर्ष बढ़ रहा था।

देशमें बौद्धोंके शून्यवादने आतंक जमा लिया था। प्रजाकी तो बात ही क्या, राजा लोग भी उसके चक्करसे नहीं बच सके थे। देशको इस बढ़ती हुई नास्तिकताके चंगुलसे बचानेके लिये, जो यहाँकी भूमिके सर्वथा प्रतिकूल थी, उत्तरीय भारतके आध्यात्मिक गगनमें कबीर, नानक, चैतन्य, तुलसीदास, तुकाराम, रामदास आदि कई देदीप्यमान नक्षत्रोंका उदय हुआ।

दक्षिण भारतके लोगोंके हृदयमें भगवत्प्रेमकी बुझती हुई लौको पुन: चैतन्य करनेवाले दो प्रकारके संत हुए। एक तो शैव संत थे, जिनकी संख्या चौंसठ मानी जाती है और जिनमें माणिक्क वाचक, सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर, ये चार सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके रचे हुए पद हजारोंकी संख्यामें आज भी भक्तोद्वारा गाये जाते हैं। उनकी अमर वाणियाँ आध्यात्मिक साहित्यके

दो महान् संग्रहग्रन्थोंमें सुरक्षित हँ । उनमेंसे एकका नाम 'देवरम्' है, जिसका अर्थ है *भगवत्प्रेमके हार,' और दूसरेका नाम है “तिरुवाचकम्', जिसका अर्थ है “पवित्र वाणी'। “पेरियपुराणम्' (महापुराण) और 'ईश्वरलीला' नामके दो महान् ग्रन्थोंमें उनके पवित्र चरित्रोंका वर्णन है, साथ-ही-साथ उनकी भगवत्प्रेरित वाणियोंने कैसा जादूका काम किया इसका भी विशदरूपमें उल्लेख है।

इसी प्रकार दक्षिण भारतके वायुमण्डलको पवित्र करनेवाले कुछ वैष्णव संत भी हुए हैं जो 'आळवार' के नामसे प्रसिद्ध हैं। 'आळवार' का अर्थ है “जिसने अध्यात्मज्ञानरूपी समुद्रमें गहरा गोता लगाया हो'। आळवारोंको प्रेम और

आनन्दकी वह दिव्य सरिता कह सकते हैं जो सच्चिदानन्दरूपी अगाध समुद्रमें मिलकर ही शान्तिको प्राप्त होती है। आळवार लोग गीताकी सजीव मूर्ति थे, उपनिषदोंके उपदेशके जीते-जागते नमूने थे, भगवानुके चलते-फिरते मन्दिर थे और भगवत्प्रेमकी कलकलनिनादिनी सरिताएँ थे।

आळवारोंकी संख्या बारह मानी जाती है । उन्होंने भगवान् नारायण, राम, कृष्ण आदिके गुणोंका वर्णन करनेवाले हजारों पद रचे जिनको सुनकर हृदय एक बार फड़क उठता है। आळवार संत इतने सीधे-सादे, इतने विनयी, भगवत्प्रेममें इतने भीगे हुए और संसारसे इतने ऊपर उठे हुए थेकि उन्होंने इस बातकी बिलकुल परवा ही नहीं की कि उनके सुन्दर पदोंको लोग जानें।

उन्होंने प्रचारकोंकी भाँति अपने उपदेशोंका प्रचार नहीं किया। उनका जीवन भगवान्की ओर बड़े वेगसे बहनेवाला एक सतत प्रवाह था। उन्होंने भगवानुके चरणोंका सर्वभावेन आश्रय ले लिया था। उनका चित्त सदा नारायणके चिन्तनमें लीन रहता था। उनका हृदय भगवान्का मन्दिर बन गया था, उनकी वाणी केवलं भगवान्के ही गुणोंका गान करती थी। उनके चरण भगवान्के ही मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते थे। हृदयसे केवल भगवत््रेमके उद्गार निकलते थे। उनके नेत्र सर्वत्र, सबमें और सभी घटनाओं और एकमात्र नारायणका दर्शन करते थे।

उनके हाथ भगवान   नारायणको ही पुष्पांजलि चढ़ाते थे। उनकी आत्माका नारायणके साथ परिणय हो गया था। उनका जीवन भगवान् नारायणका ही उच्छ्वास बन गया था। वे स्वामी, पिता, सुहृद्, प्रियतम तथा पुत्रके रूपमें नारायणको ही भजते थे और नारायणसे ही प्रेम करते थे। *सो$हम्' के 'सः' और “अहम्' दोनों उस एकके अंदर दूध और चीनीकी भाँति घुल-मिलकर एक हो गये हैं। मेरा हृदय स्वप्नमें भी उनका साथ नहीं छोड़ता। जबतक मैं अपने स्वरूपसे अनभिज्ञ था तबतक 'मैं' और ' मेरे' के भावको ही पुष्ट करता रहता था।

परन्तु अब मैं देखता हूँ जो तुम हो वही मैं हूँ, मेरा सब कुछ तुम्हारा है; अत: हे प्रभो! मेरे चित्तको डुलाओ नहीं, उसे सदा अपने पादपदमोंसे दृढ़तापूर्वक चिपटाये रखो। भाइयो! भगवान्का ही स्मरण करो । श्रीकृष्णका ही गुणगान करो। धनियोंकी स्तुति करके अपनी वाणीका दुरुपयोग न करो। भगवान् नारायणका प्रेमरूपी दिव्य सुमनसे नित्य अर्चन करो। जगत्का रचयिता वही है; यही नहीं, स्वयं जगत् भी वही है। वही जगदीश्वर है। उसके सहस्र नामोंका उच्चारण करो ।

तुम्हारे सारे अमंगल नष्ट हो जायँगे। उसका दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ है, किन्तु भक्तोंके लिये वह अत्यन्त सुलभ है। हे जगत्के जीवो! यदि तुम मुक्तिका आनन्द लूटना चाहते हो तो उसीसे प्रेम करो।' आळवारोंका जीवन तथा उनकी वाणी इसी ढंगकी थी। भारतके १०८ मुख्य वैष्णव मन्दिरोंमें राम, कृष्ण, नारायण, नृसिंह आदि जिन-जिन विग्रहोंकी पूजा होती है उन्होंने उन सबका गुणगान किया है।

आळवारोंका जीवनकाल ईस्वी सन्की सातवीं शताब्दीसे लेकर नवीं शताब्दीपर्यन्त माना जाता है। इनके पदोंका संग्रह तथा प्रचार श्रीनाथमुनिद्वारा हुआ जो स्वयं बड़े भक्त और विद्वान् थे, और इनके द्वारा निरूपित प्रपत्तिमार्गको एक निश्चित रूप देकर उसका जगतमें प्रचार आचार्य श्रीरामानुजने किया जिन्हें भगवानूने इसी कार्यके लिये भेजा था।

वैष्णवशास्त्रॉमें यह बात कही गयी है कि भगवान् महाविष्णुने इन आळवारोंके रूपमें अपने ही श्रीवत्स, कौस्तुभ, वैजयन्ती, वनमाला, श्री-भू-लीला देवियों, अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन, सुदर्शन चक्र, पांचजन्य शंख, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग और शार्ङ्ग धनुष आदिको संसारमें भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये भेजा था। ये आळवार संत भिन्न-भिन्न जातियोंमें उत्पन्न हुए थे, परन्तु संत होनेके नाते उन सबका समानरूपसे आदर है। क्योंकि इन्हींके कथनानुसार संतोंका एक अपना ही कुटुम्ब होता है जो सदा भगवान्में स्थित रहकर उन्हींके नामोंका कीर्तन करता रहता है।

वास्तवमें नीच वही हैं जो भगवान् नारायणकी प्रेमसहित पूजा नहीं करते।' इन संत-कवियोंके चार हजार पद्य "दिव्य प्रबन्ध' नामक ग्रन्थमें संगृहीत हैं जो ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता और आनन्दसे ओतप्रोत अध्यात्मज्ञानका एक अमूल्य खजाना है। वे वेदमन्त्रोंके समान पवित्र और मुक्तिरूपी गंगाको बहानेवाले हैं और जहाँ-कहीं आज भी वे भकतोंद्वारा गाये जाते हैं वहाँ भगवत्सामीप्यके आनन्दका अनुभव होता है।

सभी वैष्णव अपने-अपने घरोंमें तथा मन्दिरोंमें एवं सब प्रकारके उत्सवों, धार्मिक कृत्यो तथा पूजाओंमें एक स्वरसे 'तिरुवॉयमोड़ी ' नामक दिव्य प्रबन्धको गाते हैं, जिसका अर्थ तामिल भाषामें "संतोंके पवित्र मुखसे निकली हुई दिव्य वाणी' है। हम उन्हीं पवित्र वैष्णव संतोंके संक्षिप्त जीवनवृत्तान्तों और उपदेशोंको संतांकके पाठकोंके मनोरंजनार्थ उपस्थित करते हैं।

(१) विष्णुचित्त (पेरिय-आळवार)

सबसे पहले हम विष्णुचित्तका संक्षिप्त परिचय देंगे, जिनका प्रसिद्ध नाम पेरि-आळवार (महान् आळवार) है और जिनके पदोंको वैष्णवलोग मंगलाचरणोंके रूपमें देखते हैं।

पाण्ड्यवंशके बलदेव नामके एक राजा थे, जो मदुरा और तिन्नेवेली जिलोंपर शासन करते थे। उन दिनों राजालोग अपने प्रजाके हितका इतना अधिक ध्यान रखते थे कि वे बहुधा प्रजाके कष्टोंका पता लगाने और उनका निवारण करनेके लिये रात्रिके समय भेष बदलकर घूमा करते थे। बलदेव भी प्रजाको किसी प्रकारका कष्ट न हो, इस बातका बड़ा ध्यान रखते थे। एक दिन रातके समय जब वे मदुरा नगरीमें इसी प्रकार भेष बदलकर घूम रहे थे, उन्होंने किसी आगन्तुको एक वृक्षके नीचे विश्राम करते देखा।

राजाने आगन्तुकसे पूछा-' तुम कौन हो और कहाँसे आये हो ?' आगन्तुकने कहा-' महाशय, मैं एक ब्राह्मण हूँ। गंगा-स्नान करके मैं अब सेठू नदीमें स्नान करनेके लिये जा रहा हूँ। रातभर विश्राम करनेके लिये यहाँ ठहर गया हूँ।' राजाने 'कहा--' अच्छी बात है, आपकी बातोंसे मालूम होता है कि आप बडे विद्वान् हैं और देशाटन किये हुए हैं। अतः आप हमें अपने अनुभवकी कोई बात कहिये।'

आगन्तुकने कहा, अच्छा सुनिये वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान्निशार्थमर्धं दिवसं यतेत। वाद्धक्यहेतोर्वयसा नवेन परत्र हेतोरिह जन्मना च॥ राजाने कहा--'कृपया इसका अर्थ समझाइये।' आगन्तुकने कहा-- मनुष्यको चाहिये कि आठ महीनेतक खूब परिश्रम करे जिससे वह वर्षाऋतुमें सुखपूर्वक खा सके, दिनभर इसलिये परिश्रम करे कि रातको सुखकी नींद सो सके, जवानीमें बुढ़ापेके लिये संग्रह करे और इस जन्ममें परलोकके लिये कमाई करे।' राजाने कहा-- 'ब्राह्मणदेवता, तुम बहुत ठीक कहते हो; मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी।

हाय! मैंने अपने अबतकके जीवनको संसारके पचड़ोंमें फँसकर व्यर्थ ही खोया। अब मेरी बड़ी अभिलाषा है कि मैं उन गुणोंका अर्जन करूँ जिनसे मुझे सच्चा सुख प्राप्त हो सके। कृपाकर आप तीर्थयात्रासे लौटकर जल्दी वापस आइये और कुछ दिन मेरे पास रहकर मुझे सच्चा मार्ग दिखलाइये।' ब्राह्मण राजाको भक्तिमार्गकी दीक्षा देकर वहाँसे विदा हो गये। अब तो राजाके हृदयमें परमात्माके तत्त्वको जाननेकी उत्कण्ठा जागृत हो गयी। उन्होंने

अपने पुरोहित चेल्वनम्बिको बुलाया, जो बड़े सदाचारी और सच्चे विष्णुभक्त थे, और कहा--' महाराज !

मैं धर्माचरण कर अपने जीवनको सुधारना चाहता हूँ, जिससे मैं भगवान्‌के चरणोंके निकट पहुँच सकूँ। आप कृपया बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये।' पुरोहितने कहा-"राजन्! संतों और भक्तोंकी सेवा करना, उनके उपदेशोंका श्रवण करना, उनके संग रहना और उनके आचरणोंका अनुकरण करना-यही सच्चा सुख प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है और यही मनुष्यका कर्तव्य है।' "ऐसे संत कहाँ मिलेंगे, कृपाकर बताइये, और उन्हे कैसे पहचाना जाय ?' राजाने कहा ।

पुरोहितने उत्तर दिया"हे राजन्! संतोंके बाह्य वेशको देखकर उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है। वे किसी स्थानविशेषमें नहीं रहते और न उनके रहनेका कोई निश्चित प्रकार ही है। वे चाहे जहाँ और चाहे जिस रूपमें रह सकते हैं। अत: उनका दर्शन प्राप्त करनेका एक ही उपाय है। वह यह कि देशभरके धर्मो, सम्प्रदायो और मज़हबोंके प्रतिनिधियोंकी एक सभा एकत्रित कीजिये और उसमें यह घोषणा कर दीजिये कि 'मैं उस सच्चे और सरल मार्गको जानना चाहता हूँ जिसपर चलकर हम आनन्दरूप भगवान्‌को प्राप्त कर सकें।'

साथ ही यह भी घोषणा करवा दें कि "जो मनुष्य हमारे प्रश्नका सन्तोषजनक एवं यथार्थ उत्तर देगा उसे कई भार सोना उपहाररूपमें दिया जायगा।' ऐसा करनेसे आपको कम-से-कम उस सभामें एकत्रित होनेवाले संतों और भक्तोंको देखनेका और उनसे सम्भाषण करनेका सौभाग्य तो प्राप्त हो ही जायगा।' राजाने पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार मदुरामें सारे धर्मोके प्रतिनिधियोंकी सभा एकत्रित की। शैव, वैष्णव, शाक्त, सूर्योपासक, गाणपत्य, मायावादी, सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत, जैन और बौद्ध, सभी धर्माके प्रतिनिधि उस सभामें उपस्थित हुए।

उनमें परस्पर बड़ा वाद-विवाद हुआ, परन्तु राजाका समाधान कोई भी नहीं कर सका। उनका हृदय किसी महान् संतकी खोजमें था। हमारे चरित्रनायक विष्णुचित्तके सिवा दूसरा कोई संत उन्हें कहाँ मिलता? अब उनके पवित्र जीवनका कुछ वृत्तान्त सुनिये।

मद्रासप्रान्तके तिन्नेवेली जिलेमें विल्लीपुत्तूर नामका एक पवित्र स्थान है। वहाँ मुकुन्दाचार्य नामके एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम पद्मा था। मुकुन्दाचार्य और उनकी पतिव्रता स्त्री दोनों वटपत्रशायी भगवान् महाविष्णुके मन्दिरमें जाकर प्रतिदिन उनसे एक दिव्य पुत्रके लिये

प्रार्थना किया करते थे। उनको प्रार्थना स्वीकार हुई। हमारे चरित्रनायक उसी ब्राह्मणदम्पतीके यहाँ अवतीर्ण हुए। ये गरुड़के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म एकादशी रविवारको स्वातिनक्षत्में हुआ था।

इनकी माताको प्रसवके समय कोई वेदना नहीं हुई। बालक देखनेमें बड़ा सुन्दर था और उसके शरीरके चारों ओर एक दिव्य तेजोमण्डल था। सामान्य बालकोंसे यह बालक कुछ विलक्षणता लिये हुए था। माता-पिताने बालकका बड़े प्रेमके साथ लालन-पालन किया और उसके ब्राह्मणोचित सभी संस्कार करवाये। सातवें वर्षमें उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। बालकने भगवान् विष्णुको बिना जाने-पहचाने ही अपने अन्तरात्माको उन्हींके चरणोंमें लगा दिया था, अतएव उन्हें लोग विष्णुचित्तके नामसे पुकारने लगे।

वे अपना अधिकांश समय भगवान्के मन्दिरमें ही बिताते थे और संत हरिदासकी भाँति भगवान् नारायणके स्वरूपका ध्यान और उनके नामका जप करते रहते थे और विष्णुसहस्रनामको गाया करते थे। “नारायण ही सारी विद्याओंके सार हैं और सारे धर्मोके एकमात्र ध्येय हैं, अत: अब मैं उन्हींकी शरण ग्रहण करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करके उन्होंने अपनेको भगवान् विष्णुके चरणोंमें समर्पित कर दिया। भक्तिके आवेशमें उन्हें संसारकी भी सुध-बुध न रही।

अभी ये नवयुवक ही थे कि इन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाली और बदलेमें एक सुन्दर उपजाऊ भूमि खरीदकर वहाँ एक सुन्दर बगीचा लगाया। प्रतिदिन सबेरे वे 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए फूल चुनते और उनके सुन्दर हार गूँथकर भगवान् नारायणको धारण कराते। उन हारोंसे अलंकृत भगवान्की दिव्य मूर्तिको देखकर वे मुग्ध हो जाते और निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी अनूप रूपमाधुरीका आस्वादन करते।

उन्हें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त कोई दूसरी बात सुहाती ही न थी। एक दिन रातको विष्णुचित्त बहुत देरतक भजन-ध्यान करनेके बाद विश्राम कर रहे थे कि उन्हें भगवान् नारायणने स्वप्नमें दर्शन दिये और उनसे कहा कि “तुम तुरंत मदुरामें जाकर वहाँके धर्मात्मा राजा बलदेवसे मिलो। वहाँ सारे धर्मोके प्रतिनिधि एकत्र हुए हैं और राजाने यह घोषणा की है कि जो पुरुष सच्चे आनन्दकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलायेगा उसे उपहाररूपमें कई भार सोना दिया जायगा।

वहाँ जाकर मेरी विजयपताका फहराओ। मेरे प्रेम और भक्तिका महत्त्व लोगोंपर प्रकट करो। वहाँ जाकर यह प्रमाणित कर दो कि भगवानूके

सविशेषरूपकी उपासना ही आनन्द प्राप्त करनेका एकमात्र सच्चा और सरल मार्ग है।' विष्णुचित्त भगवान्के आदेशको पाकर मारे हर्षके फूले न समाये और भगवान्से इस प्रकार कहने लगे"प्रभो! मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार है, मैं अभी मदुराके लिये रवाना होता हुँ।

किन्तु मुझे शास्त्रोंका ज्ञान बिलकुल नहीं है, मैं तो आपका एक तुच्छ सेवक हूँ, आपके चरणोंको हृदयमें रखकर मैं उस सभामें जाता हूँ। ऐसी कृपा कीजिये कि आपका यह यन्त्र आपकी इच्छाको पूर्ण कर सके।' यों कहकर विष्णुचित्त मदुरा चले गये। राजाने इनका बड़ा सत्कार किया। और वहाँकी पण्डितमण्डलीमें विष्णुचित्त नक्षत्रॉमें चन्द्रमाके समान सुशोभित हुए । उन्होंने सबकी शंकाओंका यथोचित उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया कि ' भगवान् |

ही सर्वोपरि हैं और उनके चरणोंमें अपनेको सर्वतोभावेन समर्पित कर देना ही कल्याणका एकमात्र उपाय है । भगवान् नारायण ही हमारे रक्षक हैं, वे अपनी योगमायासे साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका दलन करनेके लिये समय-समयपर अवतार लेते हैं। वे समस्त भूतोंके हृदयमें स्थित हैं । भगवान् ही मायासे परे हैं और उनकी उपासना ही मायासे छूटनेका एकमात्र उपाय है । उनपर विश्वास करो, उनकी आराधना करो, उनके नामकी रट लगाओ और उनका गुणानुवाद करो। ॐ नमो नारायणाय ।'

विष्णुचित्तके उपदेशका राजापर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और उन्हें अपने गुरुके रूपमें वरणकर बड़ी धूमधामके साथ उनका जुलूस निकाला। किन्तु विष्णुचित्त इस सम्मानसे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने बड़े करुणापूर्ण नेत्रोंसे ऊपर आकाशकी ओर देखा तो वहाँ उन्हें साक्षात् भगवान् नारायण महालक्ष्मीके साथ गरुड्पर विराजे हुए दिखायी दिये। वे अपने भक्तका सम्मान देखकर तथा लाखों नरनारियोके मुखसे नारायणमन्त्रकी ध्वनि सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे।

विष्णुचित्त अपने इष्टदेवका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। वे राजासे विदा लेकर विल्लीपुत्तूर चले गये और वहाँ उन्होंने कई सुन्दर पद रचकर उनके द्वारा भगवान्की अर्चा की। उनके एक पदका भाव नमूनेके तौरपर नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं-"वे वास्तवमें दयाके पात्र हैं जो भगवान् नारायणकी उपासना नहीं करते। उन्होंने अपनी माताको व्यर्थ ही प्रसवका कष्ट दिया। जो लोग नारायणनामका उच्चारण नहीं करते वे पाप ही खाते हैं और पापमें ही रहते हैं। जो लोग भगवान् माधवको अपने हृदयमन्दिरमें स्थापितकर प्रेमरूपी सुमनसे उनकी पूजा करते हैं वे ही मृत्युपाशसे छूटे हैं।'

विष्णुचित्त भगवान्‌की वात्सल्यभावसे उपासना करते थे।

(२) श्रीआण्डाल (रंगनायकी)

एक दिन प्रातःकाल जब विष्णुचित्त भगवान्‌की पूजाके लिये फूल चुन रहे थे उन्होंने तुलसीके वनमें एक हालकी जन्मी हुई लड़कीको पड़े हुए पाया। उन्होंने बड़े स्नेहसे उस बालिकाको उठा लिया तथा उसे वटपत्रशायी भगवान् नारायणके चरणोंमें रखकर कहा-“यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है, जो तुम्हारी सेवाके लिये आयी है। इसे अपने पादपद्मोंमें आश्रय दो।' इसपर मूर्तिमेंसे आवाज आयी--'इस लड़कीका नाम 'गोदा' रखो और इसे अपनी ही लड़की मानकर इसका लालनपालन करो।' 'गोदा' का अर्थ है “फूलोंके हारके समान कमनीय'। इस लड़कीको आगे चलकर जब भगवानका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त हो गयी तब उसे लोग * आण्डाल' कहने लगे थे।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर विष्णुचित्त उस लड़्कीको अपनी कुटियामें ले आये और वहाँ बड़े स्नेहसे उसका पालन-पोषण करने लगे। लड़की जब बोलने लगी तो उसके मुखसे 'विष्णु' के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम ही नहीं निकलता था। जब वह कुछ सयानी हुई तो वह भगवान्‌के गीत गाने लगी। पिताके मन्दिर चले जानेपर वह उनके पीछे बगीचेकी रखवाली करती और भगवान्‌की पूजाके लिये फूलोंके हार गूँथ रखती।

जब वह कुछ और बड़ी हुई तब वह भगवान् रंगनाथको पतिके रूपमें भजने लगी। वह अपने प्रियतमके प्रेममें अपने-आपको इतना भूल जाती कि भगवान्‌के लिये गूँथे हुए हारको स्वयं पहनकर आइनेके सामने खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्यकी अपने-आप प्रशंसा करती हुई कहती--' क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतमको आकर्षित कर सकेगा?' एक दिन उसकी धारण की हुई मालाको मन्दिरके पुजारीने स्वीकार नहीं किया और यह कहकर उसे लौटा दिया कि इसमें किसी मनुष्यके सिरका बाल लगा हुआ है। विष्णुचित्तको यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने ताजे फूल तोड़कर नये हार

बनाये और भगवानको अर्पण किये। दूसरे दिन भी पुजारीने शिकायत की कि आजकी माला कुछ मुझायी हुई है।

विष्णुचित्तने अपने मनमें सोचा कि अवश्य ही इसमें कोई-न-कोई रहस्य होना चाहिये। वे जब इसका कारण ढूँढ़नेमें लगे हुए थे कि उनकी दृष्टि अकस्मात् अपनी लड़कीकी ओर गयी। उन्होंने देखा कि “वह एक परदेके पीछे नये फूलोंके हार पहनकर दर्पणके सामने खड़ी है और मन-ही-मन अपने प्रियतम भगवान्से कुछ बातें कर रही है।' वे दौड़कर लड़कीके पास गये और चिल्लाकर बोले-'बेटी ! यह तूने क्या किया? तू पागल तो नहीं हो गयी जो भगवान्के लिये तैयार किये हुए हारोंको स्वयं धारणकर जूठा कर रही है? बेटी! फिर कभी ऐसा न करना।' यह कहकर विष्णुचित्तने सन्तं सुशान्तं सततं नमामि फिरसे नये हार तैयारकर भगवानको अर्पण किये।

परन्तु उसी दिन रातको भगवान्ने उन्हें स्पप्नमें दर्शन देकर कहा कि 'मुझे आण्डालकी पहनी हुई माला धारण करनेमें विशेष सुख मिलता है, इसलिये वही हार मुझे चढ़ाया करो।' अब तो विष्णुचित्तको यह निश्चय हो गया कि आण्डाल कोई साधारण लड़की नहीं है और वे कुछ दिन पीछे आण्डालकी धारण की हुई मालाओंको ही भगवान्के निवेदन करने लगे। आण्डाल भूदेवीका अवतार मानी जाती है। वह मधुर भावकी चरम सीमातक पहुँच गयी थी।

आण्डाल सदा अपने शरीरसे ऊपर उठी रहती थी, वह अपने बाहर-भीतर सर्वत्र अपने प्राणवल्लभ प्रभुके अतिरिक्त और किसी वस्तुको देखती ही न थी। वह शरीरसे विष्णुचित्तके बगीचेमें रहती थी, किन्तु उसका मन वृन्दावनमें विचरता रहता था। वह गोपियोंके साथ खेलती और मट्टीके घरोंदे बनाती। इतनेमें ही श्रीकृष्ण आकर उसके घरोंदोंको ढहा देते और हंसने लगते! कभी वह गोपियोंके साथ सरोवरमें स्नान करने लगती और श्रीकृष्ण आकर उन सबके वस्त्रोंको उठा ले जाते और कदम्बपर चढ़कर बैठ जाते।

कभी-कभी वह मनसे ही वृन्दावनमें विचरती और रास्ता चलनेवालोंसे पूछती, क्या तुमने मेरे प्राणवल्लभको इधर कहीं देखा है? क्या किसीको मेरे कमलनयनका पता है ?' और अपने-आप ही अपने प्रश्नोंका उत्तर भी देती- अजी, देखा क्यों नहीं। वह तो वृन्दावनमें बाँसुरी बजाकर गोपियोंके साथ विहार कर रहा है।'

वसन्त ऋतुमें वह कोयलको सम्बोधन करके बड़े करुणस्वरमें कहती-- अरी कोयल! मेरा प्राणवल्लभ मेरे सामने क्यों नहीं आता? वह मेरे हृदयमें

प्रवेशकर मुझे अपने वियोगसे दुखी कर रहा है। मैं तो उसके लिये इस प्रकार तड़प रही हूँ. और उसके लिये यह सब मानो निरा खिलवाड़ ही है।'

एक दिन जब वह अपने प्रियतम भगवानके विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी, भगवान् रंगनाथने स्वप्नमें मन्दिरके अधिकारियोंको दर्शन देकर कही "मेरी प्रियतमा आण्डालको मेरे पास ले आओ।' इधर उन्होंने विष्णुचित्तको भी स्वपनममें दर्शन देकर कहा"तुम आण्डालको लेकर शीघ्र मेरे पास चले आओ, उसका पाणिग्रहण करूँगा।' यही नहीं, उन्होंने स्वणमें आण्डालको भी दर्शन दिये और उसने देखाकि मेरा विवाह बड़ी धूमधामके साथ श्रीरंगनाथके साथ हो रहा है।

उसका स्वप्न सच्चा हो गया। दूसरे ही दिन श्रीरंगजीके मन्दिरसे आण्डाल और उसके धर्मपिता विष्णुचित्तको लेनेके लिये कई पालकियाँ और दूसरे प्रकारका लवाजमा भी आया। ढोल बजने लगे, शंखकी ध्वनि होने लगी, वेदपाठी ब्राह्मण वेद पढ़ने लगे और भक्तलोग आण्डाल और उसके स्वामी श्रीरंगनाथकी जय बोलने लगे। आण्डालने प्रेममें मतवाली होकर मन्दिरमें प्रवेश किया और तुरन्त वह भगवान्‌की शेषशय्यापर चढ़ गयी। इतनेमें ही लोगोंने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाशमें देवी आण्डाल सबके देखते-ही-देखते बिजली-सी चमककर विलीन हो गयी। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये।

आण्डालके जीवनका कार्य आज पूरा हो गया। वह भगवान् नारायणमें जाकर मिल गयी! दक्षिणके वैष्णव-मन्दिरोंमें आज भी आण्डालके विवाहका उत्सव प्रतिवर्ष सर्वत्र मनाया जाता है। विष्णुचित्तने भी अपना शेष जीवन भगवान् श्रीरंगनाथ और उनकी प्रियतमा श्रीआण्डाल देवीकी उपासनामें व्यतीत कर भगवत्-धामको प्रयाण किया। बोलो भक्तिमती आण्डालकी जय! भगवत्प्रेमकी जय !! (३) कुळशेखर आळवार कोल्लिनगर (केरल) के राजा दृढव्रत बड़े धर्मात्मा थे, किन्तु उनके कोई सन्तान न थी।

उन्होंने पुत्रके लिये तप किया और भगवान् नारायणकी कृपासे द्वादशीके दिन पुनर्वसु नक्षत्रमें उनके घरमें एक तेजस्वी बालकने जन्म लिया। बालकका नाम कुळशेखर रखा गया। ये भगवान्‌की कौस्तुभमणिका अवतार माने जाते हैं। राजाने कुळशेखरको विद्या, ज्ञान और भक्तिके वातावरणमें संवर्धित किया। थोडे ही दिनोंमें कुळशेखर तामिल और संस्कृत भाषामें पारंगत हो गये और इन दोनों प्राचीन भाषाओंके सभी धार्मिक ग्रन्थोंका उन्होंने आलोडन कर डाला। उन्होंने वेद-वेदान्तका अध्ययन किया और चौसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया। यही नहीं, वे राजनीति, युद्धविद्या,

धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा नृत्यकलामें भी प्रवीण हो गये। जब राजाने कि कुळशेखर सब प्रकारसे राज्यका भार उठानेमें समर्थ हो गया है तब कुळशेखरको राज्य देकर वे स्वयं मोक्षमार्गमें लग गये।

कुळशेखरने अपने देशमें रामराज्यकी पुनः स्थापना की। प्रत्येक-गृहस्थको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शिक्षा देनेका समुचित प्रबन्ध किया। उन्होंने व्यवसायों तथा उद्योग-धन्धोंको सुव्यवस्थित रूप देकर प्रजाके दारिद्र्यको दूर किया। अपने राज्यको धन, ज्ञान और सन्तोषकी दृष्टिसे एक प्रकारसे स्वर्ग ही बना दिया।

यद्यपि वह हाथमें राजदण्ड धारण करते थे, किन्तु उनके हृदयने भगवान् विष्णुके चरणकमलोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था। उनका शरीर यद्यपि सिंहासनपर बैठता था, परन्तु हृदय भगवान् श्रीरामका सिंहासन बन गया था। राजा होनेपर भी उनकी विषयोंमें तनिक भी प्रीति नहीं थी। वे सदा यही सोचा करते कि “वह दिन कब होगा जब ये नेत्र भगवानूके त्रिभुवनसुन्दर मंगलविग्रहका दर्शन पाकर कृतार्थ होंगे? मेरा मस्तक भगवान् श्रीरंगनाथके चरणोंके सामने कब झुकेगा ?

मेरा हृदय भगवान् पुण्डरीकाक्षके मुखारविन्दको देखकर कब द्रवित होगा, जिनकी इन्द्रादि देवता सदा स्तुति करते रहते हैं? ये नेत्र किस कामके हैं यदि इन्हें भगवान् श्रीरंगनाथ और उनके भक्तोंके दर्शन नहीं प्राप्त होते? मुझे उन प्यारे भक्तोंकी चरणधूलि कब प्राप्त होगी ? वास्तवमें बुद्धिमान् वही हैं जो भगवान् नारायणके पीछे पागल हुए घूमते हैं, और जो उनके चरणोंको भुलाकर संसारके विषयोंमें फँसे रहते हैं वही पागल हैं ।'

भक्तकी सच्ची पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। एक दिन रात्रिके समय भगवान् नारायण अपने दिव्य विग्रहमें भक्त कुळशेखरके सामने प्रकट हुए। कुळशेखर उनका दर्शन प्राप्तकर शरीरकी सुध-बुध भूल गये, उसी समयसे उनका एक प्रकारसे कायापलट ही हो गया। वे सदा भगवद्भावमें लीन रहते। भगवद्भक्तिके रसके सामने राज्यसुख उन्हें फीका लगने लगा। वे अपने मनमें सोचने लगे 'मुझे इन संसारी लोगोंसे क्या काम है जो इस मिथ्या प्रपंचको सत्य माने बैठे हैं।

मुझे तो भगवान् विष्णुके प्रेममें डूब जाना चाहिये। ये संसारी जीव कामदेवके बाणोंके शिकार होकर नाना प्रकारके भोगोंके पीछे भटकते रहते हैं। मुझे केवल भक्तोंका ही संग करना चाहिये। सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, स्वर्गका सुख भी मेरे लिये तुच्छ है।' ऐसा विचारकर वे अपना सारा समय

सत्संग, कीर्तन, भजन, ध्यान और भगवानूके अलौकिक चरित्रोके श्रवणमें ही व्यतीत करने लगे ।

उनके इष्टदेव श्रीराम थे और वे दास्यभावसे उनकी उपासना करते थे। एक दिन वे बडे प्रेमके साथ श्रीरामायणकी कथा सुन रहे थे। प्रसंग यह था कि भगवान् श्रीराम सीताजीकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्त कर स्वयं अकेले खरदूषणकी विपुल सेनासे युद्ध करनेके लिये उनके सामने जा रहे हैं। पण्डितजी कह रहे थेचतुर्दशसहस्त्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्। एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति॥ अर्थात् धर्मात्मा श्रीराम अकेले चौदह हजार राक्षसोंसे युद्ध करने जा रहे हैं, इस युद्धका परिणाम क्या होगा। कुळशेखर कथा सुननेमें इतने तन्मय हो रहे थे कि उन्हें यह बात भूल गयी कि यहाँ रामायणकी कथा हो रही है।

उन्होंने समझा कि भगवान् वास्तवमें खरदूषणकी सेनाके साथ अकेले युद्ध करने जा रहे हैं। यह बात उन्हें कैसे सह्य होती, वे तुरन्त कथामेंसे उठ खडे हुए। उन्होंने उसी समय शंख बजाकर अपनी सारी सेना एकत्र कर लिया और सेनानायकको आज्ञा दी कि “चलो, हमलोग श्रीरामकी सहायताके लिये राक्षसोंसे युद्ध करने चलें।' ज्यों ही वे वहाँसे जानेके लिये तैयार हुए कि उन्होंने पण्डितजीके मुँहसे सुना कि श्रीरामने अकेले ही खर-दूषणसहित सारी सेनाका संहार कर दिया। तब कुळशेखरको शान्ति मिली और उन्होंने सेनाको लौट जानेका आदेश दिया।

भक्तिका मार्ग भी बाधाओंसे शून्य नहीं है। मन्त्रियों और दरबारियोंने जब यह देखा कि महाराज राजकाजको भुलाकर रात-दिन भक्तिरसमें डूबे रहते हैं और उनके महलोंमें चौबीसों घंटे भक्तोंका जमावड़ा लगा रहता है तो उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सोचा, कोई ऐसा उपाय रचना चाहिये जिससे राजाका इन भक्तोंकी ओरसे मन फिर जाय।

परन्तु यह कब सम्भव था। एक दिनकी बात है, राज्यके तोशाखानेसे एक बहुमूल्य हीरा गुम हो गया। दरबारियोंने कहा, ' होन-हो, यह काम उन भकतनामधारी धूर्तोका ही है।' राजाने कहा ' ऐसा कभी हो नहीं सकता' मैं इस बातको प्रमाणित कर सकता हुँ कि वैष्णव भक्त इस प्रकारका आचरण कभी नहीं कर सकते, उन्होंने उसी समय अपने नौकरोंसे कहकर एक बर्तनमें बंद कराकर एक विषधर सर्प मँगवाया और कहा-*जिस किसीको हमारे वैष्णव भक्तोंके प्रति सन्देह हो वे इस बर्तनमें हाथ डालें, यदि उनका अभियोग सत्य होगा तो साँप उन्हे काट नहीं सकेगा।' उन्होंने यह भी कहा “मेरी दृष्टिं वैष्णवभक्त बिलकुल निरपराध हैं।

किन्तु यदि वे अपराधी हैं तो सबसे पहले इस बर्तनमें मैं हाथ डालता हूँ। यदि ये लोग दोषी नहीं हैं तो साँप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।' यह कहकर उन्होंने अपना हाथ झट उस बर्तनके अंदर डाल दिया और लोगोंने आश्चर्यके साथ देखा कि साँप अपने स्थानसे हिला भी नहीं, वह मन्त्रमुग्धकी भाँति ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। दरबारीलोग इस बातपर बड़े लज्जित हुए और अन्तमें वह हीरा भी मिल गया। इधर कुळशेखर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े और अपनी भक्तमण्डलीके साथ भजन-कीर्तन करते हुए भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें घूमने लगे।

वे कई वर्षतक श्रीरंगक्षेत्रमें रहे। उन्होंने वहाँ रहकर मुकुन्दमाला नामक संस्कृतका एक स्तोत्र-ग्रन्थ रचा, जिसका संस्कृत जाननेवाले अब भी बड़ा आदर करते हैं। इसके बाद ये तिरुपतिमें रहने लगे और वहाँ रहकर इन्होंने बड़े सुन्दर, भक्तिरससे भरे हुए पदोंकी रचना की। उनके कुछ पदोंका भाव नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं-"मुझे न धन चाहिये न शरीरका सुख चाहिये, न मुझे राज्यकी कामना है, न मैं इन्द्रका पद चाहता हूँ और न मुझे सार्वभौमपद चाहिये।

मेरी तो केवल यही अभिलाषा है कि मैं तुम्हारे मन्दिरकी एक सीढ़ी बनकर रहूँ जिससे तुम्हारे भक्तोंके चरण बार-बार मेरे मस्तकपर पड़ें। अथवा हे प्रभो! जिस रास्तेसे भक्तलोग तुम्हारे श्रीविग्रहका दर्शन करनेके लिये प्रतिदिन जाया करते हैं उस मार्गका मुझे एक छोटा-सा रजकण ही पक दो, अथवा जिस नालीसे तुम्हारे बगीचेके वृक्षोंकी सिंचाई होती है उस नालीका जल ही बना दो अथवा अपने बगीचेका एक चम्पाका पेड़ ही बना दो, जिससे मैं अपने फूलोंके द्वारा तुम्हारी नित्य पूजा कर सकूँ, अथवा मुझे अपने यहाँके सरोवरका एक छोटा-सा जलजन्तु बना दो।'

इन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि कई उत्तरके तीर्थोंकी भी यात्रा की थी और श्रीकृष्ण तथा लीलाओंपर भी कई पद रचे। इनके सबसे उत्तम पद अनन्यशरणागतिपरक हैं, जिनमेंसे कुछका भाव नीचे दिया जाता है।

वे कहते हैं--"यदि माता खीझकर बच्चेको अपनी गोदसे उतार भी देती है तो भी बच्चा उसीमें अपनी लौ लगाये रहता है और उसीको याद करके रोता-चिल्लाता और छटपटाता है। उसी प्रकार हे नाथ! तुम चाहे मेरी कितनी ही उपेक्षा करो और मेरे दुःखोंकी ओर ध्यान न दो तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता, तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये कोई दूसरी गति ही नहीं है।

यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार भी करे तो भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती। इसी प्रकार चाहे तुम मुझे कितना ही दुत्कारो मैं तुम्हारे अभय चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात भी नहीं सोच सकता। तुम चाहे मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी कृपाका ही अवलम्बन है। राजा अपनी प्रजाकी चाहे जितनी उपेक्षा करे, किन्तु राजभक्त प्रजा उस राजाके आश्रयका कदापि परित्याग नहीं कर सकती।

चिकित्सक किसी रोगीके घावको चाहे जितना नोचे और कुरेदे, सहनशील और समझदार रोगी मुँहसे कभी उफ् भी नहीं निकालेगा। इसी प्रकार है मायापति! तुम मुझे चाहे जितना कष्ट दो मैं तो सदा तुम्हारी कृपाका ही भिखारी बना रहूँगा, तुम्हें छोड़कर किसी दूसरी ओर ताकनेका भी नहीं। तुम्हारे चरणोंको छोड़कर मैं जाऊँ भी कहाँ। जैसे जहाजका कौआ घूम-फिरकर वापिस उसी जहाजपर आ जाता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पादपदमोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकता।

सूर्य चाहे कमलको कितना ही ताप दे, कमलका मुँह उसके सामने सदा खुला रहेगा। तुम चाहे मेरे कष्टोंका निवारण न करो, मेरा हृदय तो तुम्हारी ही दयासे द्रवीभूत होगा। बादल चाहे किसानको भूल जाय, किसान सदा निर्निमेष दृष्टिसे बादलकी ओर ही ताकता रहता है। इसी प्रकार हे नाथ! तुम चाहे मेरी रक्षा न करो, मेरा मन सदा तुम्हारे चरणोंमें ही अटका रहेगा। मेरी अभिलाषाके एकमात्र विषय तुम ही हो। जो तुम्हें चाहता है उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं।'

(४) विप्रनारायण (भक्तपदरेणु)

भगवान्‌की लीला विचित्र है। किसी-किसीपर वे बहुत शीघ्र ढुल जाते हैं और किसी-किसीकी वे बड़ी कठिन परीक्षा लेकर तब उन्हें अपना कृपापात्र बनाते हैं। और जिस प्रकार काँटेको काँटेसे ही निकाला जाता है उसी प्रकार किसी-किसीको मायामुक्त करनेके लिये वे उसपर अपनी मायाका ही प्रयोग करते हैं । विप्रनारायणके साथ उन्होंने तीसरे प्रकारका ही व्यवहार किया था।

विप्रनारायण भगवान्‌की वनमालाके अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें हुआ था। इन्होंने भलीभाँति वेदाध्ययन कर अपनेको समस्त वेदोंके सारभूत भगवान्‌के चरणोंमें ही सर्वतोभावेन समर्पित कर देना चाहा था। ये भगवानूसे प्रार्थना करते “मुझे आपकी कृपाके सामने इन्द्रका पद भी नहीं चाहिये । शास्त्रोंमें मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी बतायी गयी है।

इसमेंसे आधी आयु तो निद्रामें ही बीत जाती है और आधीमेंसे पन्द्रह वर्ष तो बालकपनकी अज्ञान अवस्थामें निकल जाते हैं और शेष आयु भी भूख-प्यास, काम-क्रोधादि विकारों तथा नाना प्रकारकी व्याधियों और मानसिक कष्टोंमें ही बीतती है । अतः हे नाथ! ऐसी कृपा कीजिये कि मुझे इस संसारमें पुनः जन्म न लेना पड़े और यदि जन्म लेना भी पड़े तो मुझे आपकी सेवाका सुख निरन्तर मिलता रहे।'

इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना करते हुए वे श्रीरंगजीके स्थानको गये और वहाँ अपने-आपको श्रीरंगजीके अर्पणकर विष्णुचित्तकी भाँति मन्दिरके चारों ओर एक सुन्दर बगीचा लगा दिया। वहाँसे फूल लालाकर और उनके हार गूँथ-गूँथकर वे भगवानको अर्पण किया करते। वे स्वयं एक वृक्षके नीचे एक मामूली झोंपड़ी बनाकर रहते थे और भगवान् श्रीरंगनाथके प्रसादसे ही जीवननिर्वाह करते थे। संसार उनकी दृष्टिमें मानो था ही नहीं, भगवान् श्रीरंगनाथजी उनके लिये सब कुछ थे।

वे कहते-* अहा! जब-जब मैं भगवान्‌को शेषशय्यापर लेटे हुए देखता हूँ, मेरा शरीर प्रेमसे शिथिल हो जाता है।' वे जब इस प्रकार भगवान्‌के ध्यान और भजनमें लीन थे भगवानूने कदाचित् उन्हें शुद्ध करने और उनकी वासनाओंका क्षय करनेके लिये उनकी एक बार बड़ी कठिन परीक्षा ली।

श्रीरंगजीके मन्दिरमें एक बड़ी रूपवती देवदासी रहती थी, जिसके सौन्दर्यपर स्वयं राजा भी मुग्ध थे उसका नाम देवदेवी था। एक दिन वह अपनी बहिनको साथ लेकर विप्रनारायणके बगीचेमें आयी और वहाँकी प्राकृतिक शोभाको देखकर दोनों-की-दोनों चमत्कृत हो गयीं। सहसा देवदेवीकी दृष्टि विप्रनारायणपर पड़ी। ये भगवानूका नाम लेते जाते थे और तुलसीके वृक्षोंको सींचते जाते थे। ये अपनी धुनमें इस प्रकार मस्त थे कि उन्होंने देवदेवीकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

उनकी इस उपेक्षासे देवदेवीके मानको बडी ठेस पहुँची । उसने सोचा, मेरे जिस अनुपम सौन्दर्यपर राजालोग भी मुग्ध हैं, यह तपस्वी युवा उसकी ओर

आँख उठाकर भी नहीं देखता! देवदेवीकी बहिनने कहा--'जिनका चित्त अखिल सोन्दर्यके भण्डार भगवान् नारायणके चरणकमलोंका चंचरीक बन चुका है वे क्या एक नारीके घृणित रूपपर आसक्त हो सकते हैं ?' देवदेवीने बडे गर्वके साथ कहा--' मैं भी देखूँगी कि यह ब्राह्मणकुमार मेरै रूपपाशमें कैसे नहीं बँधता।'

उसकी बहिनने कहा, "तुम्हारी यह आशा दुराशामात्र है। यदि तुम्हारे रूपका जादू इस ब्राह्मणकुमारपर चल गया तो मैं छः महीनेतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' देवदेवीने भी बड़े आत्मविश्वासके साथ कहा "यदि मेरा चक्कर इसपर न चल सका तो मैं भी छः महीनेतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' इस प्रकार दोनों बहिनोंमें होड़ बद गयी।

उक्त घटनाको कई दिन हो गये। एक दिन अकस्मात् विप्रनारायणने देखा कि उनके सामने एक संन्यासिनी खड़ी है। उन्होंने चकित होकर पूछा, तुम कौन हो और यहाँ क्यों आयी हो? तुम्हारा यहाँ इस प्रकार आना उचित नहीं, अतः शीघ्र लौट जाओ। संन्यासिनीने कहा-*महाराज! एक बार मेरी करुण कथा सुन लीजिये, इसके बाद जैसा उचित समझें करें। मेरी माता मुझे अपनी आबरू बेचकर धन कमानेके लिये बाध्य करती है, किन्तु मेरी इच्छा नहीं है कि मैं अपने जीवनको इस प्रकार कलंकित करूँ; अत: मैं आपकी शरणमें आयी हुँ, आप कृपाकर मुझे आश्रय दीजिये।

मैं इसी वृक्षके नीचे पड़ी रहकर आपके बगीचेकी रक्षा करूंगी, भगवानुके लिये सुन्दर हार गूँथकर आपके अर्पण करूँगी और आपकी जूठन पाकर अपना शेष जीवन व्यतीत करूँगी।' सरलहृदय विप्रनारायणको उसकी इस कपटभरी करुण कथाको सुनकर दया आ गयी और उन्होंने उसे अपने बगीचेमें

रहनेके लिये अनुमति दे दी।

x x x x

माघका महीना है। बड़े जोरकी वर्षा हो रही है और साथ-साथ ओले भी गिर रहे हैं। वह दीन-हीन संन्यासिनी बाहर खड़ी ठिठुर रही है, उसकी साड़ी पानीसे तर हो गयी है। उसकी इस दीन दशाको देखकर विप्रनारायणको दया आ गयी, उन्होंने उसे अपनी झॉपड़ीमें बुला लिया और उसे पहननेको सूखे वस्त्र दिये। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रीको परपुरुषके साथ एकान्तवास भूलकर भी नहीं करना चाहिये।

ऐसे समय मनका वशमें रहना बड़ा कठिन हैं। विप्रनारायण उस छद्मवेशिनी संन्यासिनीके चंगुलमें फँस गये। उनकी तपस्या, उनका शास्त्रज्ञान, उनका त्याग, उनका वैराग्य सब कुछ उस वारांगनाकी मोह-सरितामें बह गया!

विप्रनारायण, जो अबतक भगवान्‌की सेवामें तल्लीन रहते थे, आज एक वेश्याके क्रीतदास हो गये । देवदेवीने अब अपना असली रूप प्रकट कर दिया। वह वापस अपने स्थानको चली गयी और विप्रनारायण प्रतिदिन खिंचे हुए उसके घर जाने लगे। उन्होंने अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें न्योछावर कर दिया। उनकी विपुल सम्पत्ति, उनके देवोपम गुण और उनका उदात्त चरित्र सब कुछ स्वाहा हो गया।

परन्तु जिसने एक बार भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लिया, भगवान् क्या उसकी उपेक्षा कर सकते हैं? कदापि नहीं। देवदेवीने विप्रनारायणका सब कुछ लूटकर उसे दर-दरका भिखारी बना दिया। जब उनके पास उसकी पूजा करनेको कुछ भी न रहा तो उसने इन्हें दुत्कारकर अपने घरसे बाहर निकाल दिया और लाख गिड़गिडानेपर भी भीतर न आने दिया। विप्रनारायण निराश होकर लौट गये, परन्तु उनका देवदेवीके प्रति आकर्षण कम न हुआ।

रात्रिका समय है । देवदेवीने देखा कि कोई बाहर खड़ा हुआ उसके द्वारको खटखटा रहा है । पूछनेपर मालूम हुआ वह विप्रनारायणका सेवक है। उसने कहा “विप्रनारायणने आपके लिये एक सोनेका थाल भेजा है।' थालको देखकर देवदेवी फूली न समायी। उसने झटसे थालको ले लिया और नौकरसे कहा ' विप्रनारायणजी   जल्दी मेरे पास भेज दो, मैं उनके लिये व्याकुल हो रही हूँ।'

इधर उसी आदमीने विप्रनारायणको जगाकर कहा कि “जाओ, तुम्हें देबदेवी याद करती है।' इस संवादको सुनकर विप्रनारायणके निर्जीव देहमें मानो प्राण आ गये। वे चारपाईसे उठकर सीधे देवदेवीके यहाँ पहुँचे और देवदेवीने उस दिन उनकी बड़ी आवभगत की! अब हमें यह देखना है कि विप्रनारायणका यह नौकर कौन था।

x x x

दूसरे दिन सबेरे श्रीरंगजीके मन्दिरमें बड़ी सनसनी फैल गयी। पुजारीने देखा कि ' श्रीरंगजीका सोनेका थाल गायब है ।' राज्यके कर्मचारियोंने जाँच-पड़ताल प्रारम्भ की। चोरीका पता लगानेके लिये गुप्तचर भी नियुक्त

हुए, अन्तमें वह थाल देवदेवीके यहाँ मिला। देवदेवीने कर्मचारियोंको बतलाया कि यह थाल कल रातको ही उसे विप्रनारायणका नौकर दे गया था।

विप्रनारायणने कहा--'मैं तो एक दीन-हीन कंगाल हूँ, मेरे पास नौकर कहाँसे आया। और न मेरे पास इस प्रकारको मूल्यवान् चीजें ही हैं।' थाल मन्दिरमें पहुँचा दिया गया । देवदेवीको चोरीका माल स्वीकार करनेके लिये राज्यकी ओरसे दण्ड दिया गया और विप्रनारायणको निगलापुरीके राजाकी ओरसे हिरासतमें रखा गया, क्योंकि श्रीरंगम्का मन्दिर निगलापुरीके राजाके अधीन ही था।*

राजाकी विप्रनारायणके सम्बन्धमें यह धारणा थी कि वे बड़े अच्छे भक्त हैं, अतः उनकी बुद्धि इस सम्बन्धमें कुछ निर्णय नहीं कर सकी। उन्होंने सोचा, जो विप्रनारायण श्रीरंगनाथजीकी इतनी भक्ति करते हैं क्या वे उन्हींकी वस्तुको इस प्रकार चुरा सकते हैं? इसी अधेड़बुनमें उन्हें नींद लग गयी। स्वप्नमें उन्हें श्रीरंगनाथजीने दर्शन दिये और कहा-- यह सब लीला मैंने अपने भक्तका उद्धार करनेके लिये की है।

मैंने ही उनका नौकर बनकर थाल देवदेवीके यहाँ पहुँचाया था। मैं तो सदा ही अपने भक्तोंका अनुचर रहा हूँ। विप्रनारायण बिलकुल निर्दोष हैं, उन्हें वापस अपनी कुटियामें भेज दो, जिससे वे पुनः मेरी भक्ति और सेवामें प्रवृत्त हो जायँ।' राजाको यह स्वप्न देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उनका हृदय भगवान्की दयाका स्मरण कर गद्गद हो गया । उन्हें इस बातके लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने एक भक्तको हिरासतमें रखकर उनका अपमान किया, और उन्हें तुरन्त मुक्त कर दिया।

इस घटनासे विप्रनारायणकी आँखें खुल गयीं, उनके नेत्रोंसे अज्ञानका परदा हट गया। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और हृदय पश्चात्तापसे भर गया। वे दौड़े हुए श्रीरंगजीके मन्दिरमें आये और भगवान्के चरणोंमें गिरकर उनकी अनेक प्रकारे स्तुति और अपनी गर्हणा करने लगे। उन्होंने कहा--' प्रभो! मैं बड़ा नीच हूँ, बड़ा पतित हूँ; बड़ा पापी हुँ; फिर भी आपने मेरी रक्षा की। आपने मेरे इस वज्र-हृदयको भी पिघला दिया। मैंने अबतक अपना जीवन व्यर्थ ही खोया, मेरा हृदय बड़ा कलुषित है। मेरी जिह्वाने आपके मधुर नामका परित्याग कर दिया, मैंने सत्य और सदाचारको तिलांजलि दे दी, मैंने स्वयं अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारी और एक स्त्रीके रूपजालमें फँस गया। मैं अब इसीलिये जीवन धारण करता हूँ जिससे तुम्हारी सेवा कर सकूँ । मैं जानता हूँ तुम अपने सेवकोंका कदापि परित्याग नहीं करते।

मैं जनताकी दृष्टिसे गिर गया, मेरी सम्पत्ति जाती रही। संसारमें तुम्हारे सिवा कोई नहीं । हे पुरुषोत्तम! अब मैंने तुम्हारे चरणोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। तुम्हीं मेरे माता-पिता हो, तुम्हारे सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं है। हे जीवनधन! अब मुझे तुम्हारी कृपाके सिवा और किसीका भरोसा नहीं है।' इसी समयसे विप्रनारायणका जीवन पलट गया, वे दृढ़ वैराग्ये साथ भगवान्‌की भक्तिमें लग गये। उन्होंने अपना नाम 'भक्तपदरेणु' रखा और बड़ी श्रद्धाके साथ भकतोंकी सेवा करने लगे।

उनकी वाणी निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करने लगी। इधर देवदेवीको भी अपने पापमय जीवनसे घृणा हो गयी, उसने अपनी सारी सम्पत्ति मन्दिरकी भेंट कर दी और स्वयं सब कुछ त्यागकर श्रीरंगजीकी सेवा करने लगी। इस प्रकार भक्तपदरेणु और उनकी प्रेयसी देवदेवी दोनों भगवान्के परमभक्त हो गये।

(५) मुनिवाहन (तिरुप्पनाळवार)

तिरुप्पनाळवार जातिके अन्त्यज माने जाते थे। वे एक धानके खेतमें पड़े हुए मिले थे, जहाँसे उन्हें एक अस्पृश्य मनुष्य उठा ले आया था और उसीके द्वारा
 इनका लालन-पालन हुआ। यह अस्पृश्य गानविद्यामें बड़ा निपुण था। बालक मुनिवाहनने भी उससे बहुत जल्दी ही संगीतका ज्ञान प्राप्त कर लिया और वीणा बजाना सीख लिया । परन्तु वीणापर वे भगवान्‌के नामके अतिरिक्त और कुछ नहीं गाते थे उनका हृदय भगवान्के नामसे जितना आकर्षित होता था। उतना और किसीसे आकर्षित नहीं होता था।

उन्हें भगवान् श्रीरंगनाथके दर्शनकी बड़ी उत्कण्ठा हुई, परन्तु नियमानुसार उनका मन्दिरमें प्रवेश नहीं हो सकता था। उन्होंने आजकलकी भाँति मन्दिरप्रवेशके लिये सत्याग्रह नहीं किया। वे निशुलापुरी नामक अछूतोंकी बस्तीको छोड़कर श्रीरंगक्षेत्रमें चले आये, जिस प्रकार यवन हरिदास जगन्नाथपुरीमें रहने लगे थे। उन्होंने कावेरीके दक्षिणतटपर एक छोटी-सी झोपड़ी बना ली और वहाँ रहकर भगवान्के नामगुणोंका कीर्तन और उनके स्वरूपका ध्यान करने लगे। उत्सवोंके दिनोंमें जब भगवान् श्रीरंगनाथकी

सवारी निकलती तो वे दूरसे ही उनके श्रीविग्रहका दर्शन कर लिया करते थे। उस समय उनके हृदयकी विचित्र दशा हो जाया करती थी और उनके नेत्रॉसे आँसुओंकी झड़ी लग जाया करती थी।

उनके मनमें इस बातकी तीव्र अभिलाषा थी कि वे भगवान्के मन्दिरमें जाकर उनका दर्शन करें। किन्तु वे बड़े विनयी, दीन और सौम्य स्वभावके थे। अछूत माने जानेके कारण न तो कोई उनके पास जाता था और न वे ही किसीके पास जानेका साहस करते थे। किन्तु वे इस अवस्थामें बड़े सुखी थे। वे जन-संसर्गसे अपने-आप ही मुक्त हो गये थे, जिसके लिये लोग बड़ा प्रयत्न किया करते हैं। उनके मनमें एकमात्र अभिलाषा यही थी कि जिस-किसी प्रकारसे उन्हें भगवान् नारायणके दर्शन प्राप्त हों।

“नारायण' शब्दके अतिरिक्त उनके मुँहसे और कोई शब्द निकलता ही न था। वे मस्त होकर गाया करते और कहते-- इन नेत्रोने जब एक बार श्रीरंगनाथके मुखारविन्दका दर्शन कर लिया तो अब इन्हें और कोई वस्तु सुहाती ही न थी। श्रीरंगनाथने मेरे हृदयको चुरा लिया। अहा! उनकी शोभाका क्या वर्णन करूँ। उन्होंने मेरे हृदय और मनपर पूरा अधिकार कर लिया है।' वे बहुधा श्रीरंगजीके मन्दिरके समीप चले जाते परन्तु भीतर प्रवेश नहीँ करते।

वे सबेरे तीन बजे उठते और चुपचाप मन्दिरके सामने जाकर उस रास्तेको साफ करते जिस रास्तेसे भक्तलोग अपने इष्टदेवका दर्शन करने आया करते थे। एक दिन किसी ब्राह्मणकी उनपर दृष्टि पड़ गयी, जिससे वे इनपर बहुत बिगड़े और कहा कि तूने अन्त्यज होकर मन्दिरके समीप आनेका साहस क्योंकर किया? परन्तु भक्त मुनिवाहनको इस बातसे तनिक भी दुःख नहीं हुआ। वे चुपचाप अपनी झोंपड़ीमें चले गये और भगवान् रंगनाथका और भी तत्परताके साथ गुणगान करनेमें लग गये। वे संसारको एकदम भूल गये और उन्हें एक प्रकारकी प्रेमसमाधि लग गयी।

इतनेमें ही एक महात्मा अकस्मात् उनकी झोंपड़ीमें चले आये। उन्हें देखते ही भक्त मुनिवाहन उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे सोचने लगे क्या मैं यह कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ, और मारे हर्षके उनका गला भर आया। वे कुछ बोल न सके । इतनेहीमें आगन्तुक महात्मा बोल उठे--' भैया! मैं भगवान् श्रीरंगनाथका एक तुच्छ सेवक हुँ। मुझे सारंगमा मुनि कहते हैं। भगवान्ने मुझे आज्ञा दी है कि तुम मेरे भक्तको कन्धेपर चढ़ाकर बड़े आदरपूर्वक मेरे पास ले आओ।

इसलिये हे भक्तवर! तुम मेरे कन्धेपर चढ़ जाओ और मुझे अपने चरणस्पर्शसे कृतार्थ करो।' भक्तने सोचा, ' आज मैं यह क्या सुन रहा हूँ?' वे कहने लगे--'कहाँ मैं नीच अन्त्यज और कहाँ आप उच्च कुलके ब्राह्मण! मैं तो आपकी छायाका भी स्पर्श नहीं कर सकता, बल्कि मन्दिरकी सड़कके पास जानेका भी मुझे अधिकार नहीं है। फिर मैं आपके कन्धेपर सवार होकर श्रीरंगनाथके दर्शन करने जाऊँ, इससे बढ़कर मेरे लिये पापकी और कौन-सी बात हो सकती है? प्रभो! आपकी क्या मर्जी है?'

सारंगमा मुनिने और कुछ भी न कहकर भक्तको अपने कन्धेपर बिठा लिया और श्रीरंगजीके मन्दिरकी ओर चल दिये। अहा ! अब भक्त मुनिवाहनके आनन्दका क्या ठिकाना, वे भगवानके प्रेममें विभोर हो गये। उनकी वही दशा थी जैसी किसी अन्धेकी नेत्र मिल जानेपर होती है, अथवा किसी वन्ध्याकी पुत्र उत्पन होनेपर होती है अथवा किसी सूमकी खोया हुआ धन मिल जानेपर होती है। सारंगमा मुनि इन्हें कन्धेपर चढ़ाकर ले गये, तभीसे इनका नाम मुनिवाहन पड गया।

ये भगवान् श्रीरंगनाथका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और उनकी स्तुति करने लगे, और कहने लगे"प्रभो! आपने मेरे कर्मकी बेड़ियोंको काट दिया और मुझे अपना जन बना लिया। आज आपके दर्शन प्राप्तकर मेरा जन्म सफल हो गया ।' इस प्रकार वे बहुत देरतक आनन्दसे मग्न होकर भगवान्‌की स्तुति करते रहे, स्तुति करते-करते उनका गला भर आया और वाणी रुक गयी। उनका शरीर नक्षत्रकी भाँति चमकने लगा।

लोगोंने देखा उनके मस्तकपर भगवान्‌का चरण रखा हुआ है और चारों ओर दिव्य प्रकाश छाया हुआ है। बड़ा अद्भुत दृश्य था। मुनिवाहन सबके देखतेदेखते उस दिव्य प्रकाशमें लीन हो गये। मुनिवाहन श्रीवत्सके अवतार माने जाते हैं।

(६-७-८) पोयगै आळवार, भूतत्ताळवार और पेयाळवार

जहाँ भगवान्‌के प्रेमी भक्त एक जगह बैठकर भगवान्‌की चर्चा करते हैं वहाँ भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। यहाँ हम तीन अत्यन्त प्राचीन आळवारोंका परिचय देंगे जो ज्ञान और भक्तिकी सजीव मूर्ति थे।

इनके बनाये हुए लगभग तीन सौ भजन मिलते हैं, जिन्हें लोग ऋग्वेदका सार मानते हैं। इनमेंसे पहलेका नाम सरोयोगी अथवा पोयगै आळवार था। इनका जन्म कांचीनगरीमें हुआ था, जो उन दिनों विद्याका एक प्रधान केन्द्र था। ये पाञ्चजन्यके अवतार माने जाते हैं। भूतत्ताळवारका जन्म महाबलीपुरमें हुआ था और उन्हें लोग भगवान्‌की गदाका अवतार मानते हैं। पेयाळवारका जन्म मद्रासके मैलापुर नामक स्थानमें हुआ था।

इन्हे लोग भगवान्‌के खड्गका अवतार कहते हैं। ये लोग जन्मसे ही संत थे, इनका जीवन बड़ा पवित्र एवं निष्कलंक था। ये तीनों-के-तीनों ज्ञानके भण्डार थे और पराविद्यामें निष्णात थे। वे यदि चाहते तो उन्हें राजाकी ओरसे बहुत अधिक सम्मान प्राप्त होता; परन्तु वे धन, मान अथवा कीर्तिके लोभी नहीं थे। उन्हें भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर और किसी वस्तुकी आकांक्षा ही नहीं थी। उनकी किसी स्थानविशेषपर ममता नहीं थी, वे एक जगह अधिक दिन नहीँ रहते थे और प्रसिद्धप्रसिद्ध तीर्थोंका दर्शन करते हुए तथा भगवानका गुण गाते हुए भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घूमा करते थे।

एक बार ये तीनों संत तिरुक्कोईलूर नामक क्षेत्रमें गये। उस समयतक ये लोग एक-दूसरेसे परिचित नहीं थे। मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा करके रात्रिके समय सरोयोगी एक भक्तकी कुटियामें आकर लेट गये। रात अँधेरी थी और कुटिया बहुत छोटी थी। वे पड़े-पड़े भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे कि इतनेमें बाहरसे आवाज आयी--' भीतर कौन है? क्या मुझे भी रातभरके लिये आश्रय मिल सकता है ?' भला, भक्त किसी शरणागतकी प्रार्थनाको टाल सकते हैं। सरोयोगीने उत्तर दिया-“अवश्य मिल सकता है।

इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी मजेमें लेट सकता है और दो आदमी बैठ सकते हैं; आओ, हमलोग दोनों बैठ रहें।' यों कहकर दोनों मनुष्य बैठकर भगवत्-चर्चा करने लगे। इतनेमें ही बाहरसे एक आदमीकी आवाज़ फिर आयी और उसने भी वही प्रश्न किया जो दूसरेने किया था। सरोयोगीने

कहा--तुम भी आ सकते हो, इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी लेट सकता है, दो आदमी बैठ सकते हैं और तीन खड़े रह सकते हैं।'

इसपर तीनों मनुष्य खड़े होकर भगवानका ध्यान करने लगे। इतनेहीमें तीनोंने ऐसा अनुभव किया मानो उनके बीचमें कोई चौथा मनुष्य और आ गया है, परन्तु उन्हे कोई दिखायी नहीं दिया। वे मन-ही-मन सोचने लगे "यह क्या बात है? यह चौथा व्यक्ति हमारे बीचमें कौन आ गया?' तब इन्होंने ध्यानके नेत्रोंसे देखा तो इन्हें मालूम हुआ कि साक्षात् भगवान् नारायण ही उनके बीचमें उतर आये हैं। देखते-देखते कुटियामें महान् प्रकाश छा गया और वे तीनों-के-तीनों एक ही साथ भगवानका दर्शन प्राप्तकर आनन्दसे मुग्ध हो गये ।

उन्हे शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न रही। भगवान् नारायणने उनसे कहा "वर माँगो।' इसपर तीनों-के-तीनों उनके चरणोंपर गिर पड़े और भगवान्से यही प्रार्थना करने लगे कि 'प्रभो! तुम्हारा गुणगान कभी न छूटे, हम आपसे यही वरदान माँगते हैं।' इसपर भगवान्ने उत्तर दिया-"मेरे प्यारे भक्तो! तुम लोगोंने मुझे अपने प्रेमपाशसे बाँध रखा है, अतः मैं तुम्हारे हृदयको छोड़कर कहाँ जा सकता हुँ? अब तुमलोग जीवोंको मेरे प्रेमका महत्त्व बताओ, इस लोकका कार्य पूराकर वैकुण्ठमें चले आना।'

उसी समय इन तीनों आळवारोंने भगवान् नारायणकी महिमाके सौ-सौ पद रचे जिन्हें" ज्ञानका प्रदीप' कहते हैं, जिसके कुछ पद्योंका भाव नीचे दिया जाता है। "भगवान्के सदृश और कोई वस्तु संसारमें नहीं है, सारे रूप उसीके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र और ग्रह, वेद एवं वेदोंका तात्पर्य, सब कुछ वही हैं।

अतः उन्हींके चरणोंकी शरण ग्रहण करो, मनुष्य-जन्मका साफल्य इसीमें है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हींके नामका उच्चारण करो। तुम धनसे सुखी नहीं हो सकते, उनकी कृपा ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है। वही ज्ञान हैं, वही ज्ञेय हैं और वही ज्ञानके द्वार हैं। उन्हींके तत्वको समझो। भटकते हुए मन और इन्द्रयोंको काबूमें करो, एकमात्र उन्हींकी इच्छा करो और उन्हींकी अनन्य भावसे उपासना करो। वे भक्तोंके लिये सगुण मूर्ति धारण करते हैं। जिस प्रकार लता किसी वृक्षका आश्रय ढूँढ़ती है उसी प्रकार मेरा मन भी भगवान्के चरणोंका आश्रय ढूँढ़ता है।

उनके प्रेममें जितना सुख है उतना इन अनित्य विषयोंमें कहाँ। हे प्रभो! अब ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी वाणी केवल तुम्हारा ही गुण-गान करे, मेरे हाथ

तुम्हींको प्रणाम करें, मेरे नेत्र सर्वत्र तुम्हारे ही दर्शन करें, मेरे कान तुम्हारे ही गुणोंका श्रवण करें, मेरे चित्तके द्वारा तुम्हारा ही चिन्तन हो और मेरे हृदयको तुम्हारा ही स्पर्श प्राप्त हो।'

(९) भक्तिसार (तिरुमड्सि आळवार)

दक्षिणमें तिरुमड्सि (महीसरपुर) नामका एक प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ कई महर्षियोंने तपस्या की है। इन्हीं तपस्वियोंमें भार्गव नामके एक महान् विष्णुभक्त भी हो गये हैं। इनकी पत्नीका नाम कनकावती था, जो इनकी तपस्यामें बड़ी सहायता करती थी। इन्हें भक्तिसार नामका एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। तिरुमड़िसैमें उत्पन्न होनेके कारण इन्हें लोग तिरुमड्सि आळवार कहने लगे। इनके माता-पिताने इनको सरकंडोंके वनमें छोड़ दिया। कहते हैं, स्वयं महालक्ष्मीने इन्हें अपना दुग्ध पान कराया ।

दैवयोगसे तिरुवाडून नामका व्याध और उसकी पत्नी पंकजवल्ली दोनों उस स्थानमें सरकंडे काटनेके लिये उधर आ निकले, उनकी दृष्टि उस बालकपर पड़ी और उन्होंने उसे भगवान्‌की देन समझकर उठा लिया और अपने घर ले आये। उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये उन्होंने उस बालकको अपने ही बालकके रूपमें पाला-पोसा और उसका नाम भक्तिसार रखा | इ

स 'बालकमें यह विशेषता थी कि वह किसी भी स्त्रीका स्तनपान नहीं करता था। एक वृद्ध मनुष्यने इस बालककी आकृति देखकर पहचान लिया कि यह कोई असाधारण बालक है और उसे गायका दूध पिलाने लगा। बालकके पीनेके बाद जो दूध कटोरेमें बचा रहता उसे यह वृद्ध मनुष्य और उसकी पत्नी दोनों पी जाते। इस प्रसादके प्रभावसे उन्हें भी कनिकन्नन् नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ये कनिकन्नन् भक्तिसारकै प्रधान शिष्य हुए।

भक्तिसार अलौकिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने थोड़ी ही अवस्थामें प्राय: सभी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ डाले और वेदान्तदर्शन, मीमांसादर्शन, बौद्धदर्शन एवं जैनदर्शन, सभीका अभ्यास किया। इन्हें भगवान् नारायणकी शरणसे ही परमानन्दकी प्राप्ति हुई। वे भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना किया

करते--' हे प्रभो! मुझे इस जन्ममरणके चक्करसे छुड़ाओ। मैंने अपनी इच्छाको तुम्हारी इच्छाके अन्दर विलीन कर दिया है, मेरा चित्त सदा तुम्हारे चरणोंका ध्यान किया करता है। तुम्हीं आकाश हो, तुम्हीं पृथ्वी हो और तुम्हीं पवन हो। तुम्हीं मेरे स्वामी हो, तुम्हीं मेरे पिता हो। तुम्हीं मेरी माता हो और तुम्हीं मेरे रक्षक हो। तुम्हीं शब्द हो और तुम्हीं उसके अर्थ हो।

तुम वाणी और मन दोनोंके परे हो। यह जगत् तुम्हारे ही अन्दर स्थित है और तुम्हारे ही अन्दर लीन हो जाता है। तुम्हारे ही अन्दर सारे भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं, तुम्हारे ही अन्दर चलते-फिरते हैं और फिर तुम्हारे ही अन्दर लीन हो जाते हैं। दूधमें घीकी भाँति तुम सर्वत्र विद्यमान हो।'

गजेद्रसरोवरके तटपर इन्होंने कई वर्षतक ध्यानयोगका अभ्यास किया। उन्हीं दिनों एक दिन देवता इनके सामने आये और इनसे कहा कि वर माँगो। इन्होंने देवतासे पूछा-'क्या आप हमें मुक्ति दे सकते हैं?' देवताने कहा--'नहीं।' "तो क्या आप किसीकी मृत्युको टाल सकते हैं?' देवताने फिर कहा--' नहीं ।' इसपर इन्होंने कहा-'फिर आप क्या कर सकते हैं ?'

इसपर देवता भक्तिसारसे रुष्ट होकर चले गये, परन्तु वे इनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। इस प्रकार साधकोंके साधनमें विघ्न डालनेके लिये बहुत बार उपदेवता आया करते हैं। साधकको चाहिये कि उनकी कुछ भी परवा न करके भक्तिसारकी भाँति अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे।

इनके अन्दर अहंकारका लेश भी नहीं था। इनके बनाये हुए पदोंके कारण जब इनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी तो इन्होंने एक दिन अपने पदोंकी सारी पोथियाँ कावेरी नदीमें डाल दीं। और सब पुस्तकें तो नदीके प्रवाहमें बह गयीं, केवल दो पुस्तकें बच रहीं। कहते हैं, ये पुस्तकें प्रवाहके साथ न बहकर अपने-आप किनारेकी तरफ लौट आयीं। उनके कुछ उपदेशोंका सार नीचे दिया जाता है-' मुक्ति भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होती है। भगवान्‌की कृपाको प्राप्तकर मनुष्य अजेय हो जाता है।

भगवत्प्रेम ही मनुष्यके लिये सबसे बड़ी सम्पत्ति है। भगवान् ही वेदोंके सार हैं। पूजा और स्तुतिके योग्य एकमात्र भगवान् नारायण ही हैं। वही संसारके आदि कारण हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों वही हैं। नारायण ही सब कुछ हैं, नारायण ही हमारे सर्वस्व हैं।' (१०) नीलन् (तिरुमंगैयाळवार) किसी जंगली हरिनको फँसानेके लिये पालतू हरिनकी आवश्यकता होती है ।

इसी प्रकार जगद्गुरु भगवान् नारायण भी भक्तोंके द्वारा ही जीवोंका उद्धार करते हैं। भगवान् जाति, कुल, विद्या आदिका विचार नहीं करते। वे तो केवल प्रेमसे ही वशीभूत होते हैं। नीलन् (तिरुमंगैयाळवार) का जन्म चोलदेशके किसी ग्राममें एक शैव घरानेमें हुआ था। इनके पिता बहुत बड़े योद्धा थे। पिताने इन्हें युद्धविद्यामें भलीभाँति निपुण कर दिया। ये बाण चलानेमें, घोड़ेकी सवारी करनेमें तथा सेनाका नेतृत्व करनेमें बड़े कुशल हो गये।

चोलदेशके राजाने इनकी वीरतापर प्रसन्न होकर इन्हें अपने सेनानायकके पदपर प्रतिष्ठित किया। जिस समय नीलन् सेना लेकर किसी शत्रुपर आक्रमण करते तो लोगोंके मनमें यह निश्चय हो जाता कि विजय इन्हींके पक्षमें होगी। राजाने इन्हें कुछ भूमि भी प्रदान की। यद्यपि इनकी अध्यात्मकी ओर रुचि थी, तथापि वह रुचि उस राजसी जीवनके कारण एक प्रकार दब-सी गयी थी। दक्षिणके तिरुवालि नामक क्षेत्रमें कुमुदवल्ली नामकी एक कुमारी कन्या रहती थी।

जिस प्रकार विष्णुचित्तने आण्डालका पालन-पोषण किया था उसी प्रकार इसका लालन-पालन भी किसी भक्तके द्वारा ही हुआ था। यह कुमारी तिरुवालिके मन्दिरमें स्थित भगवान् नारायणकी बड़ी भक्त थी। वह देखनेमें भी बड़ी सुन्दर थी। बड़े-बड़े राजालोग उसका पाणिग्रहण करनेके लिये लालायित थे, परन्तु उसने किसीके साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया। जब नीलनूने यह समाचार सुना तो उनके मनमें भी उस बालिकाके प्रति बड़ा आकर्षण हुआ।

उन्होंने कुमुदवल्लीके पिताके पास जाकर उनसे अपने हृदयका भाव कहा। पिताने इस विषयमें कुमुदवल्लीकी राय पूछी। कुमुदवल्लीने कहा--' मेरा विवाह किसी विष्णुभक्तसे ही हो सकता है ।' नीलन्ने यह शर्त मंजूर कर ली । वे तुरन्त किसी वैष्णव आचार्यके पास गये और उनसे दीक्षा लेकर चले आये | कुमुदवल्लीने कहा-- केवल बाह्य परिवर्तन काफी नहीं है, यदि तुम्हें मुझसे विवाह करना है तो अपनी वैष्णवताका क्रियात्मक परिचय देना होगा।

तुम्हें एक सालतक प्रतिदिन एक हजार आठ भक्तोंको भोजन कराकर मुझे उनका प्रसाद लाकर देना होगा।' नीलनूने कुमुदवल्लीकी यह दूसरी शर्त भी मंजूर कर ली और शर्तके अनुसार दोनोंका विवाह हो गया।

इसी प्रकार प्रतिदिन हजारसे ऊपर ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे उनके अन्दर बड़ा परिवर्तन हो गया। उनका चित्त निरन्तर भगवानका चिन्तन करने

लगा। उनके नेत्रोंसे अज्ञानका परदा हट गया। अपनी भक्तिमती पत्नीके संगके प्रभावसे वे भी भगवान् नारायणके अनन्य भक्त हो गये। उन्होंने सोचा, मेरी सारी सम्पत्ति और शक्ति भक्तोंकी चरणधूलिके समान भी नहीं है। यह विचारकर वे बड़े प्रेमसे भक्तोंकी सेवामें लग गये और प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें उन्हें भोजन कराने लगे। यहाँतक कि उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति इसी काममें लगा दी और उनके पास कुछ भी नहीं बचा।

परन्तु फिर भी उन्होंने भक्तोंको भोजन करानेका काम बन्द नहीं किया। उन्होंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे हम भूखों मर जायँ किन्तु इस सेवाके कार्यको नहीं छोड़ सकते, भगवान् नारायण हमारी रक्षा करेंगे। उन्होंने चोलदेशके राजाको वार्षिक कर देनेके लिये जो रुपया बचा रखा था बह भी इसी काममें खर्च हो गया।

महीनों बीत गये, राजाके कोषमें नीलन्का कर नहीं पहुँचा। अब लोगों को उनके विरुद्ध राजाके कान भरनेका अच्छा मौका हाथ लगा। राजाने उन्हें गिरफ्तार करनेके लिये एक बहुत बड़ी सेना भेजी। नीलनूने बड़ी वीरताके साथ राजकीय सेनाका मुकाबला किया और उसे भगा दिया। तब राजा स्वयं बहुत बड़ी सेना लेकर आये। परतु नीलन् फिर भी बडी निर्भीकताके साथ युद्ध करता रहा। राजा उसकी वीरताको देखकर दंग रह गये और उन्होंने उसके सामने सन्धिका प्रस्ता भेजा।

जब वे राजाके सामने आये तो राजाने उनसे कि तुमने सेनापति होकर मेरी ही सेनाके साथ युद्ध किया, यह उचित नहीं था; फिर भी तुम्हारे इस अपराधको मैं क्षमा करता हूँ, किन्तु तुम्हें अपना वार्षिक कर तो भरना ही होगा और जबतक तुम्हारा कर राज्यके कोषमें जमा न हो जाय तबतक तुम्हें मेरे कारागारमें बन्दी होकर रहना होगा।

नीलन् राजाके कारागारमें बन्द हो गये। परन्तु उन्होंने यह प्रण कर लिया था कि मैं भगवान्के भक्तोंको भोजन कराकर ही उनका प्रसाद ग्रहण करूँगा। और भोजन करानेकी व्यवस्था जेलमें हो नहीं सकती थी, इसलिये उन्होंने वहाँपर अन्न, जल कुछ भी नहीं लिया। उनके इस व्रतको देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये। उन्होंने नीलन्को स्वप्नमें दर्शन देकर कहा-'कांचीनगरीमें वेगवती नदीके तटपर अमुक स्थानमें विपुल सम्पत्ति गड़ी हुई है, उस सम्पत्तिको स्वायत्तकर उससे अपना सेवाका कार्य चालू रख सकते हो।'

नीलनूने राजासे कहला भेजा कि मैं कांचीनगरीमें जाकर अपना कर चुका दूँगा। राजाने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन्हें कई अधिकारियोंके

साथ कांची भेज दिया। नीलन्को निर्दिष्ट स्थानमें अपार सम्पत्ति प्राप्त हो गयी, जिससे उन्होंने व्याजसहित राजाका कर भी चुका दिया और भक्तोंको भोजन करानेका कार्य फिरसे शुरू कर दिया। कांचीमें भगवान् वरदराजने नीलन्को दर्शन दिये और चोलदेशके राजाको यह निश्चय हो गया कि नीलन् कोई साधारण मनुष्य नहीं है, वे भगवान्के बड़े भक्त और कृपापात्र हैं और भगवान् सदा उनकी रक्षा करते हैं। राजा स्वयं भक्तके पास आये और उनके चरणोंपर गिरकर उनसे क्षमा माँगने लगे। जो रुपया करके रूपमें उनसे वसूल किया गया था वह भी उन्होंने लौटा दिया और कहा कि इसे अपने पवित्र काममें लगा देना।

नीलनने अब और भी अधिक उत्साहके साथ भक्तोंको भोजन करानेका कार्य प्रारम्भ कर दिया। भोजन करनेवालोंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। भगवान्की कृपासे इन्हें जो कुछ धन प्राप्त हुआ था वह भी खर्च हो गया और भक्त पहलेकी भाँति फिर कंगाल हो गये। परन्तु कुमुदवल्ली और नीलन्ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। जबतक उन्हें भक्तोंका प्रसाद नहीं मिल जाता तबतक वे अन्न-जल कैसे ग्रहण करते, परन्तु सन्तं सुशान्तं सततं नमामि भक्तोंको भोजन करानेके लिये धन कहाँसे आता। अन्तमें नीलनूने सोचा “मैं एक बलवान् सिपाही हूँ।

धनवानोंको क्या अधिकार है कि वे आवश्यकतासे अधिक धन अपने पास बटोरकर रखें और हजारों मनुष्य निर्धन होकर उनका मुँह ताका करें। अच्छा, मैं इन लोगोंको लूटकर इनके अन्यायोपार्जित धनको दरिद्रोमें बाँट दूँगा, तब इन लोगोंकी आँखें खुलेंगी।' यह कहकर उन्होंने डाकुओंका एक बहुत बड़ा गिरोह बनाया और दिन-दहाड़े अमीरोंको लूटना शुरू कर दिया। परन्तु वे लूटके मालमेंसे अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे, सारा-का-सारा भक्तोंको बाँट देते।

नीलनूका उद्देश्य अच्छा होनेपर भी उनका यह कार्य कदापि अनुमोदनीय नहीं था। भगवानूने जब देखा कि मेरा भक्त विपरीत मार्गपर चल रहा है तो उन्होंने उसे रास्तेपर लाकर अपने लक्ष्यपर स्थिर करनेका विचार किया।

आज नीलन्को गहरा माल हाथ लगनेवाला है। सामनेसे एक बहुत बड़ा अमीर गहनोंसे लदी हुई अपनी पत्नीके साथ आ रहा है। ज्यों ही वह दम्पती निकट पहुँची, नीलन्के दलने उसे घेर लिया और कहा कि भगवानूके नामपर अपना सारा मालमता हमारे सुपुर्द कर दो, नहीं तो अपनी जानसे भी हाथ धो बैठोगे। यों कहकर उन्होंने उस अमौरकी स्त्रीके सारे गहने छीन लिये।

उनके सामने सोने और जवाहरातका ढेर लग गया। परन्तु गठरी इतनी भारी हो गयी कि वह किसीके उठाये न उठी। सब-के-सब अपना-अपना जोर लगाकर हार गये, किन्तु वह गठरी टस-से-मस न हुई। अब तो नीलन्के मनमें कुछ सन्देह हुआ कि अवश्य ही इसमें कोई जादू है। उन्होंने उस अमीरसे कहा कि "अवश्य ही तुमने किसी मन्त्रके बलसे इस गठरीको भारी बना दिया है; अत: या तो वह मन्त्र मुझे बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें यहाँसे जाने न दूँगा।'

अमीरने अलग ले जाकर उसके कानमें 'ॐ नमो नारायणाय यह अष्टाक्षर मन्त्र पढ़ दिया। उस मन्त्रके कानमें पड़ते ही नीलन्के शरीरमें मानो बिजली-सी दौड़ गयी। wee उस मन्त्रका उच्चारण करते हुए नाचने लगे। इतनेमें उन्होंने देखा कि न तो वह दम्पती है और न वह धनका ढेर ही है। अब तो नीलन्के आश्‍्चर्यका ठिकाता रहा।

उन्होंने आँख उठाकर ऊपरकी ओर देखा तो उनके नेत्र वहीं अटक गये। उन्होंने देखा कि साक्षात् भगवान् नारायण लक्ष्मीजीके सहित गरुड्पर सवार होकर आकाशमार्गसे जा रहे हैं। अब तो नीलनूको सारा रहस्य मालूम हो गया। वे मन-ही-मन पछताने लगे और कहने लगे कि 'मैं कैसा दुष्ट और पापी हूँ कि मुझे इस पापकर्मसे बचानेके लिये साक्षात् मेरे इष्टदेव और इष्टदेवीको इतना कष्ट उठाना पड़ा। हाय! मैंने अपने इन पापी हाथोंसे उनके शरीरपर हाथ लगाया, उन्हें डराया-धमकाया और उन्हें मारनेपर उतारू हो गया। हाय! मैं कितना नीच हुँ।

किन्तु साथ ही, अहा! मेरे स्वामी कितने दयालु हैं! प्रभो! मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये और मुझे अपनी शरणमें लीजिये। प्रभो! आज तुमने मुझे बचा लिया। प्रभो! मैंने तुम्हारे साथ कितने अत्याचार किये, परन्तु तुमने मेरे अपराधोंकी ओर न देखकर मेरी रक्षा की।' उनकी इस आत्मग्लानिको सुनकर ऊपरसे आवाज आयी-- मेरे प्यारे नीलन्! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम किसी प्रकारकी ग्लानि मनमें न लाओ। अब तुम श्रीरंगम् जाकर वहाँके मन्दिरको पूर्ण करवाओ और अपने भजनरूपी हारोंसे मेरी पूजा करो।

जबतक जिओ मेरी भक्ति और प्रेमका प्रचार करो और शरीरत्याग करनेपर मेरे धाममें मुझसे मिलो।'उसी दिनसे नीलनूका जीवन पलट गया। उन्हें वह मन्त्र मिल गया जिससे उनके सारे पाप धुल गये। उन्होंने भगवान् विष्णुकी स्तुतिके हजारों पद बनाये, जिन्हें लोग "महावाक्य' कहते हैं। ये भगवान्के शारङ्गधनुषके अवतार माने जाते हैं।

इन्होंने लाखों रुपये लगाकर भगवान् श्रीरंगजीके मन्दिरको पूर्ण करवाया। ये भगवान्‌की दास्यभावसे उपासना करते थे और इनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌की सेवामें बीतता था। ये प्रसिद्ध शैवाचार्य श्रीज्ञानसम्बन्धके समसामयिक थे और वे भी इनके पदोंका बड़ा आदर करते थे। इन्होंने एक बार बौद्धोंको शास्त्रार्थमें हराकर विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तकी स्थापना की थी।

(११) मधुर कवि आळवार

मधुर कवि गरुड़के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म तिरुक्कोळूर नामक स्थानमें एक सामवेदी ब्राह्मणकुलमें हुआ था। ये वेदके बड़े अच्छे ज्ञाता थे; परन्तु इन्होंने सोचा कि प्रेम, भक्ति और तत्त्वबोधके बिना विद्या किसी कामकी नहीं। ऐसा विचारकर इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और अकेले तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। इनके मनमें भगवत्प्रकाश प्राप्त करनेकी बड़ी अभिलाषा थी। इसी उद्देश्यसे ये अयोध्या, मथुरा, काशी आदि अनेक तीर्थस्थानोंको गये।

एक दिन जब ये गंगातटपर विचर रहे थे इन्हें दक्षिणकी ओर एक बड़ा दिव्य प्रकाश दिखायी दिया। वह प्रकाश इन्हे लगातार तीन दिनतक दिखायी देता रहा। ये उस प्रकाशसे इतने अधिक आकर्षित हुए कि ये उसके पीछे-पीछे बहुत दूर चले गये। जब ये कुरुकूर नामक स्थानमें पहुँचे तो इन्होंने देखा कि वह प्रकाश सहसा लुप्त हो गया। पूछताछ करनेपर मालूम हुआ कि वहाँ एक महान् योगी रहते हैं।

ये उस योगीके पास गये और देखा कि एक मन्दिरके पास एक इमलीके पेड़के कोटरमें वे समाधिस्थ हुए बैठे हैं। मधुर कवि बहुत देरतक इस आशासे बैठे रहे कि महात्माकी समाधि टूटे तो उनसे कुछ बातचीत की जाय। अन्तमें इनसे नहीं रहा गया। इन्होंने योगिराजको आवाज दी, किन्तु उस आवाजका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला।

इन्होंने ताली बजायी, किन्तु फिर भी महात्मा टस-से-मस नहीं हुए। अन्तमें इन्होंने मन्दिरकी दीवालपर पत्थर मारा जिससे बड़े जोरकी आवाज हुई; किन्तु उसका भी महात्मापर कोई असर नहीं हुआ, वे ज्यों-के-त्यों आसन लगाये बैठे रहे। तब मधुर कवि साहस करके कोटरके पास गये और बोले-' महाराज! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ, यदि सत्पदार्थ (सूक्ष्म चेतनशक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अन्दर आविर्भूत हो जाय तो वह क्या खायेगा और कहाँ विश्राम करेगा ?' अब योगीने अपना मुँह खोला और कहा-'वह उसीको खायेगा और वहींपर विश्राम करेगा।'

यह जीव क्या खाता है और कहाँ कैसे रहता है? इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म आत्मा हृदयके अन्तस्तलमें रहकर प्रकृतिके कर्मोंका द्रष्टारूपसे उपभोग करता है। वह क््ेत्रज्ञरूपमें असंग होकर प्रकृतिके खेलका आनन्द लेता है। मधुर कविने अपने गुरुको पहचान लिया और योगिराजने भी अपने शिष्यको ढूँढ़ निकाला, जिसकी वे बहुत दिनोंसे बाट देख रहे थे।

वे इस असत् (शरीर) के अन्दर सत् (परमात्मा) के रूपमें विद्यमान थे।मधुर कविने अपने गुरुकी स्तुति करते हुए कहा "मैं इन्हें छोड़कर दूसरे किसी परमात्माको नहीं जानता। मैं इन्हींके गुण गाऊँगा, मैं इन्हींका भक्त हूँ। हाय! मैंने अबतक संसारके पदार्थोंका ही भरोसा किया। मैं कितना अभिमानी और मूर्ख था। सत्य तो यही हैं। मुझे आज उसकी उपलब्धि हुई।

अब मैं अपने शेष जीवनको इन्हींकी कीर्तिका चारों दिशाओंमें प्रचार करनेमें बिताऊँगा। इन्होंने आज मुझे वेदोंका तत्त्व बताया है। इनके चरणोंमें प्रेम करना ही मेरे जीवनका एकमात्र साधन होगा।'

(१२) नम्माळवार (शठकोप)

. मधुर कविके गुरुका नाम नम्माळवार (शठकोप) था। इनका जन्म तिरुक्कुरुकूर (श्रीनगरी) में हुआ था। इनके पिताका नाम कारिमारन् और माताका नाम उड़यनंगै (भगवत्कृपापात्र) था। ये विष्वक्सेनके अवतार माने जाते हैं। इन्हें इनके माता-पिताने जन्मते ही भगवान्‌के मन्दिरमें भेंट चढ़ा

दिया। ये मन्दिरमें प्रवेश करते ही चलने लगे और एक इमलीके पेड़के पास जाकर उसके कोटरमें पद्मासन लगाकर बैठ गये और आँखें मूँदकर ध्यानस्थ हो गये।

उन्हें शरीरका ज्ञान बिलकुल न रहा और इसीलिये इनका नाम शठकोप पड़ा। इन्होंने कई सुन्दर पद बनाये, जिनका आज भी दक्षिणमें बड़ा प्रचार है। इनके पदोंको लोग सामवेदका सार मानते हैं। जब इन्होंने अपने पदोंको तामिलसंघम्के सामने पढ़कर सुनाया तो उस संघम्के सारे-के-सारे सन्तं सुशान्तं सततं नमामि सदस्य इनकी कविताको सुनकर मुग्ध हो गये। तामिल भाषाके सबसे बडे कवि कंबनूने जब तामिल-रामायणकी रचना की तो उन्होंने सबसे पहले उस ग्रन्थको भगवान् रंगनाथके चरणोंमें ले जाकर रख दिया। इसपर मूर्तिमेंसे आवाज आयी--' क्या तुमने शठकोपका चरित्र भी गाया है?'

कंबनने कहा--'नहीं, प्रभो! मुझे क्षमा कीजिये। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।' और इसके बाद उन्होंने अपनी रामायणके आदिमें नम्माळवारकी स्तुति जोड़ दी। कंबनूने तामिलसंघम्के पण्डितोंके सामने नम्माळवारके पदोंकी प्रशंसामें ये शब्द कहे“क्या संसारके सारे काव्य नम्माळवारके एक शब्दकी भी बराबरी कर सकते हैं ?' क्या मच्छर गरुड़का मुकाबला कर सकता है? क्या जुगनू सूर्यके सामने चमक सकता है?

क्या कुत्ता शेरके सामने भोंक सकता है? क्या चुड़ैल उर्वशीके सामने अपना सिर ऊँचा कर सकती है?' जब शठकोपने भगवान् रंगनाथके सामने अपने पदोंको गाकर सुनाया तो मूर्तिमेंसे यह आवाज आयी“ये हमारे आळवार (नम् आळवार) हैं।'

नम्माळवार पैंतीस वर्षतक राधाभावमें रहे। वे सर्वत्र, सब समय और सारी परिस्थितियों और घटनाओंमें अपने इष्देवका ही दर्शन करते थे । ' वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' भगवानका यह वाक्य इनपर पूरी तरहसे घटता था। ये भगवान्के विरहमें रोते, चिल्लाते, नाचते, गाते और मूर्च्छित हो जाते।

वीरशैव संत

वेद, उपनिषद् पुराण एवं आगमोंमें वीरशैव सिद्धान्तका बड़ी विशद रीतिसे वर्णन हुआ है । सृष्टिके आदिकालमें श्रीरेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धेनुकर्ण और विश्वकर्ण नामके पाँच गणाधीश्वरोंने इसे स्थापित किया था। ये महानुभाव प्रत्येक युगमें शिवलिंगमुखोंसे दिव्य देह धारण करके प्रकट होते हैं और इस सिद्धान्तका प्रसार करते हैं। श्रीरेणुकाचार्यजीने कुल्यपाकक्षेत्रमें विराजमान श्रीसोमेश्वरलिंगसे प्रकट होकर रम्भापुरी (वालेहोल्लूर) क्षेत्रमें धर्मपीठकी स्थापना की । उसका नाम वीरसिंहासन है। श्रीदारुकाचार्यजीने वरक्षेत्रमें विराजमान श्रीसिद्धेश्वरलिंगसे अवतार लेकर उज्जयिनीमें सद्धर्मसिंहासन नामक धर्मपीठ स्थापन किया श्रीएकोरामाराध्यजीने द्राक्षारामक्षेत्रके श्रीरामनाथलिंगसे अवतार लेकर हिमवत्केदारक्षेत्रमें वैराग्यसिंहासन नामके धर्मपीठका स्थापन किया ।

श्रीपण्डिताराध्यजीने श्रीशैलक्षेत्रके श्रीमल्लिकार्जुनलिंगसे अवतार लेकर वहीं सूर्यसिंहासन नामका धर्मपीठ स्थापित किया। और श्रीविश्वाराध्यजीने काशीके विश्वनाथलिंगसे अवतार लेकर वहीं ज्ञानसिंहासन नामके धर्मपीठका स्थापन किया।

इन सभी महामान्य आचार्योंने शक्तिविशिष्टाद्वैत नामक सिद्धान्तका, जिसे शिवाद्वैत अथवा वीरशैव सिद्धान्त कहते हैं, प्रचार किया । यहाँ शक्तिशब्दसे स्थूलचिदात्मक जीव और सूक्ष्मचिदात्मक शिव दोनोंका ही बोध होता है। यहाँ किंचिदज्ञ, किंचित्कर्तुरूप जीव और सर्वज्ञ सर्वकर्तृरूप शक्तियोंसे युक्त शिवका अद्वैत (सामरस्य) ही शक्तिविशिष्टाद्वैत है। शक्तिका अर्थ है परशिव-ब्रह्मतत्त्वमें अपृथक्सिद्ध होकर रहनेवाला विशेषण।

अर्थात् शक्तिरूप अपृथकुसिद्ध विशेषणसे विशिष्ट ब्रह्मतत्त्वको प्रतिपादन करना ही इस सिद्धान्तका रहस्य है। जैसे चन्द्रमें चन्द्रिका, सूर्यमें प्रभा, अग्निमें दाह, समुद्रमें सौभाग्य, पुष्पमें गन्ध एवं शर्करामें मिठास, अविनाभाव सम्बन्धसे रहते हैं वैसे ही शिवमें शक्ति भी रहती हैं। चराचरात्मक समस्त प्रपंच शक्तिविशिष्ट परशिवका परिणामरूप है । इस सिद्धान्तको लिंगांगसामरस्य भी कहते हैं। लिंग (शिव), अंग (जीव) इनका सामरस्य (ऐक्य) ही इसका अर्थ है।

यह जीव अनादिकालसे संसारकी दुःखमय योनियांमें भटकते-भटकते खिन्न हो गया है। यही जब शिवउपासनाबलसे शिवस्वरूप हो जाता है तब सामरस्यको प्राप्त कर लेता है।

इन आचार्योंके समयनिर्णयका प्रयास व्यर्थ है। जैसे षण्मुख, गणपति, नन्दी, भृंगिरिटि, वीरभद्र आदि प्रमथोंका कालनिर्णय असाध्य है वैसे ही इन आचार्योंका भी। ये प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होकर चक्रवर्ती सम्राट्से लेकर दरिद्रतकका और महर्षियोंसे लेकर साधारण ज्ञानसम्पन्न लोगोंतकका उद्धार करते हैं । वीरशैव-सिद्धान्तके साहित्यमें इनका बड़ा विस्तृत वर्णन है। यहाँ बहुत संक्षेपसे कुछ लिखा जाता है।

जगदगुरु श्रीरेणुकाचार्यजी

कैलाशस्थित परमेश्वरने ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता तथा वीरभद्र, नन्दी आदि प्रमथगणोंसे शोभित सभामें दिव्य सिंहासनपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ लोकहितके लिये अपने प्रमथपुंगव श्रीरेणुकगणाधीश्वरको बुलाकर कहा कि “तुम वेदानुसार शिवभक्तिकी प्रतिष्ठा करनेके लिये कुल्यपाकक्षेत्रके श्रीसोमनाथलिंगसे अवतीर्ण होकर भूमण्डलके समस्त मनुष्योंको शिवाद्वैत-सिद्धान्तका उपदेश करके सबको शिवभवितमय बनाकर यहाँ लौट आओ।' उनकी आज्ञानुसार इन्होंने अवतार ग्रहण किया।

इनके इस आश्चर्यमय आविर्भावको देखकर लोगोंने जिज्ञासा की कि आप कौन हैं ? तब इन्होने स्पष्ट अपने अवतारका प्रयोजन एवं अपना स्वरूप बतलाकर सबको सन्तुष्ट किया। फिर वहाँसे प्रस्थान करके आकाशमार्गसे अगस्त्य महर्षिका उद्धार करनेके लिये उनके पास पधारे। मलयाश्रममें पहुँचते ही अगस्त्य ऋषिने इनका बड़े भक्तिभावसे स्वागत किया एवं षोडशोपचार-पूजा की।

तत्पश्चात् इनकी स्तुति करते हुए दर्शनके कारण अपने सौभाग्यका वर्णन किया और प्रार्थना करके श्रुतिसम्मत शिवादवैत- सिद्धान्तका उपदेश ग्रहण किया। वे उपदेश आज भी 'सिद्धान्तशिखामणि' अथवा 'रेणुकागस्त्यसंवाद' के नामसे ग्रन्थरूपमें प्रसिद्ध हैं। वहाँसे चलकर आचार्यचरणोंने विभीषणके

उद्धारके लिये लंकाकी यात्रा की। विभीषणने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ इनकी स्वागत-सत्कार किया और अन्तमें निवेदन किया *रावणने मृत्युके समय मुझसे आग्रह किया था कि ' भाई! मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि नव करोड़ शिवलिंगोंकी स्थापना करूँ।

छः करोड़की स्थापना तो मैंने कर ली, अब तीन करोड़की स्थापना तुम अवश्य करना।' मैंने अपने बड़े भाईकी इस अन्तिम इच्छाको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा की, परन्तु तीन करोड़ आचार्योंके एक साथ न मिलनेके कारण मैं एक ही मुहूर्तमें उनकी स्थापना करनेमें असमर्थ हूँ। आप इसका कोई उपाय करें।' उनकी इस भक्तिपूर्ण प्रार्थनाको सुनकर रेणुकाचार्यने एक ही समय तीन करोड़ रूप धारण करके उनकी स्थापना करा दी।

यह देखकर विभीषणजी विस्मित हो गये और उनकी शरण ग्रहण करके उन्होंने शिवाद्वैतसिद्धान्तकी दीक्षा ली और आनन्दसे लंकाका राज्य करने लगे। ये दो चरित्र त्रेतासे सम्बन्ध रखते हैं। कलियुगमें भी उन्होंने रेवणाराध्य अथवा रेवणसिद्धके नामसे अवतार ग्रहणकर चौदह सौ वर्षतक भूतलपर निवास किया था।

आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व महाराजा विक्रम उज्जयिनीमें राज्य करते थे। आचार्यने वहाँकी यात्रा की और उनसे सत्कृत होकर उन्हें शिवतत्त्वका उपदेश किया तथा उन्हें एक ऐसा खड्ग दिया जिसके प्रभावसे महाराज विक्रमने अपने शत्रुओंपर विजय और बड़ी कीर्ति प्राप्त की।

अद्वैतमतस्थापक जगद्विख्यात श्रीशंकराचार्यजीने आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व अवतार ग्रहण करके बौद्धादिकोंका उपद्रव नष्ट किया और वैदिक धर्मका उद्धार किया। जब वे श्रीशैलक्षेत्रमें तपस्या कर रहे थे तब आकाशवाणी हुई कि तुम मलयाचलमें श्रीरेणुकाचार्यके पास जाओ और उनसे उनके चन्द्रमौलीश्वर नामक शिवलिंगको लेकर पूजा करो, तब तुम्हारा कल्याण होगा। यह बात सुनकर श्रीशंकराचार्य बड़े आनन्दसे श्रीरेणुकाचार्यजीके पास आये और उनसे वह लिंग लेकर विधिवत् उपासना करके अपनी अभिलाषा पूर्ण को।

अभीतक श्रीशंकराचार्यके पीठमें इसकी पूजा चलती है । शंकराचार्यने वही लिंग मण्डनमिश्रको दिया। यह बात प्राचीन एवं अर्वाचीन उभयविध अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है।

बम्बई प्रान्तके कोल्हापुर नगरमें एक सिद्ध रहता था। वह यन्त्र-मन्त्रोंके बलपर अनेकों चेले बनाकर लोगोंपर प्रभाव जमाये हुए था। कोई दूसरे सत्पुरुष वहाँ जाते तो यह बहुत परेशान करता। यह बात सुनकर आचार्यने वहाँकी यात्रा की और बेखटके उसके घरमें जाकर "भिक्षां देहि' की ऊँची आवाज़ लगायी। यह गम्भीर ध्वनि सुनकर उस सिद्धको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने अपनी पत्नीको आज्ञा दी कि जाकर खड्गसे उसका हाथ काट डालो।

परन्तु उसकी पत्नी जब आचार्यके सामने आयी तब भिक्षुकका मुख देखते ही श्रद्धा-भक्तिसे उसका सिर झुक गया। उसने अपने पतिसे प्रार्थना की कि यह तो साक्षात् भगवान् शिव ही हैं, परन्तु उसने एक न सुनी और फिर मारनेके लिये डाँटकर भेजा। बड़े दु:खके साथ वह आयी और बड़े वेगसे उनके हाथपर खड्ग रख दिया। रेणुकाचार्यजीने अपने फाल-नेत्रोंस उस खड्गको तपाकर पानी कर दिया और आनन्दसे पी लिया। इधर वह खड्ग दूसरे रूपमें उस सिद्धके पेटमें घुस गया और वह जमीनपर गिर पड़ा।

अब वह चिल्लाने लगा। उसकी स्त्री अपने पतिकी यह दुरवस्था देखकर आचार्यके चरणोंपर गिर पड़ी और प्रार्थना की-'मेरे पतिदेवके अपराध क्षमाकर उनका उद्धार कीजिये और ज्ञानोपदेशसे सन्मार्ग दिखाइये।' उस सती स्त्रीकी कातर वाणी सुनकर आचार्यने सिद्धके पेटपर अपना हाथ फेर दिया और उसी समय खड्ग उसके पेटसे बाहर निकल आया ।

तब उस सिद्धने बड़ी प्रार्थना की और आचार्यसे उपदेश ग्रहण किया, और आचार्यकी कृपासे उसका उद्धार हो गया। श्रीरेणुकाचार्यजी चौदह सौ वर्षपर्यन्त संसारमें शिवभक्तिका प्रचार करके कांचीक्षेत्रमें गये और वहाँ एकाम्रेश्वर देवालयमें निवास करने लगे। वहाँ उन्होंने परमेश्वरसे प्रार्थना की कि ' अब मैं तुम्हारे पास आना चाहता हूँ।

परन्तु इस शिवाद्वैतमतकी रक्षाके लिये एक दिव्य सद्गुरुकी आवश्यकता है।' परमेश्वरकी आज्ञा हुई कि "तुम एकाम्रेश्वरमूर्तिके पास बैठकर प्रार्थना और उस सद्गुरुका चिन्तन करते हुए उस मूर्तिके सामनेकी भूमि स्पर्श करो, तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।' आचार्यने ऐसा ही किया और उस भूमिसे एक अप्राकृत सूर्यके समान तेजस्वी लिंग-भस्म-रुद्राक्षादिभूषित दिव्य गुरुमूर्तिका आविर्भाव हुआ। उनका नाम श्रीरुद्रमुनि हुआ। थोड़े ही दिनोंमें वे बड़े हो गये एवं आचार्यने उन्हें सम्पूर्ण संस्कारों एवं विद्यासे युक्त कर दिया।

तत्पश्चात् इन्हींको अपने धर्मपीठका उत्तराधिकारी बनाकर स्वयं कुल्यणकक्षेत्र जाकर श्रीसोमनाथ-शिवलिंगमें अन्तर्धान हो गये। श्रीरेणुकाचार्यजीकी ही भाँति शिवलिंगसे आविर्भूत होकर दारुकाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य, विश्वाराध्य, इन चारों आचार्योंने भी प्रत्येक युगमें शैवसिद्धान्तकी स्थापना की। उन सबका प्रतिपादन करनेसे लेख बड़ा हो जायगा। अतः अब उनके बारेमें न लिखकर कुछ दूसरे संतोंके सम्बन्धमें संक्षेपतः लिखा जाता है।

जगदगुरु श्रीसदानन्द शिवयोगी ये महात्मा श्रीशैलक्षेत्रके वीरशैव-गुरुपीठके स्वामी थे। स्कन्दपुराणके अनुसार द्वापरयुगमे इनका स्थितिकाल सिद्ध होता है। ये बड़े विद्वान्, शिवलिंगपूजा-ध्यानादिपरायण एवं महामहिमशाली थे। स्कन्दपुराणान्तर्गत शंकरसंहिताके ८५वें अध्यायमें इनके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन आया हैकुशस्थल नगरमें श्वेत नामक एक बड़ा विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मण रहता था।

उसका पिंगल नामका एकमात्र पुत्र महान् पापी था। धर्मात्मा श्‌वेतको उसकी नीच वृत्ति देखकर बड़ा कष्ट होता था। बहुत समझानेपर भी कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला। अन्तमें पापोंके फलस्वरूप पिंगल रोगी हो गया। अपने पुत्रको ऐसी स्थितिमें देखकर श्वेतको बड़ा कष्ट हुआ। उसी समय श्वेतके एक परम मित्र हरप्रिय नामके लिंगधारी ब्राह्मण वहाँ आये।

उन्होंने अपने प्रिय मित्रके पुत्रकी दुरवस्था देखकर यह सम्मति दी कि 'तुम श्रीशैलक्षेत्रमें जाओ। प्रथम तो उस क्षेत्रमे ही बड़ा प्रभाव है, दूसरे वहाँ निगमागमतत्त्वज्ञ शिवध्यानपरायण लिंग-भस्म-रुद्राक्षालंकृत जीवन्मुक्त सदानन्द नामक एक जगदगुरु वास करते हैं; तुम उनकी शरणमें जाओ। उनके अनुग्रहसे तुम्हारे पुत्रका रोग घट जायगा।'

अपने मित्रके कथनानुसार श्वेत अपने पुत्रके साथ श्रीशैल गये और वहाँ स्नान-दानादि करके श्रीसदानन्द जगद्‌गुरुका दर्शन करके अपनी करुणकथा सुनायी। दयालु आचार्यने पिंगलको चरणोदक और प्रसाद देकर, उसके सकल पापोंका उन्मूलनकर, महारोगोंको नाशकर शिवतत्त्वका उपदेश दिया एवं अपना शिष्य बनाकर सद्‌गति प्रदान की ।

यह चरित्र विस्तारसे उपर्युक्त ग्रन्थमें ही देखना चाहिये। श्रीशिवयोगी शिवाचार्य ये महानुभाव आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व कर्णाटकमें अवतीर्ण हुए थे। वीरशैवमतमें इनकी बड़ी प्रसिद्धि है। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तशिखामणि' है। उसके प्रथम

परिच्छेदसे मालूम होता है कि इन्होंने बौद्धादिका खण्डन करके शिवभक्तिकी स्थापना की थी। वीरशैवोंने इन्हें श्रीरेणुकाचार्यजीका अपरावतार माना है।

श्रीमल्लिकार्जुन शिवाचार्य ये काशीक्षेत्रके श्रीजगदगुरुविश्वाराध्यपीठके अधिपति थे। दान-शासनोंसे विदित होता है कि ये ईस्वी सनकी छठी शताब्दीमें विद्यमान थे। इनमें अनेकों सिद्धियाँ थीं और ये आकाशमार्गसे चलते थे। उस समयके काशीके महाराज श्रीजयनन्ददेवने इन्हें भक्तिपूर्वक कर्दमेश्वर महादेव और गंगाके मध्यभागकी (आठ सौ परग) भूमिका दान किया। उस समयका दानपत्र और भूमि अब भी काशीके जंगमबाड़ी-मठाधीशवरके अधीन है। वह दानपत्र वि० सं० ६३१ कार्तिक शुक्ल ११, ईस्वी सन् ५७४ का लिखा है। उन्हींके समयमें वीरशैवोंके मठ प्रयाग, नैपाल, दिल्ली आदिमें बने।

उन दिनों नैपालमें विश्वमल्ल नामके राजा शिवभक्तिसे विमुख हो गये थे। यह बात सुनकर इन्होने नैपालकी यात्रा की और इनकी अलौकिक शक्तिसे चकित होकर राजाने इनसे शिवभक्तिकी दीक्षा ली। उस राजाने इनकी सेवामें (३०० मूरिभूला) भूमि अर्पण की और संस्कृत भाषामें एक शिलालेख लिखवाया जो अबतक नैपालके भातगाँवके जंगमबाड़ीमठमें विद्यमान है। यह दान-शासन वि० सं० ६९२ ज्येष्ठ शुक्ल ८ (ई० सं० ६३५) को लिखा गया था। इस प्रकार इन्होंने अनेकों व्यक्तियोंका, जिनमें बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी सम्मिलित हैं, उद्धार किया। इनकी कीर्ति भूमण्डलमें व्याप्त है।

श्रीपतिपण्डिताराध्य

वीरशैवमतके महामहिमशाली श्रीपतिपण्डिताराध्यजी ई० सं० १०६० में आन्ध्रदेशमें प्रकट हुए थे। ये वेदवेदांग आदिमें भलीभाँति पारंगत थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्रपर वीरशैवसिद्धान्तपरक ' श्रीकरभाष्य' की रचना की। बड़े-बड़े विद्वानोंने इनकी महिमा गायी है। एक समय शास्त्रार्थके अवसरपर इन्होंने कहा कि ' अग्निसे प्रसादका महत्त्व अधिक है।' परन्तु वादियोंने इसे स्वीकार

नहीं किया और इस बातके प्रत्यक्ष होनेपर ही माननेका हट किया। उस समय इन्होंने अग्निको एक वस्त्रमें लपेटक शमीवृक्षमें बाँध दिया।

गाँवका सारा काम-काज बंद हो गया, जब सब लोगोंने आकर बड़ी प्रार्थना की और प्रसादकी महिमा स्वीकार की तब इन्होंने अग्निको मुक्त कर दिया। इनके जीवनमें ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं। परन्तु भक्तोंके जीवनमें इन घटनाओंका क्या महत्त्व है। ये 'श्रीकरभाष्य' के रूपमें सम्पूर्ण शैवजगत्‌के चिरस्मरणीय हैं। श्रीनिजगुणशिवयोगी इन महात्माका जन्म कर्नाटक प्रदेशमें हुआ था। ये वीरशैवमतके आराध्य ब्राह्मण थे।

इनका समय ईस्वी सन्‌की चौदहवीं शताब्दी है। पहले ये मद्रास प्रान्तके कोयिमत्तूरु जिलेके कोल्लेगाल तालुकके शम्भुलिंगनवेट्ट (शम्भुलिंगगिरि) के आस-पासके प्रदेशके राजा थे। पूर्वजन्मोंके पुण्यफलसे इन्हें राज्योपभोगसे घृणा हो गयी और परम विरक्त होकर इन्होंने शम्भुलिंगगिरिमें निवास करके बड़ी तपस्या की । राजा होनेपर भी इन्होंने शास्त्रोंका बड़ा अभ्यास किया था।

अब यहाँ उसकी सफलताका समय आया। ये सर्वदा शम्भुलिंगके ध्यानमें मग्न रहनेपर भी लोकहितार्थ कर्नाटक भाषामें वेदान्तशास्त्रका मर्म लिखा करते । इनके ग्रन्थ बड़े ही मनोहर हैं । परमार्थगीता आदि छः ग्रन्थ बड़े प्रसिद्ध हैं। लोग इन्हें शंकरका अपरावतार मानते हैं।

श्रीमल्लिकार्जुन शिवयोगी

ये काशीक्षेत्रके श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्यपीठके अधिपति थे। इनका समय अनुमानतः २५० वर्ष पूर्व मानना चाहिये। ये सदा शिवयोगचिन्तनमें ही अपना समय व्यतीत करते थे। सब मतवादियोंने इनकी महिमा स्वीकार की थी। इनके समयमें उत्तरी भारतमें औरंगजेबका बड़ा उपद्रव था। जब उसने काशी आकर दूसरे अनेकानेक मन्दिरोंको नष्ट किया और शिवमठ तोड़नेके लिये आया, उस समय ये महानुभाव शिवपूजामें संलग्न थे।

पूजा समाप्त होनेपर जब शिष्योंने इन्हें यह समाचार सुनाया तब इन्होंने फाटकपर आकर ऐसा उग्र रूप दिखलाया कि औरंगजेबकी सेना डरकर इधर-उधर भाग गयी। औरंगजेब पागल होकर जमीनपर गिर पड़ा और चिल्लाने लगा। उसकी दयनीय दशा देखकर जब इन्होंने उसे क्षमा कर दिया तब उसने इनकी शरण ग्रहण करके जंगमबाड़ीमठके नामपर भूमिदान किया और फारसी भाषामें एक दानपत्र लिखकर दिया, जिसका भावार्थ यह है--' मेरे जंगमबाड़ीमठमें जाते ही उस मठको मूर्ति मेरे सामने खड़ी हुई दीख पड़ी।

वह मूर्ति एकदम काली थी, आँखें प्रलयाग्निके समान थीं। मस्तकके ऊपर केश बकरेकी भाँति बढ़े हुए थे। आकार छोटा होनेपर भी भूमि और आकाशको एक करके वह खड़ी थी। देखकर मैं भयभीत होकर शरणागत हुआ हूँ और भक्तिपूर्वक भूदान करता हूँ।' यह दानपत्र अबतक काशीके जंगमबाड़ीमठमें सुरक्षित है। इसीसे मल्लिकार्जुनकी महिमा प्रकट होती है।

रीवाँके महाराज श्रीभावसिंहदेव एवं श्रीअवधसिंहजू देवने आकर इनके दर्शन किये और मठकी सुव्यवस्थाके लिये खारी नामक ग्रामका दान किया। उस दानका समय वि०सं० १७४० वैशाख शुक्ल द्वितीया, रविवार है। यह दानपत्र भी काशीके मठमें विद्यमान है। इन शिवयोगीकी कीर्ति अमर है। जगदगुरु श्रीसिद्धलिंग शिवाचार्य महास्वामीजी ये महात्मा मैसूर राज्यके चित्रदुर्ग जिलेमें ' बंगारनायकनहल्लि' नामक गाँवमें गुरुस्थल-मठाधिकारियोंके बंशमें सन् १८९० ई० में प्रकट हुए थे। बचपनमें ही इनके मुँहपर अद्भुत ज्योति थी। इन्हें देखकर लोग कहते थे कि ये अवश्य योगिराज होंगे।

इनकी तेरह वर्षकी अवस्थामें उज्जयिनी-पीठाधिपतियोंकी दृष्टि इनपर पड़ी। उन्होंने सोचा, यह बालक पीठका अधिपति हो जाय तो यह सिंहासन जगद्विख्यात हो जायगा। उन्होंने बालकके पिताको बुलाया और इस बालकको उसकी प्रसन्नतासे ले लिया।

इन्हें ई० सन् १९०३ में जगद्गुरुपीठका अधिकार मिला। अधिकार मिलते ही इन्होंने अपने इस पीठमें संस्कृतके बड़े-बड़े विद्वान् रखे और जन्मान्तरके संस्कारसे चार-पाँच वर्षमें ही विशेष पाण्डित्यका सम्पादन कर लिया। इसके बाद धर्मपीठकी पद्धतिके अनुसार इन्होंने देश-देशमें भ्रमण किया। उज्जयिनी-धर्मपीठकी दुरवस्था दूर करके उसकी बड़ी उन्नति की।

इनके सद्गुणोंको देखकर लोग इन्हें शिवका अवतार ही मानते थे। इनमें संतोंके सब लक्षण विद्यमान थे। ये बड़े एकान्तप्रिय थे और कभी-कभी

तीन-चार दिनतक समाधिमें ही बैठे रहते थे। सिद्धान्तशिखामणिसे इनका बड़ा प्रेम था।

महात्मा तिरुमूलर (लेखक- श्रीदण्डपाणिजी)

भगवान् श्रीयोगीशवर परमहंस तिरुमूलर स्वामी हिमालयके उन सिद्ध योगियोंमें हैं जो मानवजातिको अधर्म और उसके परिणाम सर्वनाशसे बचानेके लिये इच्छानुसार किसी भी मानवदेहको धारणकर साधारण मनुष्योंकी भाँति जीवन व्यतीत करते हैं। शिवजीके प्रधानगण नन्दीसे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी और भगवान् शंकरकी इनपर पूर्ण कृपा थी। मनुष्यदेह धारण करनेके पूर्व जब ये हिमालयमें रहते थे उस समय इनका कुछ और ही नाम था, जिसका लोगोंको इस समय पता नहीं। एक बार इनकी श्रीअगस्त्य मुनिसे मिलनेकी इच्छा हुई, जो उन दिनों दक्षिण भारतमें रहते थे। अतः ये अपने गुरुदेवकी आज्ञा लेकर दक्षिणकी ओर चल पड़े।

मार्गमें इन्होंने तिरुक्कदारम्, नैपाल, काशी, तिरुपरुपत्तम्, श्रीकलाति, कांची आदि क्षेत्रोंक दर्शन किये। कांचीमें इन्हें कई शक्तिशाली योगियोंके दर्शन हुए। बहाँसे ये और भी आगे बढ़े और तिरुवडिहै (जो South Indian Rail/३) के पनरुट्टि नामक स्टेशनके निकट है) होते हुए चिदम्बरम् गये और वहाँ भगवान् नटराजका दर्शन किया । चिदम्बरमूसे और आगे चलकर ये तिरुवावदुथुरै नामक स्थानपर पहुँचे और वहीं इनकी मानव-लीला प्रारम्भ हुई। यहाँसे ये अन्यत्र जानेका विचार कर ही रहे थे कि इनके अंदर एक ऐसी अदृश्य प्रेरणा हुई जिसने उन्हें वहीं रहनेके लिये बाध्य किया।

अत: वे कुछ घंटे वहाँ ठहरकर अपनी इच्छाके विरुद्ध आगे बढ़े। मार्गमें कावेरी नदीके तटपर इन्हें गायोंके रंभानेकी आवाज सुनायी दी, जिससे इन्होंने यह अनुमान किया कि अवश्य ही इनका रक्षक मर गया है जिसके कारण ये इतनी व्याकुल हो रही हैं। थोड़ी दूर आगे बढ़नेपर इन्होंने देखा कि उनके पास ही किसी मनुष्यकी लाश पड़ी हुई है और गौएँ उस लाशको सूँघ-सूँघकर चिल्ला

रही हैं और उसे चारों ओरसे घेरे खड़ी हैं। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है, जिससे वह लाश भीग गयी है। बेचारे उन पशुओंको क्या पता कि वह लाश अब उठनेकी नहीं है। अपने घरोंकी तथा बछड़ोंकी सुध-बुध भुलाकर वे गायें शामतक वहीं खड़ी हुई रोती और रंभाती रहीं। अब तो चारों ओर अँधेरा छा गया, परन्तु गायें वहाँसे किसी प्रकार भी हटती नहीं थीं।

श्रीपरमहंस तिरुमूलरको इनकी दीन दशा देखकर बड़ी दया आयी। इन्होंने गौओंका शोक दूर करनेका और कोई उपाय न देखकर उस ग्वालेकी मृतदेहमें प्रवेश करनेका विचार किया, क्योंकि इन्हें सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। इन्होंने तुरन्त अपने सूक्ष्म शरीरको निकालकर उस मृतदेहमें प्रविष्ट कर दिया और अपने सिद्ध देहको उठाकर एक वृक्षकी शाखासे बाँध दिया। योगीश्वरने जिस शरीरमें प्रवेश किया वह एक ग्वालेका शरीर था। उसका नाम था मूलन्। वह एदयर् वंशका था। गोपालन ही उसकी जीविका थी।

कावेरीके तटपर सथनूर नामक स्थानमें उसका जन्म हुआ था। गायें चराते-चराते ही उसकी मृत्युकी घड़ी उपस्थित हो गयी और उसने जंगलमें ही प्राण त्याग दिये। उसके घरपर उसकी स्त्री शामको बड़ी देरतक उसका रास्ता देखती रही। मूलन् हमेशा जल्दी ही लौट आया करता था, आज उसके इतनी देरतक न आनेका कारण वह समझ न सकी।

बेचारीको क्या पता था कि मूलनके प्राणपखेरू सदाके लिये इस संसारसे कूच कर गये हैं। जब रात अधिक बीत गयी तो उसके मनमें शंका हुई और वह अनिष्टकी कल्पनाकर रोने लगी। इधर महात्मा तिरुमूलरने ज्यों ही मूलन्के मृतदेहमें प्रवेश किया त्यों ही उसकी देहमें प्राण आ गये और वह इस प्रकार उठ खड़ा हुआ मानो अभी सोकर उठा हो। अपने स्वामीकें उठ जानेपर गौओंका शोक भी जाता रहा और वे मारे प्रसन्नताके इस प्रकार उछलने और कूदने लगीं मानो कुछ हुआ ही न था। वे सब-की-सब अपने स्वामीको चाटने लगीं।

महात्मा तिरुमूलरने गौओंको साथ लेकर मूलन्के गाँवका रास्ता लिया। रास्तेमे इस नयी घटनाके हो जानेके कारण इन्होंने अगस्त्य मुनिके पास जानेका विचार कुछ समयके लिये स्थगित कर दिया। इन्होंने अपने घर पहुँचकर गौओंको अपने-अपने स्थानपर बाँध दिया और द्वारपर जाकर खडे हो गये, जहाँ मूलन्की स्त्री चिन्तातुर हो अपने पतिके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने सदाकी भाँति पतिका बड़ा स्वागत किया और तिरुमूलरके समीप आकर प्रेमसे उसका आलिंगन करना चाहती थी कि तिरुमूलर वहाँसे पीछे हट गये और उससे कहने लगे-'खबरदार !

किसी परपुरुषको भूलकर भी न छूना।' यों कहकर वे मूलन्की स्त्रीको रोती हुई छोड़कर तुरंत वहाँसे चल दिये और पास ही एक मठमें जाकर वहीं अपना आसन लगाया। थोड़ी ही देरमें उनकी समाधि लग गयी और बड़ी देरतक वे उसी अवस्थामें बैठे रहे।

मूलन्की स्त्री अपने पतिके निष्ठुर बर्तावका कारण न समझ सकी। वह महात्माके पीछे-पीछे मठमें आयी और वहाँ उन्हें निश्चेष्टभावसे ध्यान लगाये बैठे देखकर आश्चर्यमें डूब गयी। वह रातभर चिन्ताके मारे रोती रही। प्रातःकाल होते ही वह अपने पड़ोसियोंको इकट्ठा करके उन्हें मठमें लिवा ले गयी। वहाँ उन्होंने देखा कि मूलन् सचमुच योगीकी तरह ध्यान लगाये बैठा है, उसके शरीरमेंसे एक अद्भुत तेज निकल रहा है और उसे बाह्य ज्ञान बिलकुल नहीं है।

मूलन्को इस अवस्थामें देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ, वे लोग बड़ी देरतक इस आशामें बैठे रहे कि मूलन् समाधिसे उठे तो उससे सारा हाल पूछा जाय। कुछ लोगोंने कहा--' अजी! तुम किस फेरमें पड़े हो? यह तो पागल हो गया है, अब इसकी आशा छोड़ देनी चाहिये।' यों कहकर वे मूलनूकी स्त्रीको लेकर वापस चले गये। किसौको यह पता न लगा कि मूलन् कभीका इस असार संसारसे चल बसा और अब उसके शरीरपर एक सिद्ध योगीश्वरका अधिकार हो गया है। लगता भी कैसे?

उनके चले जानेके थोड़ी देर बाद महात्मा तिरुमूलरकी समाधि टूटी और वे वहाँसे उठकर उस स्थानपर आये जहाँ उन्होंने अपने असली शरीरको एक वृक्षकी डालीपर बाँधकर रखा था। परन्तु उन्हें वह शरीर वहाँपर नहीं मिला। यह देखकर तिरुमूलरको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने उस शरीरको ऐसी जगहपर रखा था जहाँ किसीकी भी दृष्टि उसपर नहीं पड़ सकती थी। उन्होंने मनमें यह निश्चय कर लिया कि भगवानूकी इच्छासे ही यह सब काण्ड हुआ है।

उन्होंने सोचा कि भगवानूकी इच्छा मुझे यहीं रखनेकी मालूम होती है। अतः उन्होंने भगवान्की इच्छामें अपनी इच्छाको मिलाकर मूलन्के रूपमें वहीं रहनेका निश्चय कर लिया। पीछेसे उन्हें दिव्य दृष्टिसे यह भी पता लगा कि भगवान् उनके दवारा संसारका कुछ कल्याण करवाना चाहते हैं। भगवानूकी इच्छा थी कि तिरुमूलरके द्वारा शैवागम-शास्त्रका तामिल-पद्यमें अनुवाद हो जिसे पढ़कर सब लोग अपना कल्याण कर सकें, इसीलिये उनके असली देहको भगवानूने छिपा दिया था।

भगवानका आदेश पाकर तिरुमूलर सथनूरसे तिरुवावदुथुरै चले आये। वहाँ मूलनूकी स्त्री और उसके सम्बन्धी एक बार फिर इनके पास आये और इन्हें घर लौटकर गृहस्थाश्रममें ही रहनेके लिये बहुत आग्रह किया, क्योंकि वे लोग अबतक यही समझते थे कि मूलन् ही गृहस्थी छोड़कर साधु हो गया है। अब तो इन्हें मूलन्की स्त्री और उसके सम्बन्धियोंपर बड़ी दया आयी और इन्होंने उनपर अपना असली हाल प्रकट कर दिया, जिससे वे लोग निराश होकर अपने घर लौट गये।

तिरुवावदुथुरै पहुँचकर महात्मा तिरुमूलरने भगवान् शिवकी आराधना की और भगवानूके आदेशानुसार शैवागम-शास्त्रको तामिल-भाषामें लिख डाला | इस ग्रन्थमें कुल तीन हजार पद्य हैं और यह ग्रन्थ तिरुमूलमन्त्रम्के नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ इन्होंने ' अरसू' नामके वृक्षके नीचे बैठकर लिखा था, जो तिरुवावदुथुरैके मन्दिरके पश्‍्चिमकी ओर स्थित था। इसके अनन्तर ये दक्षिणकी यात्रा समाप्तकर तथा अपने अभीष्टको पूराकर कैलाशको लौट गये।

विद्वानोंका कहना है कि श्रीतिरुमूलरस्वामी सन् १५० ईसवीसे लेकर सन् ९०० ईसवीतक मानवदेहमें रहे, और कुछ लोगोंकी धारणा यह है कि वे ३०० ईसवीसे लेकर ७०० ईसबीतक पृथ्वीपर रहे । प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् डा० ए० बी० कीथ भी प्रायः पहले मतका ही अनुमोदन करते हैं । तिरुमूलरमन्त्रकी छपी हुई प्रतियोंमें आजकल ३०४७ पद्य मिलते हैं, परन्तु मालूम होता है कि ४७ पद्य पीछेसे तिरुमूलरके शिष्योंने जोड़ दिये। क्योंकि तिरुमूलरने स्वयं केवल तीन हजार पद्य, बल्कि उससे भी कम, लिखे थे!

दक्षिण भारतके शैव संत

शिवोपासना अनादिकालीन है । आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्वसे शैवधर्मके प्रसारका प्रमाण तो पाश्चात्य विद्वान् भी मान चुके हैं, परन्तु किसी क्रमबद्ध इतिहासके अभावमें यह कहना कठिन है कि उस समयके प्रमुख शैव संत कौन थे। ईस्वी सन् ७०० से दक्षिण भारतके शैव संतोंके सम्बन्धमें कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। प्राचीन कालके अगस्त्य ऋषि, जिनको कुछ

लोग भ्रमसे उत्तर भारतका मानते हैं, तामिल देशके पोडीगाई पर्वतके निवासी थे। अगस्त्यजी प्रमुख शिवभकतोंमें हैं।

ईस्वी सनकी प्रथम शताब्दीमें पाण्ड्य-दरबारके उनचास राजकवियोंमें संत नक्कीर एक बहुत प्रसिद्ध महात्मा थे। मदुराके तामिलसंघके वे अध्यक्ष थे। उनकी कविताओंमें शैव-साधनाके गूढ़ सिद्धान्त विद्यमान हैं। शिवके अहैतुक अनुग्रहके कई पद आपने लिखे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि आपको शिवकी कृपा प्राप्त थी।

द्वितीय शताब्दीमें संत कण्णप्प हुए। आप शिवके अनन्य उपासक थे। पूजा करते समय आपने अपनी

एक आँख निकालकर भगवान् शिवके चरणोंमें चढ़ा दी और दूसरी भी चढ़ाने जा रहे थे कि शिवने आपका हाथ पकड़ लिया और आपको आशीर्वाद दिया। कण्णप्पको शिवका साक्षात्कार हुआ और दिव्यदृष्टि मिली । निष्काम भक्तिकी आप सजीव मूर्ति ही थे।९

छठी शताब्दीके लगभग तिरमूलर हुए। आप एक परम सिद्ध योगी थे। आपने शिवभक्तिके तीन हजार पद लिखे।

चार प्रमुख आचार्य

चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान-ये शैवधर्मके चार प्रमुख मार्ग हैं। इन्हींको दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग और सन्मार्ग कहते हैं। इनके संस्थापक क्रमशः संत तिरुनावुक्करसु (अप्पार), संत ज्ञानसम्बन्ध, संत सुन्दरमूर्ति तथा संत माणिक्क वाचक हुए। कुछ लोगोंका यह मानना है कि संत माणिक्क वाचक सबसे पहले हुए।

संत माणिक्क वाचक

शैव संतोंके अग्रणी माणिक्क वाचक कह भक्तिकी जाज्वल्यमान मूर्ति थे। डंकेकी चोट उन्होंने कहा कि धर्मग्रन्थोके अनुशीलन, तपश्चर्या, उपवास, कर्मकाण्ड, यज्ञ-याग, तर्कशास्त्र और दर्शनके अध्यात्मग्रन्थोंके अध्ययन, किंबहुना, मनुष्यके किसी भी प्रयलसे भगवानूकी प्राप्ति असम्भव

ही है। प्रभुकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग प्रेममार्ग ही है। यह प्रेम शुद्ध, सात्त्विक और निष्काम होना चाहिये।

मदुराके पास वदावुर ग्राममें एक ब्राह्मणकुलमें आपका जन्म हुआ था। दस वर्षकी अवस्थामें ही इनकी विलक्षण प्रतिभाका प्रकाश फैला और तत्कालीन पाण्ड्यनरेशने आपकी विद्वत्ता और योग्यता देखकर आपको अपना प्रधानमन्त्री बना लिया । अवस्थामें तो आप एक बालक ही थे, परन्तु आपकी कुशाग्र बुद्धिसे शासनकार्यमें बड़ी सहायता मिलती रही। आप राजाके दाहिने हाथ थे।

एक बार राजाने आपको कुछ घोड़े खरीदनेके लिये तिरुपेरन्दुरई भेजा। यहीं आपको श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए। घोड़े खरीदनेके जो रुपये पासमें थे उन्हें आपने गुरुदेवके लिये मन्दिर बनवानेमें लगा दिया। यह बात सुनकर राजाने आपको दण्ड दिया तथा राज्यसे बहिष्कृत कर दिया। अब वे अलमस्त होकर अपने बनाये हुए भजन गाते और मन्दिर-मन्दिर घूमा करते। उन्हें राजदण्डकी तनिक भी चिन्ता न थी। शैवोंके प्रमुख दुर्ग चिदम्बरम्में आपने शात्त्रार्थमें बौद्धोंको हराया। आप नटराजकी उपासना करते थे। तामिल देशमें आज भी माणिक्क वाचकके पद बड़े आदर और श्रद्धासे पढ़े-सुने जाते हैं।

संत अप्पार

ईसाकी सातवीं शताब्दीमें अप्पारका आविर्भाव हुआ। कांचीके पल्लवनरेश महेन्द्र प्रथमके समय दोनों भाई विद्यमान थे। ६०० ई० सन्में, दक्षिण आरकाट जिलेके एक छोटे-से गाँवमें एक सम्पन्न वेकाल-परिवारमें आपका जन्म हुआ। बहुत बचपनमें ही आपके मातापिता स्वर्ग सिधार गये। आपकी बड़ी बहिनने आपको पाला-पोसा। जैन विद्वानोंके संसर्गमें आकर आपने उनके धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन किया । एक बार इन्हें भयंकर पीड़ा हुई। बहिनके कहनेपर आप एक शिवमन्दिरमें जाकर प्रभुसे सुन्दर काव्य-गीतोंमें प्रार्थना करने लगे।

दर्द तो मिट ही गया। साथ ही आकाशवाणी हुई कि तुम्हारी वाणीमें सरस्वती बसेंगी। बहिनके आदेशानुसार आप शरीरसे प्रभुकी सेवा, मनसे उनका ध्यान

और वाणीसे उनका गुणगान करने लगे। आपको पल्लवनरेश जैनधर्ममें दीक्षित करना चाहते थे और न होनेपर आफको नाना प्रकारके कष्ट दिये गये। कहा जाता है कि आपकी गर्दनमें एक भारी पत्थर बाँधकर आपको नदीमें छोड़ दिया गया, परन्तु पत्थर जलपर तैरने लगा। प्रहलादकी भाँति आप अपने धर्मपर अटल रहे।

चिदम्बरमूमें संत सम्बन्धसे आप मिले। सम्बन्धने आपको अप्पार (पिता) कहकर पुकारा। तबसे ये सभीके लिये 'अप्पार' हो गये। दोनों संतोंने साथ ही देशके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें भ्रमण किया। दोनोंमें बड़ी प्रगाढ मैत्री हो गयी। तिरुपगलूरमें आपको कांचन और कामिनीके प्रलोभन दिये गये। परन्तु अब इन चीजोंके लिये आपके हृदयमें कोई स्थान नहीं था।

अन्तिम दिनोंमें ये भगवान्से आतुर प्रार्थना करते थे कि मुझे अपनी गोदमें उठा लो। यह प्रार्थना प्रभुने स्वीकार कर ली। ८१ वर्षके होकर आप परमात्मामें लीन हो गये। बड़ा ही सरल जीवन आपका था। कौपीनमात्र इनकी सम्पत्ति थी। हाथमें एक झाड़ू लिये रहते और मन्दिरोंको बुहारा करते थे। सदैव पाँव-पयादे ही चलते। हृदय प्रभु और जीवमात्रके लिये प्रेमसे लबालब भरा था। आप बालकके समान सरल और सैनिककी भाँति दृढ़प्रतिज्ञ थे। इनके उनचास हजार पदोंमें अब केवल तीन-सौ-ग्यारह मिलते हैं। इनकी जीवनी और गीतोंसे आज भी हमें अपूर्व प्रोत्साहन मिलता है।

संत सम्बन्ध

सम्बन्धका जन्म लगभग ६३९ ईस्वी सन्में हुआ। चार वर्षकी अवस्थामें आपके पिताजी आपको स्नान करानेके लिये एक सरोवरमें ले गये। पास ही एक मन्दिर था। पिता डुबकी मारकर जलके भीतर डूबे कि इन्हें मन्दिरमें माता पार्वती और भगवान् शिवके दिव्य दर्शन हुए। माताने इन्हें एक सोनेके पात्रमें आध्यात्मिक शक्तिसे परिपूर्ण दूध पिलाया। बालकके हृदयमें प्रेरणा जाग उठी। ज्ञानका प्रकाश जल उठा। अब आप 'ज्ञानसम्बन्ध' हो गये।

अब भी उनके मुँहमें दूध लगा हुआ था। पिताने पूछा कि दूध कहाँसे लगा है? सम्बन्धने आकाशकी ओर इशारा किया और उनके मुखसे गीतकी धारा फूट

पड़ी, जिसमें शिव और पार्वतीकी अपार अनुकम्पाका विशद वर्णन था। अब वे गाँव-गाँव घूमकर लोगोंको भगवानूका यश सुनाने लगे।

मदुरामें विरोधियोंद्वारा आपकी कुटियामें आग लगायी गयी। परन्तु आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ। पाण्ड्यराज्यमें आपने जैनधर्मके स्थानमें शैवधर्मकी पुनः स्थापना की। अब आपकी अवस्था सोलह वर्षकी हो गयी और गुरुजनोंके आग्रहसे आपने विवाह कर लिया। कहते हैं कि विवाहके पूर्व ही अपनी पत्नीके साथ इन्हें कोई देवता किसी सुदूर स्थानको ले गये। इनके जीवन तथा पदोंसे यह स्पष्ट है कि ये प्रभुको पिताके रूपमें पूजते थे। आपकी सुमनोहर कविताओंमें प्रभुके प्रसाद तथा प्रकृतिके रूप-विलासका बहुत सुन्दर वर्णन है। वह नारी-शक्तिके पुजारी थे।

शिवके साथ उमाकी महिमा आपके प्रत्येक पदमें वर्णित है। प्रमुख चार शैवाचार्योमें आप सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। संत सुन्दरमूर्ति सुन्दरमूर्ति सहमार्गके आचार्य थे। सम्बन्धके सौ साल बाद आपका आविर्भाव उसी तामिल प्रान्तमें हुआ जहाँ संत अप्पारका हुआ था। आपके पूर्वपुरुष शिवके पुजारी थे। विवाहके समय इनकी पत्नीको एक वृद्ध ब्राह्मण अपनी दासी प्रमाणित कर छुड़ा ले गया। इस वृद्ध ब्राह्मणके पीछे-पीछे सुन्दर भी लग गये और बादमें मालूम हुआ कि ये तो साक्षात् शिवजी ही थे, जो अपने प्रिय भक्तको विवाहके बन्धनसे छुड़ाकर अपने मार्गमें लाना चाहते थे।प्रभुकी यह इच्छा जानकर सुन्दरने निश्चय कर लिया कि प्रभुकी सेवामें अपना सब कुछ होम देना चाहिये। ऐसा निश्चयकर वह गाँवगाँव भगवद्गुणगान करते हुए चिदम्बरम् पहुँचे।

ये कभी किसीसे कोई वस्तु माँगते नहीं थे। प्रभु स्वयं इनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते थे। एक बार एक सम्पन्न व्यक्तिने आपको अपने यहाँ आमन्त्रितकर अपनी दो लड़कियोंको अर्पित कर दिया। सुन्दरने उन्हे अपनी कन्या मानकर स्वीकार कर लिया। मद्रासके उत्तर एक गाँवमें एक कन्या रहती थी, जिसने यह निश्चय कर लिया था कि या तो किसी संतसे विवाह करूँगी या आजीवन अविवाहिता ही रहूँगी। भाग्यवश सुन्दरमूर्ति वहाँ पहुँचे। प्रभुकी आज्ञासे उस कन्याने विवाह किया।

शर्त यह थी कि उस गाँवकी सीमासे बाहर नहीं जायंगे। एक बार सुन्दरमूर्ति अज्ञातवश गाँवकी सीमासे बाहर चले गये। इस कारण आप अन्धे हो गये | इसके अतिरिक्त इन्हें और भी बहुत-बहुत कष्ट झेलने पड़े। तब इन्होंने

प्रभुसे बहुत कातर होकर अपने अपराधोंके लिये प्रार्थना की, क्षमा माँगी और रोये-गिड़गिड़ाये। कांचीमें आपको एक आँख मिल गयी और तिरुवरमें दूसरी। आपने अडतीस हजार पद लिखे, जिनमें आज केवल एक सौ प्राप्त हैं। इन पदोंमें भगवान्‌के प्रति इनकी प्रगाढ प्रीति और भक्ति प्रकट होती है।
क्षमाशील मीप्पोरुल नायनार

कुछ और शैव संतोंके चरित्र बहुत संक्षेपमें यहाँ दिये जायँगे । मीप्पोरुल नायनार नामके एक राजा थे। उनका एक शत्रु शैव-साधुका वेष बनाकर उनके महलमें घुस गया और उनके पेटमें छुरा भोंक दिया। उन्होंने मरते समय अपने आदमियोंसे कहा कि इस अपराधीको ऐसे स्थानमें पहुँचा आओ जहाँ यह सुरक्षित जीवन यापन कर सके।

शक्य नायनार

शक्य नायनार नामके दूसरे शैव संत हुए। सत्यकी खोजमें पहले वह बौद्ध हुए। पीछे आपने शैवधर्मकी दीक्षा ली। आप अब भी बौद्धवेष ही रखते थे। एक बार आपको प्रकाशके स्तम्भके रूपमें भगवान् शिवके दर्शन हुए। हृदयसे प्रेम उमड़ पड़ा। पासकी पड़ी कंकड़ी उठायी और उसे पुष्पके रूपमें प्रभुके चरणोंमे निवेदन किया। यह ये बराबर करते रहे। बौद्ध तो यह समझते थे कि यह शिवके प्रति द्रोहके कारण ऐसा कर रहे हैं। एक बार शक्य बहुत भूखे थे। खानेको बैठ गये। याद आयी कि शिवको तो अभी पाषाण-पुष्प भेंट किये ही नहीं। वह तुरन्त मन्दिरको दौड़े गये और अपनी नियमित भेंट निवेदन की।

नन्दनार

नन्दनार नामके एक शैव संत अस्पृश्य जातिके हुए। एक बार आप चिदम्बरम् दर्शनके लिये गये। वे मन्दिरके बाहर प्रभुकी आज्ञाके लिये खडे रहे। आज्ञा मिले तो भीतर जायँ। कहते हैं, प्रभुने ब्राह्मण-पुरोहितको आदेश किया कि इस भक्तको बाहरसे जाकर आदर और प्रेमके साथ भीतर ले आओ!

तिरुनीलकण्ठ यळपानार |

तिरुनीलकण्ठ यळपानार नामके दूसरे शैव संत निम्न जातिके हुए। अपनी स्त्रीके साथ ये बार-बार संत सम्बन्धके साथ उनकी तीर्थयात्रामें रहे । इन्हें भी भगवान् शिवका साक्षात्कार हुआ था।
नारी संत

शैव संत-परम्परामें कितनी ही सती नारियाँ भी हैं। प्रमुख चौंसठ शैव-संतोंमें तीन नारी-संत मुख्य हैं। इनमें कारइक्काल अम्मइयरका नाम बहुत आदरसे लिया जाता है। एक समृद्धशाली वैश्यकी आप कन्या थीं। बचपनसे प्रभुकी सेवा ही आपको प्रिय थी। सयानी होनेपर आपका विवाह हुआ। आप परम पतिपरायणा थीं। इनके पतिदेवने देखा कि यह नारी तो दिव्यगुणसम्पन्न कोई देवबाला है-अस्तु, आपने दूसरी शादी कर ली और इन्हें विशुद्ध

आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा दे दी। एक बार अम्मइयर अपने पतिसे मिलने गयीं। पतिदेवने आपके चरणोंमें गिरकर 'माँ' कहकर प्रणाम किया। अब अम्मइयर जगत् और इसके सारे प्रपंचोंसे अलग रहकर प्रभुमय जीवन बिताने लगीं। अपने सुन्दर और मधुर भावोंको आपने बड़े ही ललित छन्दोंमें व्यक्त किया है।

अव्वई नामकी दूसरी प्रख्यात शैव-संत हुई। आज भी आपके उपदेशपूर्ण सारगर्भित पद तामिल देशमें बड़े आदरके साथ गाये जाते हैं।

ग्रीस और रोम देशोंके कुछ प्राचीन संत

ग्रीस देशकी सभ्यता ईसासे कम-से-कम एक हजार वर्ष पहलेकी मानी जाती है। कहा जाता है कि मिश्र देशके एक प्राचीन राजाने इस देशको विजयकर यहाँ अपनी सभ्यताका प्रचार किया। ग्रीक लोग अपनेको 47९५४ (अत्रिऋषि) से उत्पन्न मानते हैं। इस जातिके लोग बड़े ही सुन्दर तथा कला-कौशलप्रिय थे। इन लोगोंमें कई अच्छे-अच्छे तथा सुप्रसिद्ध महात्मागण हो चुके हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि ग्रीक लोग स्वभावसे ही ज्ञानी तथा विचारशील रहे हैं।

आर्य संस्कृतिके प्रचारके जिज्ञासुओंको ग्रीसकी प्राचीन सभ्यताका अध्ययन करना परमावश्यक है। विस्तारभयसे इस विषयमें और कुछ न लिखकर केवल थोड़े-से संतमहात्माओंकी कथाएँ लिखी जाती हैं।

सोलन ग्रीस देशकी राजधानी 'एथेन्स' में सोलन नामके एक सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार ईसासे साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। इन्होंने ग्रीक लोगोंके नैतिक जीवनकी नींव डाली। पर वास्तवमें यह महात्मा बड़े ही सादे तथा ज्ञानी थे। इनको देशाटनसे विशेष प्रेम था। एक समयकी कथा है कि सोलन क्रीसस नामक राजाके दरबारमें घूमते-घूमते पहुँचे। क्रीसस अतुल धन-सम्पत्तिपूर्ण था, और उसे अपने वैभवका बड़ा अभिमान था। वह अपनेको संसारमें सबसे अधिक सुखी समझता था। उसने सोलनको अपनी अपरिमेय धनराशि दिखलाकर उनसे यह कहलवाना चाहा कि संसारमें क्रीससे बढ़कर कोई भी नहीं है। किन्तु ज्ञानी सोलनके चित्तपर इस वैभवका कुछ भी असर न हुआ। उन्होंने केवल यही उत्तर दिया कि हे राजन्! संसारमें सुखी वही कहा जा सकता है जिसका अन्त शान्तिपूर्वक हो ।

कालान्तरमें फारसके राजा साइरसने क्रीससपर विजय पायी और श्रंखलाबद्ध क्रीसस साइरसके सम्मुख बन्दीरूपमें उपस्थित किया गया। आज्ञा हुई कि क्रीसस जीवित ही जला दिया जावे। इस अवसरपर क्रीससको सोलनकी याद आयी, और वह तीन बार हाय सोलन! हाय सोलन !! हाय सोलन!!! बोल उठा। साइरसने इसका तात्पर्य पूछा तो क्रीससने सोलनके समागमकी सारी कथा कह सुनायी। इसका प्रभाव साइरसपर इतना पड़ा कि उसने क्रीससको न केवल जीवनदान दिया वरं उसका आदर-सत्कार भी किया।

सुकरात ईसासे पूर्व पाँचवीं शताब्दीके उत्तर्धमें ग्रीसके सुप्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी सुकरात (90८7९5) का जन्म हुआ। इनके जीवनकी अनेक घटनाएँ इनकी दृढ़ता, गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञानी होनेका प्रमाण देती हैं। इनके समयमें सूफी (9०॥५:5) लोगोंका बड़ा जोर था और यह लोग उस समयके लौकिकविषयक विद्वान् माने जाते थे, पर कुछ लोगोंका ऐसा विचार है कि इनकी प्रसिद्धि केवल वागूजालपर निर्भर थी।

उनमें परमार्थसत्ताविषयक ज्ञानका अभाव ही था। इस परमार्थसत्ताके प्रचारकी इच्छासे प्रेरित होकर सुकरातने उपदेश देना प्रारम्भ किया। सुकरातके विवेचनोंमें आत्माका अच्छा ज्ञान प्रतीत होता है। साथ-ही-साथ सुकरातको मनुष्यकी अल्पज्ञताका भी निश्चय हो गया था। उनका सुप्रसिद्ध वाक्य है ' know that I know nothing'— अर्थात् मेरा ज्ञान तो यही बतलाता है कि मैं कुछ नहीं जानता।

सादा जीवन तथा निश्छल व्यवहार सुकरातकी शिक्षाके मुख्य अंग थे। इनके अतिरिक्त एकमात्र आत्माकी उपासना इनका मूलमन्त्र था। इन बातोंसे प्रचलित प्रणालीको बड़ा धक्का लगा और परिणाम यह हुआ कि सुकरातपर यह अभियोग लगाया गया कि वह ग्रीसनिवासियोंमें कुविचार तथा निरीशवरवादका प्रचार करते हैं। सुकरातको मृत्युदण्डकी आज्ञा हुई और कहा गया कि वे विषपान करके प्राण त्याग करें।

आत्मज्ञानी महात्माने इस आज्ञाका हँसतेहँसते परिपालन किया और बड़े गौरवके साथ अपनी जीवनयात्रा समाप्त की। इस लेखके साथ दिये हुए एक चित्रमें सुकरातका यह विषपान दिखलाया गया है। चारों ओर लोग इनकी आसन्नमृत्युपर विह्वल हो रहे हैं, परन्तु स्वयं सुकरात प्रसन्न तथा अविचलित हैं। स्वयं भयभीत होनेके बदले वे दर्शकोंको आश्वासन दे रहे हैं और आत्माके अमरत्वकी ओर ध्यान दिला रहे हैं।

अफलातून इन्हीं सुकरातके सुप्रसिद्ध शिष्य प्लेटो (208०) हो गये हैं। ये ईसाके ४३० वर्ष पहले हुए थे। इन्हींका नामान्तर अफलातून है। सुकरातकी ब्रह्मजिज्ञासाका मनन प्लेटोने बड़ी योग्यतासे आगे बढ़ाया। इन्होंने इस विषयपर अनेकानेक पुस्तकें लिखीं, जिनमेंसे कुछ अब भी प्राप्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनको यन्त्रविद्याका विशेष अनुभव था, क्योंकि यन्त्रविद्यासम्बन्धी ज्यामिति (G९०॥९।7४) का अध्ययन इनके शिष्योंमें अनिवार्य था।

इनकी पाठशालामें केवल वही प्रवेश कर सकता था जो ज्यामितिशास्त्रसे अच्छी तरह . परिचित हो। प्लेटोने *९९७।।८' नामक आदर्श सामाजिक व्यवस्थाका एक बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ ध्यानपूर्वक पढ्नेयोग्य है। इसमें एक स्थानपर लिखा है कि शासनकी बागडोर केवल ब्रहमज्ञानीके ही हाथमे देनी चाहिये। यह वही आदर्श है जो अपने देशके राजर्षि' शब्दमें निहित है।

प्लेटोने आत्माके अमरत्वपर तथा उस सिंद्धान्तके आनुषंगिक जन्मान्तरवादपर विशेष जोर दिया था।कहते हैं कि प्लेटोने २८१ वर्षके होकर शरीर त्याग किया था।

अरस्तू

इनके शिष्य अरस्तू अथवा अरिस्टॉटल हुए हैं, जिनको योरपवाले अपना ज्ञानगुरु मानते हैं। डायोजिनीज सुकरातहीके समकालीन डायोजिनीज (]०६९॥९५) नामक एक ब्रहमज्ञानी हो गये हैं। इन्होंने जीवनके बाह्य विषयोंके प्रति अपार उपेक्षा प्रदर्शित की और केवल आत्मज्ञानहीमें मस्त रहते थे। ये बाजारमें पड़े हुए एक काठके पीपेके भीतर मस्त पड़े रहते थे। और किसीकी कुछ परवा नहीं करते थे। एक समय सिकन्दर (॥।९५०॥५९7) बादशाह इनकी सुकीर्ति सुनकर इनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए और उन्होंने इनसे पूछा कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? डायोजिनीजने उत्तर दिया कि मैं बस यही चाहता हूँ कि तुम मेरे सामनेकी धूप छोड़ दो और हट जाओ।

लौकिक व्यवहारमें ऐसी उपेक्षा दिखलानेके कारण लोग इन्हें कटहा (८४॥८) कहते थे। इन्हें लोकलज्जाकी लेशमात्र भी चिन्ता न थी और शौचादिक क्रियाके अवसरपर भी ये किसी प्रकारकी एकान्तताका विचार नहीं करते थे।

पाइथागोरस

ईसासे छः सौ वर्ष पूर्व पाइथागोरस (P४lha९०ःas) नामक इटलीनिवासी ग्रीक महात्मा हो गये हैं। इनका जीवन अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और इनके विषयमें अनेकानेक अपूर्व किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनकी अलौकिक शक्तियोंके भी आश्चर्यजनक विवरण मिलते हैं। जन्मान्तरवाद इनका मूलसिद्धान्त था। नादब्रह्मका इनको इतना अच्छा अभ्यास था कि इन्हें सृष्टिमण्डलकी गतिका संगीत (Music 0 the Spheres) अर्थात् प्रणवध्वनि निरन्तर सुनायी पड़ती थी।

पाइथागोरस पशु-पक्षियोंकी भाषा समझते थे। और उन्हें इन जन्तुओंके ऊपर अपार शक्ति प्राप्त थी। स्थान-स्थानपर इन्होंने पाइथागोरसकी आज्ञाका पालन किया है। इनको जातिस्मरशक्ति प्राप्त थी, अर्थात् यह अपने पूर्व जन्मोंका हाल जानते थे और बहुधा अपने जन्मान्तरोंके कार्योंकी चर्चा किया करते थे। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्यका मन उन वस्तुओंपर निर्भर है जो भोजनद्वारा उसके पेटमें जाती हैं।

इसी कारण इन्होंने अपने शिष्योंमें आहारविषयक अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये थे। मद्य-मांस सात्त्विक भावोंके विरुद्ध होनेके कारण सर्वथा वर्ज्य थे। मौन रहनेके विषयमें पाइथागोरसकी विशेष आज्ञा थी। वर्षोतक यह लोग गुफाओंके भीतर मौन बैठे रहते थे। इन्हें यह ज्ञान मिश्रदेश, मग ब्राह्मण तथा भारतवर्षीय ब्राह्मणोंसे पचीस-तीस वर्षके भ्रमणमें प्राप्त हुआ था।

इटलीके निवासी इस सम्प्रदायकी अलौकिक शक्तियाँसे इतने भयभीत थे कि कुछ लोगोंका कथन है कि अन्तमं इन्होंने पाइधागोरस और उनके शिष्योंको गुफाके अंदर बैठे-बैठे भस्म कर दिया। पर यह विषय विवादग्रस्त है। कहीं-कहीं तो लिखा है कि इन महात्माने अनशन करके अपने प्राणोंका त्याग किया।

मार्कस औरेलियस

इटलीके निवासी अर्थात् रोमन लोग बड़े विजेता हो गये हैं और किसी समयमें इनके प्रचण्ड प्रतापका सूर्य इस भूमण्डलभरमें चमकता था, परन्तु

यह लोग ब्रह्मज्ञानके विषयमें औरोंसे बहुत पीछे रहे हैं। ये लौकिक विषयोंमें बड़े ही दक्ष तथा सिद्धहस्त थे। ईसाकी दूसरी शताब्दीमें मार्कस औरेलियस नामका एक बड़ा दयालु रोमन सम्राट् हो गया है।

इसकी लिखी हुई “Meditations (विचारधारा) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक अबतक प्राप्य है। इसमें बड़े ही गम्भीर तथा सादे विचारोंका समावेश है। इस राजाने राजर्षि-सिद्धान्तका अच्छा उदाहरण अपने जीवनमें दिखलाया था। इनसे पूर्व जीनो नामके एक महात्मा हो गये थे, जिन्होंने नीरस-जीवन सिद्धान्तका प्रचार किया था।

सम्राट् मार्कस औरेलियस इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुयायी थे। रोमराज्यमें प्राचीन कालमें अनेकानेक दृढव्रती,वीर तथा त्यागी नागरिक हो गये हैं, जिन्होंने अपने देशकी असीम सेवाएँ की हैं। इनका दर्जा बड़े-बड़े महात्माओंके समकक्ष मानने योग्य है । विस्तारभयसे इन वीरोंका वर्णन यहाँपर नहीं दिया जाता। विज्ञ पाठक इस विषयका अध्ययन करके अत्यन्त आनन्द तथा आत्मबलका लाभ उठावेंगे।

बौद्धोंके प्राचीन संत

(१) अवलोकितेश्वर

उन महान् बौद्ध संतोंमें जिन्होंने अपनी अलौकिक जीवनचर्याके द्वारा देवताओंमें स्थान पाया, संत अवलोकितेश्वरका प्रमुख स्थान है। यही नहीं, इन भगवान् अवलोकितेश्बरकी कालान्तरमें इतनी महिमा बढ़ी कि ये बौद्धोंके द्वारा लोकेश्वर, शाक्तोंके द्वारा शक्तिकी पदवीसे विभूषित हुए। नाथसम्प्रदायवाले मत्स्येन्द्रनाथको ही अवलोकितेश्वर मानते हैं। आरम्भमें

बहुत दिनोंतक इनका मानवीयरूप ही प्रतिष्ठित था, जब इनके एक हाथमें भगवान् बुद्धकी पूजाके लिये कमल तथा दूसरेमें जीवदयाकी मुद्रा थी; किन्तु क्रमशः इस रूपमें परिवर्तन होते गये।

कभी चतुर्भुजरूपमें अंजलिबद्ध (दो हाथ) और (शेष दोमें) पद्म तथा माला धारण किये, कभी सहस्त्रभुजाधारी या अन्य दैवी रूपोंमें वे व्यक्त किये गये हैं। मृगचर्म तथा कमण्डलु धारण किये, सर्पों और कपालोंकी माला पहने, कभी वे भगवान् शिवकी भाँति भी प्रदर्शित किये गये हैं। बौद्धधर्ममें उनका स्थान स्वयं भगवान् बुद्धके नीचे, बोधिसत्त्वोंमें प्रायः सर्वप्रमुख और ऊँची-से-ऊँची दैवी भूमिपर है। संतोंकी महिमाका इससे बढ़कर दूसरा निदर्शन क्या होगा?

महायानके अनुसार ये महात्मा बोधिसत्त्वोंमें प्रधान त्रिरलों (बुद्ध, धर्म तथा संघ) में तृतीय रत्न अर्थात् *संघ' के मुखिया माने गये हैं। अनेक सूत्रोंके निर्माता होनेके कारण बौद्ध-साहित्यमें इनका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। ' धर्म-संगीति' में इन्होंने बोधिसत्त्वोंके एकमात्र कर्तव्य, दानकी महिमा इस प्रकार कही है--'दयाका श्रेष्ठ स्वरूप दान है।

मनुष्यको चाहिये कि बिना किसी प्रकारकी हिचकिचाहटके, बिना पापकी आशंकाके, दानके लिये अपनेको पूर्णतः अर्पण कर दे। यदि दान देनेमें बुराई भी होती हो तो भी दान देना ही चाहिये; कारण, नरकके कष्टोंको भोगना अच्छा है, किन्तु अपने ऊपर आशा किये हुए व्यक्तिकी आशा तोड़ना अच्छा नहीं ।

दानकी यह शिक्षा अपूर्व है। इसके प्रतिनिधि स्वयं महात्मा अवलोकितेश्वर हुए। इन महात्माके नामका अर्थ भी बहुतोंने 'दयादृष्टि रखनेवाले प्रभु', "विशेष दयावान्

प्रभु! आदि किया है, जो ऊपरके उपदेशको देखते हुए अत्यन्त उपयुक्त है। इन्हींका दूसरा नाम लोकेश्वर या लोकनाथ रखा गया है। इससे भी जीवदया या लोकरक्षाकी ही ध्वनि निकलती है। ये दयामूर्ति भगवान् अमिताभके पुत्र माने गये हैं। सभी बातें एक ही प्रधान गुणका संकेत करती हैं-उनके दया-दाक्षिण्यका। उनका एक अन्य नाम धर्मकाय भी है।

जीवन और प्रकाशके देवता ये ही हैं। महात्मा अवलोकित सूर्य-देवता ही हैं। उनका पद्मपाणि नाम भी सूर्यका ही अन्वर्थक है। प्रकाशके देवता सूर्य वे ही हैं, लोकरक्षक विष्णु बे ही हैं; कारण, वे ही दयाके अवतार हैं।

यहाँ हमें बौद्धधर्म या इतिहासके अन्तरंगमें जाकर अन्य देवताओंकी तुलनामें भगवान् अवलोकितेश्वरका कब क्या स्थान रहा, यह नहीं देखना है। न उनके अनेक दैवी स्वरूपोंकी ही क्रमबद्ध चर्चा यहाँ करनी है। किन्तु "सुखाबती' तथा ' अमितायुर्ध्यानसूत्र' नामक ग्रन्थोमें इनके विषयकी जो एक मार्मिक बात आयी है उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि उससे यह आभास मिल जाता है कि बौद्धधर्ममें महात्मा अवलोकितेश्वरका इतना महत्त्व कैसे हुआ। यह विषय इस अंकके अनुकूल भी है।

"प्राचीन कालमें धर्माकर नामके भिक्षु थे, जो आगे चलकर अमिताभ या लोकनाथ कहलाये। उन्हें बुद्धकी पदवी प्राप्त किये अब दस कल्प व्यतीत हो चुके हैं। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो सभी बुद्ध समान होते हैं, किन्तु अपने-अपने विशिष्ट संकल्पोंके अनुसार इनमें अन्तर भी हो सकते हैं। धर्माकरने (जो आगे चलकर अमिताभ हुए) यह संकल्प किया कि जब वे बुद्ध हो जायँगे तब वे *बुद्धक्षेत्र' नामक अत्यन्त पवित्र और आनन्दमयी (सुखावती) नगरीका निर्माण करेंगे।

अन्य बुद्धक्षेत्रोसे निकलकर बहुत-से निर्वाणार्थी अर्हत् या बुद्ध इन अमिताभसे बुद्क्षेत्रमें जाया करते हैं। यहीं बे सभी जीव जो अभी मुक्त नहीं हुए किन्तु जिनमें उसकी योग्यता है, आकर एकत्र होते हैं और मुक्तिकी प्रतीक्षा किया करते हैं। इन्हीं अमिताभके साथ रहकर बोधिसत्त्व अन्तिम जन्म (जिस जन्मके बाद फिर जन्म नहीं होता) धारण करनेकी तैयारी करते रहते हैं । इसीके पश्चात् वे (बोधिसत्त्व) बुद्धका स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और तब उनकी सत्ता परिवर्तित हो जाती है ।'

इसी प्रसंगमें कहा है कि अवलोकितेश्वर इस कल्पके अन्तिम (सहस्रवें) बुद्धके रूपमें प्रकट होंगे । सभी बोधिसत्त्व एक-से नहीं होते । अवलोकितेश्वरका स्थान उन सबमें श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि उन्होंने यह संकल्प किया है कि वे समस्त प्राणियोंको बिना किसी भेदके "सुखावती' में ले जायँगे। इस आख्यानमें भी उनकी महत्ताका रहस्य झलक रहा है। दयाधर्मकी वह प्रेरणा, जो सारे बौद्धधर्मकी मुख्य वस्तु है, इसमें स्पष्ट है ।

(२) मंजुश्री

बौद्ध-साहित्यमें भगवान् अवलोकितेश्वरकी एकमात्र समता करनेवाले मंजुश्री नामक महामुनि शुद्ध ज्ञानके प्रतीक (ज्ञान-सत्त्व) हैं। अन्य

बोधिसत्त्वोंसे उनका स्थान ऊँचा है। महायानमें वे बोधिसत्त्वके रूपमें माने गये हैं, किन्तु पूर्ववर्ती तन्त्र-ग्रन्थोमे उनका स्वरूप भिन्न प्रकारका है। उनमें वे परमतत्त्वके प्रधान प्रतिष्ठापक कहे गये हैं। मंजुश्रीका सम्प्रदाय भारतवर्षसे चीन होता हुआ नैपालमें फैला और उन स्थानोंमें उसने नया ही रूप धारण किया। नैपालमें मंजुश्री सभ्यताके स्रष्टा या जनक माने जाते हैं।

बोधिसत्त्वके रूपमें उनका नाम मंजुघोष रहा है और उनकी पदवी कुमारभूत या राजकुमारकी रही है। राजकुमार मंजुघोष बुद्धके समान ही शक्तिशाली कहे गये हैं और उनके दहिने हाथ माने गये हैं। एक महान् धर्मप्रचारकके रूपमें उनकी ख्याति हुई है। सूत्र तथा भक्ति-ग्रन्थोंमें ये महायानके सच्चे अनुयायियोंके मार्गप्रदर्शक बतलाये गये हैं। जनश्रुतिके अनुसार प्रज्ञापारमिताग्रन्थोके आविर्भावक वे ही हैं।

प्रज्ञा या ज्ञानके प्रदाता, शब्दके देवता मंजुघोष महायानके महान् परिपोषक माने गये हैं। ज्ञानके देवता वे ही हैं। उनके अनेक जन्मोंकी जीवनी जो जनश्रुतियोंमें मिलती है, उनके किसी निश्चित स्वरूपका बोध नहीं कराती। “मंजुश्रीगुणक्षेत्रव्यूह' नामक ग्रन्थमें (जिसका अनुबाद चीनीभाषामें सन् ३०० ई० के आसपास हुआ) उनके उस संकल्पका उल्लेख है जो उन्होंने बोधिसत्त्वकी पदवी प्राप्त करनेपर किया था।

वह संकल्प इस प्रकार है-

“मैं शीघ्र बुद्धका पद प्राप्त करना नहीं चाहता; कारण, मैं संसारमें रहकर जीवोंका उद्धार करना चाहता हूँ।' इसी प्रकार ' शिक्षासमुच्चय' में वे कहते हैं, ' अपने सारे जन्मोंमें मैं अक्षोभ्यका आदर्श ग्रहण करना और भिक्षु बना रहना चाहता हूँ।'

माध्यमिक बौद्धोंके 'मंजुश्रीविक्रीड़ित' नामक ग्रन्थमें महात्मा मंजुश्रीद्वारा एक पतिता स्त्रीके उद्धारको कथा आयी है। उस स्त्रीको उन्होंने सुन्दर नवयुवकका स्वरूप दिया, ऐसा कहा है। महायानसम्प्रदायके अनुयायियोंके प्रसिद्ध पाठग्रन्थ ' भद्रचर्यागाथा' में उनकी रक्षक और पोषकके रूपमें स्तुति की गयी है।

मंजुश्रीकी सबसे प्राचीन मूर्ति दो बाहुओंकी कमलपर प्रज्ञा चिहसे युक्त प्राप्त होती है।प्रायः छः तन्त्र-ग्रन्थोमें मंजुश्रीका उल्लेख किया गया है। उनमें ये

प्रधानत: ज्ञानसत्त्व अर्थात् ज्ञानके प्रतीक माने गये हैं। साधन नामक ममन्त्रॉमें, जिनका प्रयोग किसी देवताका आह्वानकर तदाकार बन जानेके आशयसे किया जाता था, मंजुश्रीका प्रमुख स्थान है।

अनेक प्रकारके मण्डल, रेखाचित्र आदि बनाकर देवताको बुलाया करते थे। मनुष्य, जो देवतासे भिन्न नहीं हैं, केवल बद्धरूपमें हैं, उन देवताओंमें मिल जानेकी साधना किया करते थे। मंजुश्रीका उन साधनोंमें बार-बार उल्लेख है। उन मण्डलों और रेखाचित्रोंमें उनका मध्यवर्ती स्थान है, जिससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दू देवताओंमें जो पद ब्रह्माका है वही बौद्धोंमें मंजुश्रीका है। 'नामसंगीति' नामक पुस्तकमें मंजुश्रीका पर्यायवाची 'ब्रह्मा' नाम भी आया है। दोनोंकी प्रधान शक्ति सरस्वती हैं।

यह बात ध्यान देनेकी है कि बौद्धोंके बुद्ध या बोधिसत्त्व जब देवताका रूप धारण करते हैं तब वे हिन्दू देवताओंके ही प्रतिरूप बन जाते हैं। दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।

(३) सारिपुत्त

महात्मा सारिपुत्त बुद्धभगवान्‌के दो प्रधान शिष्योंमें थे। संस्कृत ग्रन्थोंमें उन्हें शारिपुत्र, शालिपुत्र, शरद्वतीपुत्र आदि कहा है । उनका पहला नाम उपतिश्य या उपतिस्स था। उनकी पदवी धर्मसेनापतिकी थी । नामक ग्रन्थमें लिखा है कि भगवान् बुद्धने पूछे जानेपर कहा था कि उनके न रहनेपर सारिपुत्त ही धर्मचक्रका प्रवर्तन और संचालन करेंगे। सारिपुत्तके नामसे बौद्ध ग्रन्थोमें अनेक आख्यान लिखे मिलते हैं। महायानग्रन्थोंके भी वे रचयिता प्रसिद्ध हैं। “जातक' (१।३९१) के आाष्यमें भगवान् बुद्धसे उनके निर्वाणके पूर्व सारिपुत्तके भी निधनका उल्लेख कराया गया है, परन्तु यह बात प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती।

“महापरिनिर्वाण सूत्र' में भगवान् बुद्धके लीलासंवरणके प्रसंगमें सारिपुत्तकी मृत्युका कोई उल्लेख नहीं है, वरं कुछ ही पहले उनके सिंहनादकी

(बौद्धमतके जोशीले समर्थनकी) चर्चा की गयी है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धभगवान्के पश्चात् सारिपुत्तका जीवित रहना ही अधिक प्रामाणिक है।

(४) मौद्लायन या मोग्गल्लान सारिपृत्त

बुद्धके प्रथम प्रधान शिष्य थे, उनके द्वितीय प्रधान शिष्यका नाम मौदूलायन, मोग्गल्लान या मुदल था।

ये भद्रकन्या नामकी ब्राह्मणीके पुत्र थे। इन्होंने बौद्धधर्म किस प्रकार ग्रहण किया, इसकी कथा प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटकमें मिलती है !-राजगृहमें संजय नामके एक परिव्राजक थे। मुदूल तथा उनके एक अन्य युवक मित्र इन्हीं संजय महोदयके साथ पर्यटन करते थे। उन्हींके शिष्य या अनुवर्ती-से थे। इन दोनोंने पर्यटनके सिलसिलेमें आपसमें यह निश्चय कर लिया था कि हम दोनोंमें घूमते-घूमते यदि किसी एकको "अमृत' की प्राप्ति हो जाय तो वह दूसरेको भी उसकी सूचना दे दे।

एक दिन मुद्रलके मित्र, जो सारिपुत्त ही थे, एक बड़े तेजस्वी व्यक्तिको देखकर बड़े चकित होकर उनसे मिले। इन तेजस्वी व्यक्तिका नाम अस्सजी था और ये भी परिव्राजक ही थे। सारिपुत्तने उनके साथ-साथ उनकी कुटीतक जाकर पूछा, "महोदय! आपकी यह तेजस्वी, निर्मल और शान्त मुद्रा देखकर मैं अत्यधिक आकर्षित हुआ हुँ और आपसे यह जानना चाहता हूँ कि आपके गुरु कौन हैं जिनसे आपने यह स्वरूप प्राप्त किया है?'

अस्सजीने उत्तर दिया, "मेरै गुरु शाक्यवंशीय एक महान् धार्मिक पुरुष हैं जो अपना घर छोड़कर बाहर चले गये थे। उन्हींका मैं शिष्य हूँ। उन्हींका सिद्धान्त मैं मानता हूँ।' इसपर सारिपुत्तने फिर पूछा-उन गुरु महोदयका सिद्धान्त क्या है जिसे आप मानते हैं? अस्सजीने

कहा-मैं अभी नया शिष्य हूँ, गुरुदेवका सिद्धान्त मैं विस्तृतरूपसे आपको नहीं समझा सकता; पर संक्षेपमें मैं उसका अर्थ सुना सकता हूँ। सारिपुत्तके उत्कण्ठा प्रकट करनेपर उन्होंने यह वाक्य कहा-"सारी वस्तुएँ जिस एक कारणसे उत्पन्न हुई हैं वह कारण हमारे गुरुदेवने बतला दिया है। साथ ही

उन्होंने यह भी कह दिया है कि वे सारी वस्तुएँ किस प्रकार एक-एककर समाप्त हो जायँगी। यही हमारे गुरुका वाक्य है।'

इस वाक्यको सुनकर सारिपुत्तको सत्यको निर्मल दृष्टि प्राप्त हुई। उन्हें यह ज्ञान हासिल हुआ कि जिस वस्तुकी उत्पत्ति होती है उसके नाशकी अवस्था भी आती ही है। उसने कहा कि इसी सत्यकी खोजमें मैं इतने दिनोंसे था किन्तु अबतक सफल नहीं हो सका था।

वह शीघ्र मोग्गल्लान (मुदल) के पास गया और अमृत मिल जानेकी बात उससे कही । मुद्रलके पूछनेपर उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। मुदल यह सुनकर, अमृत पाकर प्रसन्न हुआ और दोनों ही महात्मा बुद्धके निकट जाकर उनके शिष्य हो गये।

यद्यपि बौद्धधर्मका प्रधान वाक्य यह नहीं है जो अस्सजीने सुनाया था, परन्तु इसका बड़ा प्रचलन हुआ तथा कुछ पश्चिमी लोग इसे बौद्धधर्मका महावाक्य भी मानने लगे हैं।

इस कथामें आये हुए ' अमृत' शब्दका अर्थ देवताओंका पेय आरम्भमें रहा होगा, पर कालान्तरमें इसका प्रयोग मोक्ष या निर्वाणके अर्थमें किया जाने लगा।

सारिपुत्त और मुदल दोनों बुद्धदेवके प्रधान शिष्य थे। इनमें सारिपुत्त छोटे विद्यार्थियों और शिष्योंको शिक्षा देते थे और मुदल बड़ोंको। 'मज्झिम निकाय' में इन दोनोंकी तुलना इस प्रकार स्वयं बुद्धजीने की है-' बन्धुओ! जिस प्रकार माता पुत्रको पैदा करती है उसी प्रकार सारिपुत्त छोटे शिष्योंके लिये हैं, और जिस प्रकार शिक्षक लड़कोंको पढ़ाते हैं उसी प्रकार मुदल बड़े शिष्योंके लिये हैं। सारिपुत्त उसे (शिष्यको) दीक्षित करता है। मुद्रल उसे उच्चतम ज्ञानतक ले जाता है। किन्तु सारिपुत्त चारों आर्य सत्योंको विद्यार्थीपर प्रकट करता, उसे सिखाता है तथा उसे उनपर दृढ़ करता है (इस कारण उसका कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है)!

मुद्रलका कार्य उन सत्योंकी विस्तृत व्याख्या करना है (इस कारण उसका कार्य कुछ कम महत्त्वपूर्ण है) ।'

बौद्ध ग्रन्थोके अनुसार मुद्रल लौकिक और पारलौकिक ऋद्धियों (पाली 'इद्धियों') के अधिकारी माने गये हैं। ये ऋद्धियाँ कई प्रकारकी कही गयी हैं। पक्षियोंकी ऋद्धि उड़नेकी है, राजाओंकी ऋद्धि कुछ और ही है। ऋद्धिसे ही

व्याध आखेट करनेमें सफल होता है। सब प्रकारकी अच्छी-बुरी ऋद्धियाँ होती हैं। लौकिक और अलौकिक ऋद्धियोंके ये दो विभाग मुख्यरूपसे बौद्ध ग्रन्थोमें किये गये हैं।

लौकिक ऋद्धि शरीरको लुप्त या स्थानान्तरित कर देने, जलपर चलने, दीवालके भीतरसे निकलने या देवताओंसे साक्षात्कार आदि करनेमें है। अलौकिक ऋद्धि आत्मशक्ति और शान्ति प्राप्त करनेमें है।

दोनों ही ऋद्धियाँ मुदल महोदयको प्राप्त थीं। इस सम्बन्धमें कई बड़े विस्मयपूर्ण आख्यान भी प्राप्त होते हैं। जातकोंमें यह कथा आयी है कि मुद्रलने क्रद्धिकी सहायतासे किस प्रकार अनिष्ट भूतोंको पराजित किया। यह भी लिखा है कि पृथ्वीपर धर्म और सदाचारका प्रचार करनेके लिये किस प्रकार मुद्रलजीने एक बार अपने अँगूठेकी नोकसे सारे स्वर्गलोकको कँपा दिया था। इस प्रकारकी अन्य अनेक आख्यायिकाएँ प्राचीन ग्रनथोमे प्राप्त होती हैं।

कहते हैं, मोग्गल्लान (मुदल) तथा सारिपुत्र (सारिपुत्त) दोनोंका देहावसान भी प्राय: एक ही समय हुआ था। दोनोंकी समाधि एक ही स्थानपर बनायी गयी थी और दोनोंके अस्थि-अवशेष भी कनिंघम साहबको साँचीमें खोज करते हुए साथ ही एक बक्सेमें मिले थे, जिसपर दोनोंका उल्लेख था।

(५) धम्मपाल

धम्मपाल नामके दो मुख्य संत और बौद्धोंमें हुए हैं। उनमेंसे एक, जिन्हें धम्मपाल ही कहते हैं, ईसाकी पाँचवाँ शताब्दीमें दक्षिण तामिल प्रान्तके कांचीपुर नामक नगरमें उत्पन्न हुए थे। दूसरे धम्मपाल, जिन्हें चीनी यात्री हुएनसांगने धर्मपालका संस्कृत नाम दे दिया है, सुप्रसिद्ध नालंद-विश्वविद्यालयके धर्माध्यक्ष थे और स्वयं हुएनसांगकी गुरु-परम्परामें भी थे। इनका समय ईसाकी छठी शताब्दीमें ठहरता है। हुएनसांगने दोनों धम्मपालोंकी जीवनीको सम्मिश्रित कर दिया है,जो उसकी भ्रान्ति है।

ये दोनों धम्मपाल कम-से-कम एक शताब्दीके अन्तरसे हुए और इनका क्रियाकलाप भी बहुत कुछ भिन्न था। प्रथम धम्मपाल पालीभाषाके तथा द्वितीय संस्कृतके विद्वान् हुए। प्रथमकी शिक्षादीक्षा दक्षिणमें तथा द्वितीयकी नालंद-विशवविद्यालयमें हुई। एक विचारोंमें नवीनताके प्रेमी और परिवर्तनप्रिय तथा दूसरे अपरिवर्तनवादी थे। इनके समयोंमें भी पूरी एक शताब्दीका अन्तर है। फिर भी हुएनसांगसे गलती हो ही गयी!

जब यह चीनी यात्री भारतवर्षके दक्षिण प्रदेशमें भ्रमण कर रहा था तब स्थानीय धर्मसंघके सदस्योंने प्रथम धम्मपालका परिचय उसे इन शब्दोंमें दिया था--"वह बाल्यावस्थामें बड़ी ही सुन्दर आकृतिका था और उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। जब वह बड़ा हुआ तब उसके विवाहके लिये राजाने अपनी पुत्री देनेका निश्चय किया। किन्तु जिस रात्रिको विवाह होनेवाला था धम्मपालका चित्त अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा और उसने बुद्धदेवकी मूर्तिके सम्मुख खडे होकर सच्चे हृदयसे प्रार्थना की।

उसकी वह प्रार्थना स्वीकार हुई और एक देवताके द्वारा वह राजधानीसे सैकड़ों मील दूर एक पर्वतीय धर्मसंघमें पहुँचाया गया। जब उस धर्मसंघके सदस्योंने उसकी कथा सुनी तब उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकारकर उसे धर्मसंघमें दीक्षित किया।'

हुएनसांगने भ्रान्तिवश इन धम्मपालको ' बोधिसत्त्व' की पदवी दी है, जो वास्तवमें उनके गुरुदेवके गुरुदेव धम्मपाल महोदयकी उपाधि रही होगी। इतना तो स्मष्ट है कि ये दोनों ही धम्मपाल दो भिन्न पुरुष थे। धम्मपालका स्थान बौद्धसाहित्यमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार बुद्धघोषने बौद्ध-साहित्यके पाँच प्रधान गद्य-ग्रन्थोंपर भाष्य लिखे उसी प्रकार धम्मपालने पद्यग्रन्थोंकी व्याख्या चौदह प्रमुख पुस्तकोंमें की है।

(६) कनक मुनि

कनक मुनि, जिन्हें पालीभाषामें *कोणागमन' कहते हैं, वर्तमान कालके चार बुद्धोंमें द्वितीय माने जाते हैं। इनके पूर्ववर्ती बुद्ध क्रकुच्छंद (ककुसंघ) तथा परवर्ती काश्यप और शाक्य मुनिके नामोंसे प्रसिद्ध हैं । इन कनक

मुनिकी स्मृतिमें महाराज अशोकने एक स्तम्भ बनवाया था जिसका पता सन् १८९९ की नैपालकी तराईमें की गयी सरकारी खोजसे लगा है। महाराज अशोक यात्रा हुए उस स्थानपर पहुँचे थे जहाँ कनक मुनिका जन्म हुआ था। यहीं वह स्तम्भ स्थित है ।

'फाहियान और हुएनसांग दोनों ही प्रसिद्ध चीनी यात्री कनक मुनिका जन्मस्थान देखने गये थे। दोनोंहीने उक्त स्थान तथा वहाँके स्मृतिचिह्वोंका वर्णन किया है। हुएनसांगने यह भी लिखा है कि महाराज अशोकने उक्त स्मृति-स्तम्भमें कनक मुनिके निर्वाणका वृत्तान्त लिखवाया था, किन्तु अब उक्त वृत्तान्त प्राप्त नहीं होता । केवल तिब्बती लिपिमें 'ओ३म् मणिपद्मे हूम्' मन्त्र मिलता है और स्तम्भके निचले टूटे हुए भागमें ये पंक्तियाँ लिखी मिलती हैं--

“महाराज प्रियदर्शी (अशोक) ने अपने राज्यकालके पन्द्रहवें वर्षमें कनक मुनि बुद्धके स्तूपका द्वितीय बार परिवर्धन कराया। वे स्वयं यहाँ उपस्थित हुए, मुनिवरकी श्रद्धापूर्वक आराधना की और इस स्तम्भका उद्घाटन किया।'

अन्य बुद्धोंकी अपेक्षा कनक मुनिका महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टिसे अधिक है। उनके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं। वरं उनके व्यक्तिगत अस्तित्वके प्रमाण भी हैं। यद्यपि उनके जीवनके विषयमें और कोई बात विदित नहीं है तो भी उनके जन्म लेनेकी बात सिद्ध होती है और यह बात बौद्धोंकी धार्मिक परम्परामें बड़े महत्त्वकी है।

(७) संत पद्मसम्भव या पद्माकर

भारतवर्षसे सुदूर तिब्बत जाकर सर्वप्रथम तिब्बतीय बौद्धसंघ स्थापित करनेवाले धर्मप्रचारक और संत पद्मसम्भवके सम्बन्धमें अबतक इतना ही विदित था कि वे अपने एक शिष्यसमुदायके साथ तिब्बत गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्मकी शिक्षा दी थी। वे लामालोगोंमें पुराने कैंडेके उपदेश देनेके लिये ही थोड़े-बहुत ख्यात थे। किन्तु हालके अनुसन्धानसे यह सिद्ध

हुआ है कि ये संत पद्‌मसम्भव सबसे पहले आचार्य और धर्मप्रचारक हैं जिन्होंने बौद्‌धधर्मकी नियमित रूपसे स्थापना की।

तिब्बतके तत्कालीन सम्राट्‌ने, जिनकी माता बौद्‌धमतानुयायिनी सम्राज्ञी थी, आग्रहपूर्वक इन्हें भारतवर्षसे बुलाया था और आदरपूर्वक इनकी स्मृतिशिलाका निर्माण कराया था। यह ईसवी आठवीं शताब्दीकी बात है।

लामाधर्मका सूत्रपात इन्हींसे हुआ, जो बौद्‌धधर्मका तिब्बती नाम है। यद्‌यपि “लामा' शब्द सम्राट्‌के शिलालेखोंमें नहीं आया तो भी उनमें यह वाक्य आया है “उनके आशीर्वादसे देशीय सनातनधर्मकी स्थापना हुई।' यह सनातनधर्म लामामत या बौद्‌धमत ही है।

तिब्बतके प्रथम धर्मसंघकी स्थापना संत पद्‌मसम्भवने 'संन्यास' नामसे सन्‌ ७४९ ई० में की थी। इसका आकार-प्रकार मध्यभारतके नालंदस्थित प्रधान धर्मसंघके ही अनुरूप था। कुछ लोग इसे गंगातीरस्थ उदन्दपुरके संघका अनुकरण बतलाते हैं। जो भी हो, तिब्बतमें यह भारतवर्षके एक साधु पर्यटककी बनवायी प्रथम धर्मसंस्था थी।

ये परित्राजक पद्‌मसम्भव बड़े ही उद्‌योगी महापुरुष हुए। इन्होंने एक भिन्न-भाषाभाषी प्रदेशमें जाकर कई ऐसे शिष्योंको शिक्षित किया जो संस्कृत और तिब्बती भाषाओंके अच्छे पण्डित बन गये और जिन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक संस्कृतके बौद्‌धग्रन्थोंका अनुवाद अपनी देशी भाषामें किया। बहद्‌पालवंश तथा वैरोचन नामक उनके शिष्य अनेकानेक ग्रन्थोंके अनुवादक प्रसिद्‌ध हैं।

पहले तो नये धर्मके तत्त्व समझाना, फिर भाषाका ज्ञान कराना, फिर एकसे दूसरेमें रूपान्तरित करनेकी विद्‌या बतलाना और अन्तमें क्लिष्ट धार्मिक विषयका शुद्‌ध परिमार्जित अनुवाद कराना क्या साधारण कार्य है? इसे तो वे ही समझ सकते हैं जिन्हें ऐसा करनेका अवसर प्राप्त हुआ हो। अ

उनकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें तिब्बती लेखकोंने लिखा है कि ये प्रायः मन्त्रों और जादू-विद्‌याओंका ही अभ्यास कराते थे। परन्तु इन लेखकोंके लेख कई शताब्दी पीछे लिखे होनेके कारण अधिक प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। अधिक सम्भावना यही है कि उनकी शिक्षा माध्यमिक बौद्‌ध महायान मतकी रही हो। और आगे चलकर वह विकृत होकर जादू और झाड़फूँकीके रूपमें परिवर्तित हो गयी हो। आरम्भमें उसका यह रूप नहीं था।

उक्त 'संन्यास' नामक धर्मसंघके अध्यक्ष, आचार्य पद्मसम्भवके साथी और सम्बन्धी, शान्तरक्षित नामक साधु हुए। यह विदित नहीं कि आचार्य पद्मसम्भव महोदय विवाहित थे या अविवाहित । स्वयं अध्यक्षपद न ग्रहण करनेके कारण उनके होनेकी बातका अनुमान किया जाता है और जनश्रुति भी

प्राचीन तिब्बती बौद्धसम्प्रदायके ये प्रधान संत

ऐसी ही है, किन्तु इस विषयमें कोई निश्चित बात नहीं | स्वीकार किये जाते हैं। लाल टोपी धारण किये, जूते कही जा सकती। अन्य कारणोंसे भी उनके विवाहित | पहने, मोटे वस्त्रोंसे सुशोभित ये आधुनिक लामाके सच्चे होनेकी कल्पना कर ली गयी हो, यह भी सम्भव है। | प्राचीन प्रतिनिधिके रूपमें अंकित किये गये हैं।

महात्मा कस्सप (लेखक- श्रमणेर श्रीप्रियरत्नजी)

भगवान् बुद्धके बाद बौद्धोंक सबसे बड़े महात्मा ये ही हुए हैं। ये बड़े अकिंचन थे। रास्तेमें पडे हुए चिथड़ोंको शरीरमें लपेट लिया करते थे, खानेके लिये गरीबोंके घरसे कुछ ग्रास माँग लाया करते थे और रहनेके लिये इन्हें वन अथवा निर्जन कन्दरा ही पसन्द थी। परन्तु ये जितने दीन थे उतने ही पवित्र भी थे। माता-पिताके बार-बार आग्रह करनेपर इन्होंने विवाह तो कर लिया, किन्तु दुलहिनके घर आनेपर उससे इन्होंने कहा- देखो, बहिन! यह माला हम तुम्हारे और अपने बीचमें रखते हैं; यदि तुम्हारे मनमें कोई विकार उत्पन्न हो गया तो तुम्हारी तरफके फूल कुम्हिला जायँगे और यदि मेरे मनमें कोई विकार उत्पन्न हुआ तो मेरी ओरके पुष्प मुरझा जायँगे ।'

भद्दकपिलानी (कस्सपकी स्त्री) देशभरमें अपने सौन्दर्यके लिये प्रसिद्ध थी। कस्सपके माता-पिताने बराह्मणोंको आदर्श दुलहिनके रूपमें एक

सोनेकी मूर्ति देकर अपने लड़केके लिये दुलहिन खोजनेको मथुरा भेजा था, क्योंकि मथुरा उन दिनों नारीरत्नोंके लिये प्रसिद्ध थी। और वहाँसे ये लोग भद्दकपिलानीको लाये थे। भद्दकपिलानी भी अपने पतिके समान ही पवित्र थी। सबेरेके समय उन दोनोंने देखा कि मालाके फूल ज्यों-के-त्यों खिले हुए रखे हैं मानो वे हालके ही तोड़े हुए हों।

एक दिन कस्सप, जिन्हें घरपर लोग पिप्फली कहते थे, खेतोंमें यह देखनेके लिये गये कि वहाँ कैसा काम हो रहा है। वहाँ जाकर इन्होंने देखा कि जोती हुई जमीनपर एक कौओंका झुंड बैठा हुआ चोंचसे बीनबौनकर कुछ खा रहा है। पूछनेपर मजदूरोंने जवाब दिया, 'भाई साहब, ये कौए मकोड़ोंको खा रहे हैं।' पिप्फलीने पूछा--'इस हत्याका पाप किसको लगेगा ?' उन्होंने कहा कि इसका पाप तो खेतके मालिकको ही लगेगा। तब पिष्फली मनमें सोचने लगे--'मेरे पास रुपया तो बहुत है, परन्तु वह धन किस कामका जो हमारी पापकर्मोंके फलसे रक्षा न कर सके।

ऐसे धनको लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है। कपिलानी इसकी स्वामिनी हो, मैं तो साधु हो जाऊँगा ।' कपिलानी आँगनमें बैठी हुई दासियोंको धूपमें कुछ बीज सुखानेको कह रही थी। उसने देखा कि पास ही कौए कुछ बीन-बीनकर खा रहे हैं, उसने भी दासियोंसे वही प्रश्न किया जो पिप्फलीने मजदूरोंसे किया था। दासियोंने भी उसके प्रश्नका यही उत्तर दिया कि कौए मकोड़ोंको खा रहे हैं।

इसपर कपिलानीने पूछा, इसके लिये पापका भागी कौन होगा? दासियोंने उत्तर दिया कि इसका पाप तो मालकिनको ही लगेगा। कपिलानी सोचने लगी-' मुझे तो चार गज टुकड़ा शरीर ढकनेके लिये और मुट्ठीभर चावल खानेके लिये चाहिये। फिर यदि इन सब जीवोंके पाप मुझको ही भुगतने पड़ेंगे तो युगोंतक मेरा उन पापोंसे छुटकारा नहीं हो सकता। मुझे ऐसा जीवन नहीं चाहिये। पतिदेव खेतसे लौटकर आवें तो उन्हें गृहस्थीका सारा भार सौंपकर मैं तो भिक्षुणी बन जाऊँगी।' इतनेमें ही पिप्फली खेतसे लौट आये और भोजन करके कपिलानीसे बोले- प्रिये! मैं अपनी यह सारी सम्पत्ति और जो कुछ तुम नैहरसे लायी हो बह सब तुम्हारे हवाले करता हूँ।' कपिलानीने पूछा-- क्यों, आप कहाँ जा रहे हैं?' पिप्फलीने उत्तर दिया--'मैं साधु होने जा रहा हूँ।'

कपिलानीने कहा--' मैं भी इसी प्रतीक्षामे बैठी थी कि आप आवें तो आपसे पूछकर गृहस्थीका सारा भार आपको सौंप दूँ और स्वयं संन्यासिनी बन जाऊँ, क्योंकि यह जगत् मुझे जलते हुए मकानकी तरह मालूम होता है।'

फिर क्या था, पतिपत्नी दोनोंने गेरुआ वस्त्र मँगाये और सिर मुँड्वाकर सारे परिवारको रोते हुए छोड़कर वनका रास्ता लिया। थोड़ी दूर जानेपर महाकस्सपके मनमें यह बात आयी कि मेरे साथ एक ऐसा रमणीरत्न है जिसके जोडेका कोई दूसरा रत्न खोजनेपर नहीं मिलेगा और लोग यह कहेंगे कि कपड़े रँगकर भी ये पति-पत्नी एक दूसरेका मोह नहीं छोड़ सके।

इतनेमें ही वे एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जहाँ दो सड़कें मिलती थीं। वहाँ कस्सपने कपिलानीसे अपने मनकी बात कह दी और यह कहा, इन दोनों रास्तोंमेंसे जो रास्ता तुमको पसन्द हो उसीसे जा सकती हो, मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा ।' कपिलानीको भी यह बात पसन्द आ गयी। वह एक तरफ चल दी और महाकस्सप दूसरे रास्तेसे चल दिये। इनके इस अपूर्व वैराग्यको देखकर पृथ्वीमाता काँपने लगी।

उन दिनों भगवान् बुद्ध राजगृहमें बाँसोंके झुरमुटमें रहते थे। उन्हें दिव्यदृष्टिसे इस दम्पतीके गृहत्यागका पता लग गया और वे दयापरवश हो इनके सामने चल दिये और बहुत दूर जाकर राजगृह और नालन्दके बीचमें एक वृक्षके नीचे बैठ गये। महाकस्सपने उस तेजोमय मूर्तिको देखा और देखते ही मनमें कहा 'हो-

न-हो, यही भगवान् बुद्ध हैं; मैं इनका शिष्यत्व ग्रहण

करूँगा!' यों कहकर वे भगवान्के समीप गये और उन्हें

साष्टांग प्रणामकर कहने लगे--' भगवन्! मैं आपको

गुरुके रूपमें वरण करता हूँ। आप कृपा करके मुझे

अपने चरणोंमें आश्रय दीजिये। भगवान् बुद्धने उन्हें

दीक्षा देकर धर्मका उपदेश किया। इसके बाद वे उठ

खड़े हुए और बहाँसे चल दिये। महाकस्सप भी उनके

पीछे-पीछे हो लिये। कुछ दूर जाकर भगवान् बुद्धने

विश्राम करना चाहा। महाकस्सपने अपने वस्त्रक

चौतहाकर उसे जमीनपर बिछा दिया। भगवान् बुद्ध उसपर बैठ गये और कहा--'कस्सप! तुम्हारा कपड़ा बड़ा मुलायम है।' शिष्यने कहा-- महाराज! यदि यह आपको पसन्द हो तो इसे आप ही धारण कीजिये।' “तब तुम क्या पहनोगे ?' “महाराज, मैं आपके फटे हुए वस्त्रको पहन लूँगा।' इसपर बुद्धने कहा--' तथागतके द्वारा धारण किया हुआ वस्त्र कोई साधारण मनुष्य नहीं 'पहन सकता। इसे तो कोई महान् पुरुष ही धारण कर सकता है, जिसका जीवन पवित्र हो और जो तेरह प्रकारके तप करता हो।'

यह कहकर भगवान् बुद्धने अपना वस्त्र महाकस्सपसे बदल लिया और स्वयं मन्दिरको चले गये। अब महात्मा कस्सप सोचने लगे--' अहा! मैं कितना भाग्यवान् हूँ कि भगवान्का ओढा हुआ वस्त्र मुझे प्राप्त हुआ है। जो मनुष्य तेरह प्रकारके तप करता है और जिसका जीवन अत्यन्त पवित्र होता है वही इस वस्त्रको धारण कर सकता है। अत: आजसे मैं तेरह प्रकारके तप करूँगा।' यों कहकर वे तेरह प्रकारका तप करने लगे और आठवें ही दिन वे ' अर्हत्' पदको प्राप्त हो गये। उन्होंने ऐसी कठोर तपस्या की कि भगवान्ने एक दिन समुदायमें बैठे हुए कहा कि कस्सप मेरा सबसे बड़ा शिष्य है, जो तेरह प्रकारके तप करता है।

इस प्रकार निरपेक्ष होकर तथा एकान्तवासका आनन्द लूटते हुए महाकस्सप बहुत बड़ी अवस्थातक जीवित रहे। राजगृहमें बौद्धोंकी जो सबसे 'पहली महासभा हुई थी उसका बहुत कुछ श्रेय इन्हींको था।

सूफी साधना और संत

(लेखक--पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव', एम० ए०)

*सूफी' शब्दका सरल अर्थ है प्रेमसाधनाका साधक। अरबीमें 'सूफ' का अर्थ है ऊन। सूफी साधक ऊनकी कफनी और कनटोप पहनते थे, इसलिये भी इसका प्रयोग इस अर्थमें होने लगा। कुछ लोगोंका ऐसा खयाल है कि 'सूफी' शब्द अरबीके 'सफू' से बना है। 'सफू' का अर्थ है पवित्रता। इसके सिवा यह भी कहा जाता है कि जब अरबवासी अज्ञानके अन्धकारमें ढँके हुए थे उस समय

सूफा नामकी एक ऐसी जाति थी जो जगत्के प्रपंचोसे अलग रहकर मक्केकी सेवामें लगी रही और उसी जातिमें जो संत हुए उनको सूफी संत कहते हैं।

मुसलमानोंका वह उदार दल जो परमात्माकी परम प्रियतमके रूपमें उपासना करता है, सूफी कहलाता है। सूफी औलिये, दरवेश और फकोरोंमें कई श्रेणियाँ हैं और वेश-भूषा, ध्यान-जपकी पद्धतिमें भी अवश्य ही उनमें कुछ अन्तर देखनेमें आता है; परन्तु एक बातमें वे सभी सहमत हैं कि प्रभुकी प्रेरणा शुद्ध हृदयमें प्राप्त होती है। सूफियोंके दो मुख्य विभाग हैंएक वे जो भगवत्प्रेरणामें विश्वास करते हैं और दूसरे वे जो भगवानमें तल्लीनता प्राप्तकर एक हो जानेमें विश्वास करते हैं। पहले 'इलहामिया' कहलाते हैं और दूसरे ' इत्तिहादिया' ।

संक्षेपमे, सूफीमतका सारतत्त्व समझना चाहें तो इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सूफियोंकी मान्यता हमारे वैष्णवधर्मकी प्रेमसाधनासे बहुत अंशोंमें एक है। सूफी मानते हैं कि जो कुछ 'सत्ता' है वह एकमात्र प्रभुकी है-सभी कुछ प्रभुमें है और सभी कुछमें प्रभु है। दृश्य-अदृश्य सभी पदार्थ उसी एक प्रभुसे निकले हैं और प्रभुसे ओतप्रोत हैं। मनुष्यकी इच्छाएँ भगवान्के अधीन हैं और मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

इस शरीरके पहले भी आत्मा था। वह इस शरीरमें ठीक उसी प्रकार बंद है जैसे पंछी पिंजड़ेमें। इसलिये सूफी मृत्युका बड़े उल्लासके साथ स्वागत करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि इस शरीरके पिंजड़ेसे निकलकर हमारे अन्तरका पंछी अपने परम प्रियतमके मधुर आलिंगनका आनन्द लूटेगा। मृत्यु ही मनुष्यको शुद्ध करके प्रभुसे मिला देती है। प्रभुके साथ हमारी आध्यात्मिक एकता तबतक नहीं हो सकती जबतक हमें प्रभुका अनुग्रह न प्राप्त हो। उस अनुग्रहको सूफी "फयाजान उल्लाह' अथवा "फजलुल्लाह' कहते हें ।

जीवनभर सूफीका एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह भगवान्का स्मरण-चिन्तन करे, भगवानूका नाम जपे ('जिक्र' करे) और अपना जीवन ऐसा सादा और पवित्र बना ले कि उसे भगवानूकी प्राप्ति हो ही।

जगतूकी ओरसे मुँह फेरकर भगवान्के पथमें चलनेकी उत्कण्ठाका बीजारोपण जब हृदयमें हो जाता है उस समय साधकका नाम 'तालिब' है। इस पथमें जब वह प्रवृत्त हो जाता है तो उसे 'मुरीद' कहते हैं। किसी गुरुके आदेशानुसार जब वह अपने जीवनको प्रभुप्राप्तिमें प्रवाहित कर देता है तब

उसका नाम “सलीक' होता है। सबसे पहले उसे 'सेवा' की दीक्षा मिलती है। सेवाके द्वारा ही उसे प्रेम (इश्क) की प्राप्ति होती है।

प्रेमके द्वारा उसे एकाग्रताकी प्राप्ति होती है और संसारके सारे राग-मोह सदाके लिये जल जाते हैं। ्रेमाग्निमें राग-मोह आदि विषय जब जल जाते हैं और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब उसके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश उठता है। ज्ञानके इस उज्ज्वल प्रकाशमें उसे प्रभुका साक्षात्कार होता है। यह प्रेममदकी पूर्णावस्था है। इसके बाद साधक 'वस्ल' (मिलन) की ओर बढ़ता है। इससे आगे अब वह नहीं जाता। हाँ, मृत्युपर्यनत वह ध्यान-धारणाके द्वारा इस आनन्दको स्थिर और स्थायी बनाता है और मृत्युके समय “फना' का आनन्द लूटता है--मृत्युके समय सूफी अपनेको सर्वात्मभावसे प्रभुमें लय कर देते हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँ कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा सिद्धावस्था है उसी प्रकार सूफी साधककी चार अवस्थाएँ मानते है--शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत। उनका ' अनलहक' हमारे ' अहं ब्रह्मास्मि' का ही बोधक है। सूफी साधना त्यागपक्ष और प्राप्तिपक्ष दोनों रूपमें सर्वात्मसमर्पणको ही लक्ष्य करके चली है।

साधकको जीवनपथमें चलनेके लिये चार वसुओं को आवश्यकता है--सद्दचन, सत्कर्म, सदाचार, सद्विवेक। साधक एक क्षणके लिये भी यह न भूले कि जब सब कुछ लय हो जायगा तो केवल प्रभु ही रह जायगा-आदियें प्रभु ही था, आगे भी जब कुछ भी नहीं रहेगा एकमात्र प्रभु ही रह जायगा। सब कुछ उसी 'एक' से निकला है और उसीमें लय हो जायगा।

संसारमें हमारा रहना बीचकी स्थितिमें रहना है और इसीलिये इसे प्रभुमय बनाये रखनेकी आवश्यकता है। प्रभु तो सदा हमें अपनी ओर आकृष्ट कर ही रहा है। परन्तु हम इस आकर्षणसे हटकर धन-मानकी खोजमें लगे रहते हैं। परन्तु प्रभु हमें अपनी ओर आकृष्ट किये बिना रह नहीं सकते; वे हमें जगत्के प्रपंचोंसे छुड़ाकर अपनी ओर खींचते हैं। प्रभुकी ओरसे हमें खींचनेकी जो प्रक्रिया है उसे सूफी आकर्षण (इंजिजाब) कहते हैं और मनुष्यका प्रभुकी ओर जो बढ़ना है उसे वे आकांक्षा अथवा प्रेम कहते हैं।

हमारी आकांक्षा जितनी बढ़ती है उतना ही संसार हमसे दूर हटता जाता है। साधक इस दशामें प्रभुका प्रियपात्र-'किब्ला' बन जाता है। प्रभुके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण करके उसमें लय होना ही सूफी साधनाकी चरम परिणति है। इस अवस्थाका वर्णन जल्लालुद्दीन रूमी अपनी पुस्तक *मसनवी' (पृष्ठ

७८) में इस प्रकार करता है-प्रियतमके द्वारको बाहरसे किसीने खटखटाया। भीतरसे आवाज आयी-कौन है? “मैं हूँ'--उत्तर था। भीतरसे आवाज आयी-इस घरमें “मैं” और “तुम' “दो” नहीं रह सकते। द्वार बंद ही रहे।

प्रेमी निशाश होकर लौट गया। वर्षभर उसने जंगलमें एकान्तमें रहकर तपस्या की, उपवास किया, प्रार्थनाएँ कीं । वर्ष समाप्त होनेपर प्रेमी पुनः लौटा और प्रियतमके द्वार खटखटाये। “कौन है ?' भीतरसे आवाज आयी। “तू है'--प्रेमीका उत्तर था। द्वार खुले, प्रेमी और प्रियतम मिले, मिलकर एक हो गये। सर्वप्रथम सूफीमतका प्रकट आविर्भाव तो ईस्वी सन् ८०० के पूर्व पैलेस्टाइनमें अबुहासिमद्वारा हुआ, परन्तु इनके पहले ही रबिया हो चुकी थी और उस समयसे ही प्रच्छन्नरूपसे सूफीभावनाकी धारा अखण्डरूपसे चली आ रही है।

कुरानके ऐसे प्रसंग जिनमें सर्वव्यापी प्रेमस्वरूप परम आत्मीय प्रभुके शौल और सौन्दर्यका वर्णन है सूफीमतका आधार हुए और आगे चलकर तो इसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा भी हुई। 'पहले-पहल अबुहासिमने ही पैलेस्टाइनके पास रमलेमें सूफी साधनामन्दिरकी स्थापना की । यहींसे सूफीसाधनाकी स्वतन्त्र धारा चली, जो आजतक चली जा रही है। प्रेमके द्वारा परम प्रेमास्पदमें सर्वात्मसमर्पणकी प्रणाली मानवहदयको अनादिकालसे आकृष्ट करती आयी है और जबतक मनुष्यके पास हृदय है वह प्रेममार्गमें आकृष्ट होगा ही। अस्तु।

सूफियोंमें एक-से-एक बढ़कर संत-महात्मा हुए हैं और उनकी संख्या भी अपरिमित है । त्यागपक्ष और ग्रहणपक्ष--त्यागपक्षमें जगत्की एक-एक वस्तुका, एकएक परिग्रहका परितः त्याग और ग्रहणपक्षमे प्रभुप्राप्तिके लिये समस्त सद्गुणोंका ग्रहण-यही इन संतोंके उपदेशका सार है। कठोर तपस्या, दीर्घ उपवास और प्रार्थना, यही इनका साधन है। स्थानके संकोचसे हम बहुत संक्षेपमें यहाँ रबिया, हल्लाज मंसूर, बयाजीद बस्तामी, जल्लालुद्दीन रूमी, हाफिज और सादीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करेंगे

रबिया

बसराके एक बडे ही गरीब परिवारमें रबियाका जन्म हुआ। उससे बड़ी तीन बहिनें थीं। अकालमें माता-पिताकी मृत्यु हो गयी। किसीने इसे लेकर एक सम्पन्न व्यक्तिके हाथ बेंच दिया। वह धनी व्यक्ति इतना क्रूर और नृशंस

था कि कुमारी रबियासे बुरी तरह काम लेता और उसे मारता-पीटता भी। एक अँधेरी रातको रबिया वहाँसे भाग निकली। रात अँधेरी, रास्ता बीहड़। ठोकर खाकर वह गिर पड़ी और उसका दहिना हाथ टूट गया। उस दारुण दशामें रबियाने धरतीपर मस्तक टेककर प्रार्थना कौ--'हे प्रभु! मुझे अपनी इस दुर्दशाका शोक नहीं है। मैं तुझे भूलूँ नहीं और तू मुझपर प्रसन्न रहे, बस यही एक प्रार्थना है।'

कुरान पढ़ने और एकान्तमें प्रार्थना करनेका रबियाको व्यसन-सा था। आधी रातको जब सभी सो जाते रबिया प्रभुकी प्रार्थना करती। एक रात वह ऐसी ही प्रार्थना कर रही थी--'हे प्रभु! तेरी ही सेवामें मेरा रात-दिन बीते, ऐसी मेरी इच्छा है; पर मै क्या करूँ?

तूने मुझे पराधीन दासी बनाया है, इसीलिये मैं सारा समय तेरी उपासनामें नहीं दे सकती। हे प्रभु! इसके लिये मुझे क्षमा कर।' सेठ, जिसके यहाँ वह थी, बाहरसे यह सुन रहा था। अपनी कठोरतापर उसे बडी ग्लानि हुई। रबियाके चरणोंमें गिरकर उसने क्षमा माँगी और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कहा--' आप मेरे घर रहेंगी तो मैं आपकी सेवा करूँगा, आप अन्यत्र जाना चाहें तो आपकी इच्छा।'

मालिकके मनमें प्रभुकी प्रेरणा समझकर रबिया उसे नमस्कारकर विदा हो गयी। वहाँसे जाकर उसने कठोर तपश्चर्यामे जीवन बिताया। महात्मा हुसेन उन दिनों बसरामें ही थे। रबिया उनके सत्संगमें जाया करती और धर्मचर्चामें भाग लेती। एक बार निर्जन वनमें जाकर रबियाने योगाभ्यास किया और आयुका शेषांश मक्कामें ही बिताया। इब्राहिम आदमसे मक्कामें ही उसका सत्संग हुआ था। जीवनपर्यन्त कौमार्यत्रतका पालनकर भजनमें जीवन बितानेवाली देवियाँ इस जगत्में गिनती की ही हुई हैं।

एक दिन हुसेनने रबियासे पूछा-तुम्हारा मन विवाह करनेका है? रबियाने उत्तर दिया-विवाह तो होता है शरीरका, मेरे पास शरीर ही कहाँ है। यह शरीर तो मैं ईश्वरको अर्पित कर चुकी हूँ; कहो, अब मैं कौन-से शरीरका विवाह करूँ? एक बार एक धनिकने रबियाको फटे-पुराने कपड़े पहने देखकर कहा--' देवि! यदि आप संकेतमात्र कर दें तो आपकी दरिद्रता दूर हो जाय।' रबियाने उत्तर दिया-*तुम भूल करते हो। सांसारिक दरिद्रता दूर करनेके लिये किसीसे भीख क्यों माँगूँ?

इस संसारमें उस परमात्माका राज्य फैला हुआ है-उसे छोड़कर दूसरेसे क्यों माँगू ? जो कुछ लेना होगा उसीके हाथसे लूँगी।' ७ एक बार रबिया बीमार हो

गयी । हाल पूछनेके लिये अब्दुल उमर और सुफियान आये और रबियासे कहा कि स्वास्थ्यके लिये तुम प्रभुसे प्रार्थना करो। रबिया बोली-"यह क्या कह रहे हो? मेरे इस रोगमें क्या उस प्रभुका हाथ नहीं है? मैं तो उसकी दासी हूँ। दासीकी अपनी इच्छा कैसी ?

मेरी जो इच्छा मेरे प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध हो वह सर्वथा त्याज्य है।' रबियाकी प्रार्थना थी--'हे प्रभु! यदि मैं नरकके डरसे ही तेरी पूजा करती होऊँ तो मुझे उस नरककी आगमें जला डालना। और यदि स्वर्गके लोभसे मैं तेरी सेवा करती होऊँ तो वह स्वर्ग मेरे लिये हराम हो। किन्तु यदि मैं तेरी प्राप्तिके लिये ही तेरा पूजन करती होऊँ तो आप अपने अपार सुन्दर स्वरूपसे मुझे वंचित न रखना।'

रबियाके कुछ उपदेश

(१) ईश्वरपर सतत दृष्टि रखना ही ईश्वरीय ज्ञानका फल है।

(२) ईश्वरको प्रार्थनासे पवित्र हुए हृदयको जो उसी स्थितिमें उस प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देता है, अपनी सारी सँभाल भी उस प्रभुपर ही छोड़ देता है और खुद उसके ध्यान-भजनमें रत रहता है, वही सच्चा महात्मा है।

(३) पूरे जागे हुए मनका यही अर्थ है कि ईश्वरके सिवा दूसरी किसी चीजपर चले ही नहीं। जो मन उस परवरदिगारकी खिदमतमें लीन हो जाता है फिर उसे दूसरे किसीकी क्या जरूरत?

मसूर

ईश्वरका मार्ग अनुसरण करनेके कारण मंसूरको नाना प्रकारकी यन्त्रणाएँ सहनी पड़ीं और अन्तमें सूलीपर लटक जाना पड़ा। मक्का, बसरा आदिका भ्रमण करते हुए वह एक बार भारतवर्ष भी आये | मंसूर "अनलहक' का जप करते थे। इसका अर्थ है--मैं ही ब्रह्म हूँ। लोग उन्हें "हु अलहक'--वह ईश्वर

है--का जप करनेके लिये समझाया करते। मंसूर उत्तरमें कहते-'हाँ, वही बन्धु है। उसका महासागर चारों ओर उछल रहा है।

उसमें मेरा ' अपनापन' मिलकर एकरस हो गया है। मैं अब उससे कैसे अलग हो सकता हूँ। मैं अपना मंसूरपन भूलकर प्रभुपनको प्राप्त हुआ हूँ। अब महान् पदको छोड़कर फिर छोटा पद क्यों लूँ?!

खलीफाकी आज्ञासे मंसूरको जेलमें बंद कर दिया गया। पीछे उन्हें दृढ़ देखकर खलीफाने हुक्म दिया कि जबतक वह *अनलहक' बोलता रहे उसे लकड़ियोंसे पीटा जाय और फिर उसका वध कर दिया जाय। लकड़ीकी हर एक मारके साथ मंसूरके मुँहसे वही *अनलहक' शब्द निकलता था। आखिर जल्लाद उन्हें सूलीपर चढ़ानेके लिये ले गया। मौतको नजदीक देखकर मंसूर और भी जोर-जोरसे 'हक, हक, अनलहक' कहने लगे।

एक फकीरने उनके पास आकर पूछा--प्रेम कैसा होता है? मंसूर बोले-उसका उदाहरण अभी देखना, कल देखना, परसों देखना। कहनेका भाव यह था, आज अभी मैं कत्ल होऊँगा, कल दफनाया जाऊँगा और परसों मेरा कोई चिह्न नहीं रह जायगा। सूलीके पास जाकर उन्होंने उसका स्नेहभावसे चुम्बन किया। पहले हाथ काट डाले गये, फिर पैर; अपने ही खूनसे अपने हाथोंको रँगकर उन्होंने कहा कि यह एक प्रभुप्रेमीकी *वजू' है।

जल्लाद जब इनकी जीभ काटने लगा तो उन्होंने कहा--"जरा ठहर जाओ'। मैं एक बात कहना चाहता हूँ, वह यह है कि हे परमेश्वर! जिन्होंने मुझे इतनी पीड़ा पहुँचायी है उन्हें तू सुखसे वंचित न रखना। उनपर नाराज न होना। उन्होंने मेरी मंजिलको कम कर दिया है। अभी ये मेरा सिर काट देंगे तो मैं सूलीपरसे तेरे दर्शन करनेमें समर्थ हो सकूँगा।' प्राण निकलनेके पहले इन्होंने कुरानकी दो आयतें कही थीं। इस धरतीपर उनकी वही आखिरी आवाज थी। उपदेश १. जिनकी सदा ईश्वरकी ओर दृष्टि है और संसारसे जो विरक्त हैं वही ऋषि हैं। २. जो लोगोंके अत्याचारोंसे व्यथित नहीं होते वे ही महापुरुष हैं। बायजीद बस्तामी प्रेम, विशवास और त्यागकी मूर्ति बायजीद बस्तामी ईश्वरचिन्तनमें सदा मस्त रहते थे। उनका सारा जीवन ईश्वरके भजन-स्मरणमें ही बीता। उनका देहान्त भी ईश्वरका नाम लेते-लेते ही हुआ। उनका जन्म एशियाके बस्ताम देशमें हुआ था। इनके दादा मूर्तिपूजक थे और पिता पक्के मुसलमान। माताके चरणोंमें ही इन्हें भगवद्भक्तिकी दीक्षा प्राप्त हुई। बायजीद कभी अपनी जीविकाकी चिन्ता तो करते ही नहीं थे।

उन्हें दृढ़ विश्वास था कि प्रभु अवश्य रोटी देगा। जब कभी कोई परमेश्वरका गुणगान करता तो उनका चेहरा आनन्दसे खिल उठता, और जब कभी कोई उनका गुणगान करता तो वे नाराज होकर उठकर वहाँसे चल देते। स्वयं अपनी साधनाके सम्बन्धमें बायजीदने कहा है--'*सोलह वर्षतक देहलीपर

सन्तं सुशान्तं सततं नमामि

खड़े रहनेके बाद मुझे मालूम हुआ कि मैं बहुत बदचलन और नापाक हुँ। पीछे मेरे मनमें परमात्माकी भक्ति जागी और मैंने उससे कहा--'हे प्रभो! आपके सिवा मेरा कोई नहीं। आप मेरे हैं तो फिर सब कुछ मेरा है। हे प्रभो! मैं तो आपहीको चाहता हूँ, और कुछ भी नहीं। आप महान्-से-महान् हैं, परम कृपालु हैं। मुझे आपहीसे शान्ति मिलेगी। मुझे अपनेसे जरा भी अलग न करिये। मेरे सामने अपने सिवा और किसीको न आने दें।' प्रभुने आशीर्वाद दिया--'जो इच्छा मेरी है वही तेरी भी हो।'

“इस प्रकार उसने मुझे ' अपना' बना लिया।

“मैंने ऐसी जीभ पा ली थी जो अभेदके सिवा कुछ नहीं बोलती थी। मेरी जीभ उसकी प्रशंसा करनेमें, मेरा हृदय और मेरी आँखें उसके अवर्णनीय सौन्दर्यको देखनेमें मशगूल थे। मैं उसीके सहारे जीता हूँ। मेरी जिह्वा उसी अभेदकी जिह्वा बन गयी।

“हे प्रभु! मैं आपसे प्रेम करूँ, इसमें तो अचरजकी बात ही कौन-सी है? कारण, मैं ठहरा दास, दुर्बल, दीन, हीन और भिक्षुक। अचरज तो इसमें है कि प्रभु सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अपार, ऐश्वर्यसम्पन्न होकर भी मुझे प्यार करते हैं।"

बायजीदका सारा जीवन ही तपस्यापूर्ण और प्रभुमय था। उनके उपदेश भी बड़े ही अनमोल हँ मनुष्यका सच्चा कर्तव्य क्या है? ईश्वरके सिवा किसी दूसरी चीजसे प्रीति न जोड़ना। ईश्वरकी कृपाके बिना मनुष्यके प्रयत्नसे कुछ भी नहीं मिल सकता। ईश्वरके गुणोंका अपनेमें आरोप करनेवाला योगी अधम है। जो ईश्वरको जानता है वह ईश्वरको छोड़कर और किसी बातकी चर्चा ही नहीं करता। जो ईश्वरके नजदीक आ गया उसे किस बातकी कमी?

सभी पदार्थ और सारी सम्पत्ति उसीकी है, क्योंकि उसका वह परम प्रिय सखा सर्वव्यापी और सारी सम्पत्तिका स्वामी है। जिस तपस्यामें ' में करता हूँ" ऐसा अहंभाव नहीं है वही सच्ची

तपस्या है । जल्लालुद्दीन रूमी अनन्त प्रेम और अनन्त सौन्दर्यके सच्चे उपासक जल्लालुद्दीन रूमीका स्थान सूफी संतोंमें विशिष्ट है। उन्होंने अपने 'मसनवी' में सूफी साधनाकी बहुत व्याख्या की है। सूफीधर्मको बतलानेवाली इससे बढ़   कोई पुस्तक नहीं है। सूफियोंमें जो दो मार्ग हैंवेदान्तमार्ग और भक्तिमार्ग-उनमें रूमी भक्तिमार्गी थे। समस्त सत्ताके केन्द्रमै उसके प्राणस्वरूप ईश्वर है | वह निखिल प्रेम और निखिल सौन्दर्यका समुद्र है ।

सृष्टिके कण-कणमें उसीका सौन्दर्य झलक रहा है । आवरणके कारण ही मनुष्यका देवत्व ढका हुआ है। देवत्वकी चिनगारी प्राणिमात्रमें विद्यमान है । परमानन्दकी स्थितिमें अन्धकारका आवरण हट जाता है, अन्तर आलोकमय हो जाता है और तभी भगवत्साक्षात्कार होता है । नरक अथवा अज्ञानकी तो कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, वह सत्यरूपी सूर्यके उगनेपर स्वयं लुप्त हो जाता है । सभी कुछ मिट जानेपर भी अन्तमें प्रभु रहता है। वही हमारा सर्वस्व है।

ऐसा कहा जाता है कि जब रूमी अपने ये भावभरे पद लिखते थे तो पासके लोग “हाल' या मूर्च्छाकी दशामें हो जाते थे। सूफी साधनामें रूमीने संगीत और नृत्य-आनन्दकी दो अभिव्यक्तियोंको प्रचलित किया।

हाफिज

प्रेममार्गी सूफी संतोंमें हाफिजका नाम बहुत

सम्मानके साथ लिया जाता है। इनके जनतापर बड़ा प्रभाव पड़ा। ये हृदयप्रधान संत थे और इसी कारण इनके हृदयसे निकले हुए उदगारोंने सभीके हृदयको स्पर्श किया। हाफिजने इसी बातपर जोर दिया कि विधि-विधानके सारे जालको छिन्न-भिन्न कर मन, बुद्धि, चित्त और प्राणको प्रभुमें एकनिष्ठ होकर अर्पित करे। सर्वार्पणकी प्रक्रियामें अपने आध्यात्मिक गुरुसे मार्ग पूछे और उसीका अनुकरण करे। हाफिजके

उपदेशोंका सारांश यही है कि संसारके समस्त रागद्वेषको मिटाकर मनुष्य प्रभुप्रेम और हृदयकी सच्ची प्रार्थनाकी साधना करे। फारसके घर-घरमें हाफिजके उपदेशोंका बहुत अधिक आदर हुआ। सादी

सादीको "फारसका बुलबुल' कहते हैं। प्रथम तीस वर्ष इन्होंने धर्मग्रन्थोंके अध्ययनमें लगाये, शेष चालीस वर्ष तीर्थाटन और धर्मोपदेशमें। भारतवर्ष, मिश्र आदि देशोंमें भ्रमण करके संतोंका सत्संग किया और ज्ञान प्राप्त किया। इनके उपदेशोंमें "सदाचार' पर विशेष जोर दिया गया है। किसी भी सांसारिक पदार्थके लिये कभी इन्होंने प्रभुसे याचना नहीं की । भक्ति, ज्ञान और सदाचारसे पूर्ण सादीका जीवन एक आदर्श संतजीवन था।

महर्षि मेतार्य

(लेखक--श्रीऋषभदासजी वी० जैन)

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्॥

वास्तवमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग और ब्रह्मचर्य ही संसारके सारे धर्मोंकी नींव हैं। जैनधर्मने भी इन पाँचों सिद्धान्तोंको चरम सीमातक स्वीकार किया है और तदनुयायी अनेक संत-महात्माओंने इनका पालन करनेमें अपने प्राणोंतककी परवा नहीं की है। भगवान् श्रीमहावीरके अनुयायी महर्षि मेतार्य भी ऐसे ही संतमहात्माओंमें थे। उनका जन्म एक शूद्रकुलमें हुआ था, तथापि बाल्यकालसे ही संस्कारी होनेके कारण घरसे विरक्त होकर वनखण्डोंमें घोर तपश्चर्यद्वारा उन्होंने सिद्धिलाभ किया था। उनके आदर्श और पवित्र जीवनकी केवल एक घटना यहाँ दी जाती है।

ग्रीष्म ऋतुका मध्याहकाल था। महर्षि मेतार्य एक मासके उपवासका ब्रत पूरा करके भिक्षाके लिये मगधदेशकी राजधानी राजगृहमें एक सुवर्णकार (सोनार)के द्वारपर खड़े थे। सुवर्णकार किसी सुन्दर आभूषणको तैयार

करनेके लिये सोनेके छोटे-छोटे गोल-गोल दाने बनानेमें तन्मय हो रहा था। इतनेमें उसने अतिथिको द्वारपर खड़ा देखा। देखते ही वह सब कुछ वहीं छोड़छाड़कर अतिथिकी सेवाके लिये शुद्ध भिक्षाकी सामग्री लाने अपने भोजनगृहमें चला गया।

किन्तु जब वह घरसे बाहर निकला तब उसके बेशकीमती सोनेके सभी दाने गायब हो गये थे। बात यह हुई थी कि सामनेकी ही एक दीवालपर कोई पक्षी बैठा था। उसने सुवर्णकी उन गोलियोंको अन्नकण समझा और सुवर्णकारके हटते ही उड़कर उन्हें उदरस्थ कर गया। किन्तु सुवर्णकार इस बातको कैसे समझे। उसके मनमें द्वारस्थित साधुपर ही सन्देह हुआ। वह सोचने लगा कि 'अभी-अभी मैं भीतर गया हूँ।

इतनेहीमें कौन आ गया ? हो-न-हो इसी ढोंगी, पाखण्डी, पापात्मा साधुवेशधारीकी यह करतूत है। इसे अवश्य ही अपराधका दण्ड देना चाहिये।' ऐसा मनमें निश्चय करके सुवर्णकारने डाँटकर कहा--' अरे चोर! तूने मेरी जिन सुवर्ण-गोलियोंको चुराया है उन्हें वापस कर दे, वरना अभी मैं तुझको इसका दण्ड दूँगा।' इस बातको सुनकर महर्षि मेतार्यके मुखपर क्षणभरके लिये मुसकराहट दौड़ी गयी, परन्तु उन्होंने अपनेको सम्हाल लिया। वे धर्मसंकटमें पड़ गये। यदि पक्षीको अपराधी बतलाते हैं तो सुवर्णकारद्वारा उसकी हत्या होती है और इससे उनके अहिंसाव्रतपर आघात पहुँचता है।

यदि अपनेको निर्दोष बतलाते हैं तो सुवर्णकारके सामने स्वभावतः उस कथनकी कोई कीमत नहीं है। निदान महर्षि मेतार्य मौन ही रह गये। इसपर सुवर्णकारको और भी क्रोध आया और अब उसे पक्का विश्वास हो गया कि "इसी धूर्तकी सब कार्रवाई है।' निदान उस सुवर्णकारने महर्षि मेतार्यको पकड़कर पृथ्वीपर पटक दिया और मजबूत रस्सीसे उनके हाथ-पैर बाँध दिये। तत्पश्चात् अपराध स्वीकार करानेके लिये उसी चिलचिलाती हुई धूपमें उसने एक भीगी खालको महर्षिके मस्तकपर कसकर बाँध दिया।

पाठक जरा विचार करें, मध्याह्नकालकी प्रखर धूपमें महर्षि मेतार्यकी कैसी दुर्दशा हो रही थी। ज्योंज्यों खाल सूखती थी, त्यों-त्यों उनके मस्तककी नसें दबती जाती थीं। गर्मीके मारे आँखोंसे अग्निके स्फुलिंग निकलते थे। शरीरका चमड़ा जला जा रहा था, परन्तु फिर भी उन्होंने उफ़तक नहीं किया और न वे अपने दृढ़ विचारसे ही विचलित हुए। उनके हृदयमें परमशान्ति विराज रही थी। महीने भरके उपवाससे जीर्ण-शीर्ण हुए उनके शरीरमें किसी प्रकारके कष्टकी अनुभूति नहीं होती थी।

बल्कि उलटे उन्होंने उस सुवर्णकारको अपने उस अहिंसाब्रतके पालनमें सहायक समझा और भीतरही-भीतर उसका आभार मानने लगे। थोड़ी देर बाद महर्षि मेतार्य अपने मनोमन्दिरमे ब्रह्मका ध्यान करते हुए तल्लीन हो गये। उन्हें किसी प्रकारका बाह्यज्ञान न रहा। इतनेमें सुवर्णकारने देखा कि उसके सामनेकी दीवालपर बहुत पहलेसे जो पक्षी बैठा था, बह विष्ठाके द्वारा उन सुवर्ण-गोलियोंको नीचे गिरा रहा है।

यह देखकर उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। अब उसकी आँखें खुलीं । उसने दौड़कर महर्षि मेतार्यको बन्धनमुक्त किया और उनके चरणोंमें गिरकर अपने सारे अक्षम्य अपराधोंकी क्षमा माँगी। क्षमासिन्धु महर्षि मेतार्यके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं थी, उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उस सुवर्णका क्षमा कर दिया! किन्तु उसके थोड़ी ही देर बाद महर्षि | हो गये। धन्य हैं ऐसे करुणासिन्धु संत! धन्य हैं ऐसे मेतार्य उस भौतिक शरीरका परित्याग कर सतूचित्स्वरूप | अहिंसाब्रतपालक महात्मा।

नाथसम्प्रदायमें महासिद्ध

(श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी और गोरखनाथजी) (लेखक-स्वामीजी श्रीमौक्तिकनाथजी)

यों तो सभी देवता, राजा-महाराजा, गुरु, आचार्य, तथा अपने गृहका स्वामी भी 'नाथ' शब्दसे व्यवहत हो सकते हैं, परन्तु वास्तवमें 'नाथ' शब्दका प्रयोग केवल विश्वपति भोले भण्डारी सदाशिव श्रीआदिनाथ महादेवके साथ ही सुशोभित होता है। आप सदा एकरसमें रहते हैं, आजतक आपके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। आपका तो"महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः कपालं चेति।' बस यही सनातनी पुराना ठाट चला आ रहा है। न आपकी माता हैं, न पिता। न बाबा हैं, न परबाबा। सारे जगन्मण्डलके आप ही पूज्य प्रपितामह हैं। अतएव आत्मबोधोपनिषद्में आपकी महिमा इस प्रकार गायी गयी है— ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः। बुदबुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा॥ (मं० १४) अर्थात् जैसे समुद्रमें बुद्बुदादि तरंगोंक विकार अपने-आप ही उत्पन्न होकर उसीमें लीन होते

रहते हैं, उसी प्रकार उस आदिनाथ-समुद्रसे ब्रह्मादि कीटपर्यन्त जीव उत्पन्न होकर फिर उसी आदिनाथ-महासागरमें लीन होते रहते हैं।

श्रीसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथजी नाथयोगसम्प्रदायके आदि आचार्य श्रीआदिनाथ भगवान् विश्वेश्वर ही हैं। आपसे ही नाथसम्प्रदायका प्रादुर्भाव हुआ है । श्रीसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथजीको आपसे ही योगदीक्षा मिली है। श्रीमतस्येन्द्रनाथजीके प्रादुर्भावकी कथा "स्कन्दपुराण नागरखण्ड २६२ अध्यायमें' तथा नारदपुराण उत्तरभाग बसुमोहिनीसंवादके ६९ अध्यायमें बड़ी रोचकतापूर्वक लिखी गयी है ।

पूर्वोक्त पुराणोंमेंमत्स्यनाथ, मत्त्येन्द्रनाथ, मीननाथ, सिद्धनाथ, अखिलसिद्धनाथ, आर्यावलोकितेश्वर इत्यादि आपके ही शुभ नामोंका उल्लेख है । 'शक्तिसंगमतन्त्र' में नैपाल देशकी भूरि-भूरि स्तुति की गयी है। नैपालराज्यके अधिष्ठातृ देवता श्रीगुरु मत्स्येद्रनाथजी हैं। वहाँ घरघरमें आपकी मूर्तिकी पूजा हुआ करती है। श्रीगुरु मत्स्यन्द्रनाथजी अपने भक्त आर्योको सर्वदा योगोपदेश करते थे। अतएव आपका शुभ नाम ' आर्यावलोकितेश्वर ' अर्थात् आयासे अवलोकित याने साक्षात् ईश्वर यानी ब्रह्म ही हो जाता है।

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

श्रीगुरु गोरक्षनाथजी योगमौक्तिकविचारसागरमें लिखा है-आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः। मत्स्येन्द्र तमहं वन्दे महासिद्धं जगदगुरुम्॥

इस पद्यसे नाथसम्प्रदायकी परम्पराका पता लगता है। गुरु गोरखनाथजीके अवतारकी कथा स्कन्दपुराणानतर्गत ' भक्तिविलास' के ५१-५२ अध्यायमें सांगोपांगरूपसे वर्णित है। आप हठयोगके आचार्य हैं, आपने अनेक राजों-महाराजोंको योगदीक्षा देकर इस दुःखमय भवसागरसे उबारकर परमपदके भागी बना दिया है। आज भी समूचा नैपालराज्य आपका साक्षात् पशुपतिनाथजीके सदृश गौरव कर रहा है।

भोगमती, भातगाँव, मृगस्थली, डांगडौखरी, चौघरा, स्वारीकोट, पिउठान, पाटेश्वरी, गोरखपुर इत्यादि स्थानोंमें आपके बड़े-बड़े योगाश्रम हैं। नैपालकी

स्वर्णमुद्रा तथा रजतमुदरामें, जिसको मुहर भी कहते हैं, आपका परमपावन नाम अंकित रहता है। आप संस्कृतविद्याके प्रौढ़ विद्वान् थे, 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', *विवेकमार्तण्ड', *गोरक्षसंहिता', ' दततगोरक्षगोष्ठी ' इत्यादि अनेक योगशास्त्र अद्यापि आपकी गुणगरिमाकी महिमा गा रहे हँ ।

समाधीयते मनोऽस्मिन्निति समाधिः।

इस व्यत्पत्तिसे समाधि शब्द भी ईश्वरका वाचक हे, और 'ते समाधावुपसगा व्युत्थाने सिद्धयः' इस न्यायसे प्राय: योगसिद्धियाँ समाधिसाधनामें विघ्तरूपा हुआ ही करती हैं । परमसिद्ध महात्मा पूज्यचरण जीवनमें भी एक बार सिद्धियोंने अपना रंग जमाया। उनके हृदयमें अकस्मात् अभिमानका अंकुर पैदा गया कि “मैंने बड़ी योगसाधना की, अतः मैं श्रीगुरु मत्स्येन्द्रनाथजीसे भी योगकलामें बढा-चढा हूँ।'

भी ताड़ गये कि गोरखको अभिमान हो गया है, आप बोले कि 'प्यारे गोरख! अब हम कुछ दिनके लिये इस बाह्य जगत्को छोड़कर अन्तर्जगत्में निवास करेंगे, तबतक तुम हमारे इस स्थूल शरीरको सावधानीसे रखना।' ऐसा कहकर गुरुजीका अन्तरात्मा हंस इस स्थूल पिंजरेको छोड़कर न जाने कहाँ उड़ चला।

कई वर्षो बाद यह होहल्ला मचा कि ' मत्स्येन्द्रयोगी तो भोगी बन गये, न आपके कानोंमें ज्ञानमुद्राएँ हैं, न गलेमें नादी। न खप्पर है, न चिमटा। आप सदा संगलद्वीपकी मनमोहिनी पद्मिनियोंक साथ कल्लोलमें निमग्न हैं। दिन-रात आपके राजभवनमें खेल-तमाशे और नाचरंग होते रहते हैं।' गोरखको कुछ क्रोध आया, फिर कुछ संकोच! फिर उन्होंने विचारा--' चाहे मत्स्येन्द्र भोगी होकर योगभ्रष्ट हो गये हों तो भी मेरा गुरुका नाता तो है ही। अगर आप योगाश्रम श्रीमत्स्येन्द्रवणीमें न आये तो मेरी भी साधुसमुदायमें खिल्ली उड़ेगी।'

गोरखनाथजी गुरुको लाने चले!

गोरख--अरे भाई! आप कौन हैं?

रासधारी-हम रासधारी हैं, संगलह्वीपमें श्रीमहाराजाधिराज १०८ मत्स्येन्द्रनाथजीके दरबारमें जा रहे हैं।

गोरक्ष--तो क्या उस राजाके यहाँ कोई मेला है?

रासधारी-(मन-ही-मन) मालूम पड़ता है यह कोई ग्रामीण गाँवडिया फकीर है। (प्रकट) अरे भाई! तुम्हारा दिमाग दुरुस्त तो है न? जानते नहीं, उस दरबारमें तो नित्य ही उत्सव-मेला रहता है, बड़े-बड़े गुणियोंके रागरंग दिन-रात ही चलते हैं।

गोरक्ष--तो क्या आप मुझे भी अपने साथ ले सकते हैं?

रासधारी--वाह-वाह अच्छी रही, ' छप्परपर घास नहीं, और रंगमहलके गीत।'

मैनेजर (रासमण्डलीका मैनेजर विचारशील था, बोला) बाबा! हमारे साथ जानेमें तो कुछ हर्ज नहीं, पर आपको गाने-बजानेका कुछ ज्ञान होना चाहिये।

गोरक्ष--और तो मैं कुछ जानता ही नहीं, हाँ, तबले तो खासे बजा दूँगा ।

मैनेजर--अच्छा तो लीजिये तबले ही बजाइये।

गोरखनाथजी तबले बजाने लगे और मंडलीवाले गाने लगे। योगकलाधारी श्रीगुरु गोरखनाथजीने ऐसा तबला धमकाया कि मंडलीवालोंके होश ठिकाने आ गये और वे धन्य-धन्य करने लगे।

आज संगलद्वीपके दरबारमें गायन आरम्भ हुआ है। तरह-तरहके दरबारी राग-रागिनियाँ, दादरे, ठुमरी, कजरी तथा पहाड़ी झंझोटियोंकी झडी लग गयी है। लीजिये, अब गोरखका नम्बर आ गया, योगकलाधारी श्रीगोरखनाथजीने ज्यों ही तबलोंपर हाथ जमाया कि अपने-आप तबलोंमेंसे “जाग मछन्दर गोरख आया, जाग मछन्दर गोरख आया' की ध्वनि आने लगी। अब तो भेद खुल गया, मत्स्येन्धनाथ ताड़ गये कि यह लीला गोरखनाथकी है। आप बोले 'गोरखनाथ! इधर कैसे आ गये?!

गोरक्ष--आपका आदेश था कि 'हम कुछ दिनोंके लिये इस बाह्य जगत्को छोड़कर, अन्तर्जगत्में विश्राम करेंगे। यह अच्छा विश्राम हुआ ?' मत्स्येन्द्र (मनमें) इसका अभिमान अभी चूर नहीं हुआ, इसको यही पता नहीं कि 'कायनिर्माणकला' किसे कहते हैं, जैसे ऋग्वेदमें लिखा है कि इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश। अर्थात् इन्द्रः=सच्चिदानन्द परमात्मा, अपनी योगमाया शक्तिद्वारा अनेक प्रकारके अनेक शरीरोंकी रचनाकर अपने भक्तोंके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं, इसी प्रकार

अझिमाद्यैश्वर्यसम्पन्न योगिराज भी अपने कायव्यूहकी रचना कर सकता है। महाभारतमें स्पष्ट लिखा है-आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ प्रानुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥ अर्थात् हे भरतर्षभ! युधिष्ठिर! अणिमादिसिद्धिसम्पन्न योगीश्वर (कायनिर्माण-योगकलाद्वारा) अपने एक आत्मासे ही अनेक शरीरोंकी रचना कर लेता है। उन विभिन्न शरीरोंमेंसे कोई तो राज्यादि विषयोंमें ही उलझ जाते हैं, और कोई तपादि साधनाओंमें ही तत्पर हो जाते हैं।

जब इस योगीके मनमें कुछ तरंग उठ खड़ा होता है तो जैसे सूर्यभगवान् अपनी रश्मियोंको इकट्टाकर अस्ताचल पहाड्के उस पार छिप जाते हैं, वैसे ही योगी भी अनेक शरीरोंसे एक बनकर चुपकेसे किसी निर्जन कन्दराकी गुफामें निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जाता है। मत्स्येन्द्र-अब तुम क्या चाहते हो?
गोरक्ष--आप अपने योगाश्रमको पधारिये । क्योंकि "तुम्हारे गुरु तो संगलद्वीपमें राजभोगोंमें लट्टू हो रहे हैं, और तुम यहाँपर योगसिद्धियाँ भँगारते हो '। ऐसी-ऐसी बातें मुझे सुननी पड़ती हैं।

मत्स्येन्द्र-(मनमें मुसकराकर) अच्छा तो योगाश्रमको ही चल पड़ते हैं।

गोरखनाथ अपने मनमें फूले नहीं समाते, अजी कहाँ मत्स्येन्द्रवणीका योगाश्रम, और कहाँ संगलद्वीप। रासमण्डलीवालोंके तबले तक छेतने पड़े। खैर, जो कुछ भी हुआ आखिर बाजी तो जीत ही ली। (आगे देखकर) अहह ! गुरुजी कहाँ चले गये ? झोली-चिमटा तो यहाँ पड़ा है, हाँ हाँ-ठीक है, मालूम होता है आप अपनी पिछली करतूतोंसे लज्जित होकर चुपकेसे चम्पत हो गये। अरे रे गुरुभाइयो! उठो-उठो, जल्दी उठो,गुरुजीको ढूँढे। तुम्हें पता भी है मुझे कितनी दौड़-धूप करनी पड़ी?

गुरुभाई--अजी नाथजी! आज आपको क्या हो गया? कहीं गहरी छन गयी क्या? श्रीगुरु मत्स्येन्द्रजी तो गोदावरीके कुंभसे ही इस बाह्यजगत्से नाता तोड़कर निर्विकल्प समाधिद्वारा अन्तर्जगतमें संलीन हैं। आप भँवरगुफामें जाकर श्रीगुरुमूर्तिके दर्शन तो कौजिये।

गोरक्ष--हा हा! आज मुझे क्या हो गया? क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ?

गुरुभाई-स्वप्न नहीं, यह तो श्रीगुरु महाराजकी कृपा है। आपमें यह अहंकार छा गया था कि-- मैंने बड़ी योगसाधना की, अत: मैं श्रीगुरु

मतस्येन्द्रनाथजीसे भी योगकलामें बढा-चढा हूँ” बस, इसीका नाम “मायामछन्दर' है।

गोरखनाथजी महासिद्ध हैं और अजर-अमर हैं।

आदिगुरु और श्रीहरिनाथ

मराठी भाषाके आदिकवि और संत श्रीमुकुन्दराजने अपने विवेकसिन्धु ग्रन्थमें (रचनाकाल संवत् १२४७) अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार बतायी है--

आदिगुरु श्रीआदिनाथ । तेथूति श्रीहरिनाथ॥ तयाचा शिष्य श्रीरघुनाथ । जो गुणसिन्धु॥

अर्थात् श्रीमुकुन्दराजके गुरु श्रीरघुनाथ, श्रीरघुनाथके गुरु श्रीहरिनाथ और श्रीहरिनाथके गुरु आदिगुरु स्वयं श्रीशंकर थे। श्रीहरिनाथ इस प्रकार श्रीमुकुन्दराजके दादागुरु थे। मध्यप्रदेशमें वैन गंगा नदीके तटपर अम्भोर या अम्बानगर है, वहीं श्रीहरिनाथका जन्म हुआ। यहाँ उपनयन-संस्कार और फिर वेदाध्ययन हुआ। वेदाध्ययन पूर्ण करके श्रीहरिनाथ काशी गये।

वहाँ उन्होंने पाशुपत महाव्रत करके आदिगुरु श्रीशंकरको प्रसन्न किया और पीछे अति कठोर अनुष्ठान करके महाकुण्डमें हवन आरम्भ किया। पूर्णाहुतिके समय घृतधाराके साथ स्वयं ज्योति प्रकट हुई, उस ज्योतिसे करुणासिन्धु शंभु आविर्भूत हुए और उन्होंने श्रीहरिनाथको अपने हृदयसे लगा लिया-कुछ कालतक 'सुख-महासुख' के उस गंगासागरमें भकत और भगवान् एक हो गये। पीछे भगवान् श्रीशंकरने श्रीहरिनाथसे कहा, “वर माँगो'। श्रीहरिनाथने तुरन्त यह वर माँगा, 'हे कैवल्यदानी! अपना प्रेम दीजिये।' और भव और भवानी दोनोंकी

एक साथ स्तुति करके कहा, “संसारके इस घोर बन्धनमें जो पडे हुए हैं, जिन्हें अपना होश नहीं, उन्हे हे करुणानिधे! आप तारिये।' भगवान् शंकरने

कहा, “यह तुमने क्या माँगा, यह तो सिद्ध ही है। मैं तुम्हें एक और वरप्रसाद देता हूँ--जो लोग तुम्हारे सम्प्रदायका आश्रय करेंगे उन्हें अनायास ज्ञान लाभ होगा।' श्रीसदाशिवके प्रसादसे श्रीहरिनाथके शरीरमें “शाम्भव तेज” समाया और तब श्रीहरिनाथको ब्रह्मसुखकी वह समाधि लगी जिससे बाईस दिनतक व्युत्थान ही न हुआ।

इस समाधिसुखानुभवके पश्चात् उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी कि "जडवत् आचरण करते, पिशाचवत् खेलते, निजानन्दमें झूमते रहते। फिसलते हुए चलते, भूलतेभुलाते हुए बोलते, बिना कारण हँसते रहते। उनकी कर्मवासना समाप्त हुई, इच्छा विवेकमें समा गयी, दृष्टि पूर्ण हो गयी। नहाना-धोना, खाना-पीना, वस्त्र पहनना यह सब दूसरोंके अधीन हो गया; किसीसे किसी बातका कोई मतलब ही न रहा।' इस प्रकार वे पूर्णत्वको प्राप्त हुए। उनके असंख्य शिष्य हुए। पर पूर्ण कृपा उनकी श्रीरघुनाथपर ही थी। श्रीरघुनाथ

श्रीरघुनाथ श्रीमुकुन्दराजके गुरु थे। ये अठारह दिन उन्मनी अवस्थामें थे। इनकी सब मनोवृत्तियाँ शान्त हो गयी थीं। श्रीमुकुन्दराज कहते हैं कि “ये ऊर्मिरहित ज्ञानसमुद्र थे। मेघधाराओंकी गणना हो सकती है, पृथ्वीके परमाणु परिगणित हो सकते हैं, पर मेरे श्रीरघुनाथके गुणोंका सम्पूर्ण वर्णन शेषनाग भी नहीं कर सकते '। श्रीमुकुन्दराज श्रीमुकुन्दराजका जन्म शाके १०५० (अर्थात् संवत् ११८५)में हुआ । इन्होंने अपनी वयस्के ६०वें वर्षमे “विवेकसिन्धु' नामक ग्रन्थ लिखा जो मराठी साहित्यका आद्य ग्रन्थ माना जाता है।

इस ग्रन्थकी उत्पत्तिके विषयमें एक बड़ी विलक्षण कथा प्रसिद्ध है। ग्रन्थके पूर्वार्डके अन्तमें यह लिखा है कि नृसिंह बल्लालके पुत्र जयंतपालने यह ग्रन्थ निर्माण करनेका प्रसंग उपस्थित कराया। ये जयंत उस समयके राजा थे और जो कोई विद्वान्, शास्त्री, पण्डित अथवा साधु-महात्मा दैवक्रमसे उनके राजमें आ जाते उन्हें वे अपने दरबारमें बुलाकर, बस, यही प्रश्न किया करते थे कि, 'आपलोग ब्रह्मज्ञाककी बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं, पर क्या आपने ब्रह्मका साक्षात्कार किया है और यदि किया है तो क्या वैसा साक्षात्कार आप मुझे करा सकते हैं?'

केवल शब्दज्ञानी बेचारे इस प्रश्नका क्या उत्तर देते। राजाके सिरपर कुछ ऐसी सनक सवार थी कि प्रश्नका उत्तर न दे सकनेपर वे उन्हें कारागारमें ठूँस देते। हेतु यही था कि इस तरहसे कभी तो कोई ऐसे साक्षात्कारी महात्मा निकल आवेंगे जो साक्षात्कार करा देंगे। यह एक प्रकारकी विरोधभक्ति ही थी। ऐसे महात्मा ' चन्दनं न बने बने' के न्यायसे कहीं भी दुर्लभ ही होते हैं। अस्तु।

इस प्रकार ५००-६०० साधु-महात्मा राजा जयंतपालके कारागृहमें बन्दी होकर पड़े थे। यह बात जब श्रीमुकुन्दराजने सुनी तो उन्हें यह इच्छा हुई कि इन साधुओंको मुक्त किया जाय।

वे साक्षात्कारी तो थे ही, राजाके दरबारमें गये। राजाने उनसे भी वही प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया, "यदि तुम साक्षात्कार करना चाहते हो तो जहाँ कहो, वहीं साक्षात्कार करा दूँ।' यह कहकर उन्होंने राजासे कहकर अश्वशालासे एक घोड़ा मँगवाया। राजासे कहा इसपर चढ़ो। राजा चढ़नेको हुए, रिकाबीमें पैर रखा, त्यों ही मुकुन्दराजने राजाके सिरपर हाथ रखा, घोड़ेपर सवार होते ही राजाकों समाधि लग गयी।

तीन दिन और तीन रात राजा घोड़ेपर ही सवार रहे। समाधिसे व्युत्थान होनेपर अष्ट सात्त्विक भाव राजाके अंगोंपर उदय हुए, प्रेमाश्रुओंसे उन्होंने श्रीमुकुन्दराजके चरण धोये और उनके शरणागत हो गये। गुरुकी आज्ञासे राजाने सब साधुओंको कारागृहसे मुक्तकर वस्त्राभूषणादिसे उन्हें सम्मानित कर बिदा किया । इन्हीं राजा जयंतपालको पूर्ण बोध करानेके लिये श्रीमुकुन्दराजने यह ' विवेकसिन्धु' ग्रन्थ निर्माण किया, जिससे स्वयं मुकुन्दराज कहते हैं कि 'जगत् सुखी हुआ'।

श्रीमुकुन्दराजके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं-विवेकसिन्धु और परमामृत। दोनों 'ओवी' वृत्तमें हैं। १८ प्रकरण हैं और १६७१ ओवियाँ हैं। परमामृतके प्रकरण और ३०३ ओवियाँ हैं। दोनों अद्वैतवेदान्तपरक और स्वानुभवयुक्त हैं।

महाराष्ट्रमें नाथपन्थ

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ, श्रीगोरक्षनाथ आदि नाथ संप्रदायाचार्योंके अद्भुत कर्म और उपदेश भारतवर्षके आसेतु हिमाचल सभी प्रदेशोंमें विख्यात हैं और उनके मठमन्दिरादि स्मारक स्थान आज भी सभी प्रदेशोंमें विद्यमान हैं । यहाँ हमें केवल इतना ही निर्देशमात्र करना है कि महाराष्ट्रके साथ उनका किस प्रकारका सम्बन्ध था। मराठीके आदि कवि और संत श्रीमुकुन्दराजके भी पूर्व महाराष्ट्रमें नाथपन्थ ही सर्वमान्य था। महाराष्ट्रके ज्ञानसूर्य

श्रीनिवृत्तिनाथ ज्ञानेश्वर नाथपन्थसे ही दीक्षाप्राप्त हुए थे । श्रीज्ञानेश्वर महाराजके प्रपितामह त्र्यम्बक पन्तको संवत् १२६४ में कहते हैं कि, स्वयं श्रीगोरक्षनाथने दीक्षा दी थी। ये वे ही गोरक्षनाथ हैं जिन्होंने अवन्तिराज भर्तृहरिको दीक्षा दी या कोई दूसरे, इस प्रश्नका उत्तर ऐतिहासिक और संत-सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न प्रकारसे दे सकते हैं।

चांगदेव अपने योगबलसे १४०० वर्ष जीवित थे तो गोरक्षनाथ-जैसे महान् योगी कई शताब्दियोंतक इस भूमण्डलमें संचार करते रहे हों और आज भी संचार कर रहे हों तो योगकी अद्भुत सामर्थ्य और संतोंकी सिद्धस्थितिकी दृष्टिसि यह कोई अनहोनी बात नहीं है। त्र्यम्बक पन्तके उपरान्त उनके पुत्र अर्थात् श्रीज्ञानेश्वर महाराजके पितामहको श्रीगोरक्षनाथके शिष्य गैनीनाथसे दीक्षा मिली थी ।

इन्हीं श्रीगैनीनाथसे श्रीज्ञानेश्वर महाराजके ज्येष्ठ भ्राता श्रीनिवृत्तिनाथको उपदेश मिला और यही उपदेश श्रीनिवृत्तिनाथसे श्रीज्ञानेश्वरको प्राप्त हुआ। श्रीज्ञानेश्वरीमें श्रीमत्स्येन्द्रनाथका भी उल्लेख है, नासिक जिलेमें सप्तशृंगी पर्वतपर श्रीचौरंगीनाथ नामक कोई महात्मा हाथ-पैर कटे पडे थे। ज्ञानेश्वरीकार कहते हैं, “उन्हें हस्तपादादिक अंग देकर श्रीमत्स्येन्द्रनाथने पूर्णावयवी बनाया।'

नासिकमें त्र्यम्बकेश्वरके पिछवाड़े ब्रह्मगिरि पर्वतपर श्रीगोरक्षनाथकी गुहा है और इसी पर्वतकी परिक्रमाके रास्तेमें श्रीगैनीनाथका मठ है। नेवासा पर्वतपर श्रीगोरक्षनाथकी समाधि है और सातारा जिलेमें मत्स्येन्द्रगढ़पर श्रीमत्स्येन्द्रनाथकी समाधि है जहाँ वैशाख कृ० ५ को मस्स्येन्द्र-यात्रा हुआ करती है। इसी गढ़पर इमलीका एक पेड़ है जिसे गोरख-इमली कहते हैं। कच्हाडमें ज्वारको 'मत्स्येन्द्र शाल' कहते हैं।

इन बातोंसे यह मालूम होता है कि महाराष्ट्रमें श्रीमत्स्येन्द्रनाथ और श्रीगोरक्षनाथने बहुत कालतक निवास किया था, वहाँ उन्होंने अनेक चरित्र किये थे और अपना सम्प्रदाय चलाकर जगदुद्धारका महान् कार्य किया था। श्रीगोरक्षनाथके मराठी भाषामें भी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, एक ' अमरनाथ-संवाद' और दूसरा 'गोरक्षगीता' |

'विषयविध्वंसैकवीर', * योगान्जिनीसरोवर ' आदि विशेषणोंसे श्रीगोरक्षनाथकी स्तुति श्रीज्ञानेश्वर महाराजने की है और यह कहा है कि कलिग्रस्त लोगोंके उद्धारके लिये श्रीगोरक्षनाथने आदिनाथ श्रीशंकरसे प्राप्त 'शाम्भव अद्वयानन्द वैभव' श्रीगैनीनाथको दिया और श्रीगैनीनाथने

श्रीनिवृत्तिनाथको; और श्रीनिवृत्तिनाथसे वह मुझे प्राप्त हुआ। श्रीगैनीनाथ श्रीगैनीनाथ नासिकके ब्रह्मगिरिकी परिक्रमाके रास्तेपर अपने मठमें रहते थे, जब श्रीनिवृत्तिनाथ सिर्फ सात वर्षके बालक थे, ये उन दिनों अपने माता-पिता और छोटे भाई-बहिनके साथ त्र्यम्बकेश्वर क्षेत्रमें ही रहते थे। रातका समय था। ये सभी ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करने जा रहे थे। रास्तेमें सामने एक बाघ गरजता हुआ आ निकला। इनके पिता घबराये हुए बच्चोंको सम्हालने और निकल भागनेका रास्ता ढूँढ़ने लगे। और सबको तो पिता कुशलपूर्वक घर ले आये पर निवृत्तिनाथ इसी बीच वहाँसे दौड़ते-हाँफते हुए जो भागे सो न जाने कहाँ निकल गये। भटकतेअज्जनी-पर्वतकी एक गुफामें घुसे।

देखा, तीन साथ भीतर ध्यान लगाये बैठे हैं। एक कुछ ऊँचे-से आसनपर हैं, और दो नीचे हैं। ये कोई महात्मा होंगे, ये दोनों उनके शिष्य। इनके सीसपर जटा है, कानोंमें कुण्डल हैं, कंठमें सेली है और हाथमें सिंगी और पुंगी। हुए निवृत्तिनाथ सीधे इन महात्माके चरणोंमें जाकर लोट गये। वे महात्मा श्रीगैनीनाथ थे, उन्होंने बालकका मुख निहारा और सिद्धोंक सब लक्षण देखकर बडे प्रस हुए। श्रीगैनीनाथने सात दिन इन्हें अपने पास ही रखा और महावाक्यका उपदेश करके और योगमार्गकी तथा भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति देकर बिदा किया चलते समय श्रीगुरु गैनीनाथने श्रीनिवृत्तिनाथको इतना |

समीप हैं, सन्देह छोड़कर देखो, आत्मनिष्ठा अखण्ड और उपदेश दिया कि, 'देखो, यदि आकाश भी | बनाये रहो और श्रीकृष्णरूपमें रमो।' श्रीनिवृत्तिनाथने तड़तड़ा पड़े और मेरु कड्कड़ा उठे तो भी आत्मसुखके | एक अभंगमें कहा है कि श्रीगैनीनाथने हमें जो ' सम्यक् आस्वादनसे कभी विरत मत होना। भगवान् अत्यन्त | अनन्यता दी' उससे हमारा कुल पवित्र हो गया।

महानुभावपन्थके संत श्रीगोविन्द प्रभु

विक्रमी संवत् १२४५ के लगभग विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रदेशमें ऋद्धिपुर स्थानके समीप काठसुरे ग्राममें श्रीगोविन्द प्रभु उर्फ गुण्डम प्रभु या गुण्डोबाका जन्म हुआ। ये काण्वशाखीय ब्राह्मण थे। बचपनमें इनके माता-पिता परलोकवासी हुए, तब इनकी मौसी इन्हे ऋद्धिपुर ले आयीं और यहीं इनका पालन-पोषण, उपनयन तथा विद्याध्ययन हुआ। इसी अवस्थामें

इन्हे परमार्थसुखका चसका लगा और क्रमश: उस सुखानुभवकी वृद्धि होती गयी और ये सिद्ध कोटिको प्राप्त हुए। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। पण्ढरपुरके वारकरी भागवतपन्थके साथ-साथ या उससे कुछ पहले ही विदर्भ देशमें जो महानुभावपन्थ उदय हुआ था, उसके ये ही आद्य पुरुष थे। संवत् १३४२ में ये समाधिस्थ हुए।

श्रीचक्र धर

श्रीगोविन्द प्रभुके शिष्य श्रीचक्रधर हुए जो महानुभावपन्थके प्रवर्तक कहे जाते हैं। ये गुजरातसे विदर्भ देशमें आये थे। गुजरातके भड़ौंच प्रान्तके राजा मल्लदेवके प्रधान मन्त्री विशालदेव नामक कोई नागर ब्राह्मण थे जिनके ये चक्रधर पुत्र हैं। राजा मल्लदेवके कोई सन्तान नहीं थी, इस कारण मृत्युसमयमें उन्होंने अपना राज विशालदेवको दिया। विशालदेवके पुत्र हरिपाल (ये ही बाद चक्रधर हुए) बड़े पराक्रमी थे।

पिताके राजत्वमें तथा उसके पश्चात् इन्होंने कई लड़ाइयाँ जीतीं। इनके दो-तीन विवाह भी हुए थे। इन्होंने बड़ा ऐश्वर्य भोगा, पर ऐसे ऐश्वर्य और विलासभोगसे इनका जी ऐसा उचटा कि माताकी आज्ञा लेकर ये रामटेककी यात्राके लिये जो निकले सो रास्तेमें ऋद्धिपुर आकर ठहर ही गये। वहाँ श्रीगोविन्द प्रभुके उन्हें दर्शन हुए, प्रभुके चरणोंमें इनकी निष्ठा हुई और सदाके लिये ये ऋद्धिपुरमें बस गये।

गोविन्द प्रभुका इनपर पूर्ण अनुग्रह हुआ और उन्होंने ही इनका साम्प्रदायिक नाम चक्रधर रखा। महानुभावपन्थमें चक्रधर श्रीकृष्णको कहते हैं। गुरुके समान चक्रधर भी दीर्घायु थे। श्रीचक्रधरका जन्म संवत् १२०८ में हुआ। संवत् १३२० में इन्हें भगवान् श्रीदत्तात्रेयका साक्षात्कार हुआ और तब इन्होंने संन्यासदीक्षा ली और ऋद्धिपुर लौटकर महानुभावपन्थकी स्थापना की। संवत् १३२० से १३२९ तक, इन ९ वर्षमें इनके इर्द-गिर्द ५०० शिष्य जमा हो गये, जिनमें तेरह स्त्रियाँ थीं।

इस पन्थके श्रीकृष्ण और श्रीदत्त दोनों ही उपास्य देव हुए। श्रीचक्रधरने इस पन्थको चलाकर जो लोकसंग्रह करना आरम्भ किया उसमें श्रीमद््भगवद्गीताके के 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्'

इस श्लोकार्धपर बड़ा जोर था। इसके आधारपर श्रीचक्रधरने स्त्रियों और शूद्रोंको संन्यास दिलाना आरम्भ किया। इससे उनका पन्थ लोकमें सर्वमान्य नहीं हुआ। संवत् १३२९ में श्रीचक्रधर बद्रीनारायणकी ओर गये और फिर नहीं लौटे। श्रीनागदेवाचार्य ्रीनागदेवाचार्य (संवत् १२९३-१३५९) श्रीचक्रधरके पट्टशिष्य थे। ये ही महानुभावपन्थके मुख्य प्रचारक हुए। कहते हैं, 'गोविन्द प्रभुका तप, चक्रधरकी वेधशक्ति और नागदेवकी संघटनशक्ति इन तीन शक्तियोंके एकीभूत होनेसे यह पन्थ खड़ा हुआ।' महानुभावपन्थका परिचय श्रीगोविन्द प्रभु, श्रीचक्रधर और श्रीनागदेवाचार्यमहानुभावपन्थके इन तीनों आचार्य महानुभावोंमेंसे किसीने भी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है।

श्रीचक्रधरके मुखसे समय-समयपर जो वचन निकले उनको उनके शिष्योंने संग्रहीत कर रखा है। चक्रधरके शिष्य महीन्द्र व्यास या मही भट्टने 'लीलाचरित्र' नामसे एक मराठी ग्रन्थ लिखा है जिसमें श्रीचक्रधरकी १५०० “लीलाएँ/ वर्णित हैं। इन लीलाप्रसंगोंमें श्रीचक्रधरके जो वचन आये हैं उन्हें ही एकत्र करके संवत् १३५५ में, केशवराज सूरिने इस सम्प्रदायका एक सूत्रग्रन्थ निर्माण किया जिसे “सिद्धान्तसूत्रपाठ' या ' आचार्यसूत्र' कहते हैं। महानुभावपन्थ इस ग्रन्थको आदि ग्रन्थ मानता है। इसमें १६०९ सूत्र हैं। इस आदि ग्रन्थके अतिरिक्त यह पन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत इन दो ग्रन्थोंको भी प्रमाण ग्रन्थ मानता है।

महानुभावपन्थके उपर्युक्त “आदि ग्रन्थ' के अनुसार चार युगोंके चार अवतार माने जाते हैं-कृतयुगमें हंसावतार, त्रेतामें दत्तावतार (दत्तका स्वरूप एकमुखी चतुर्भुज विष्णु), द्वापरमें द्वारकाधीश श्रीकृष्ण और कलियुगमें चक्रधर। श्रीचक्रधरके शिष्य उन्हें श्रीकृष्णस्वरूप ही मानते थे और शिष्योंके साथ गुरुका बर्ताव भी विलक्षण प्रेमका होता था। महानुभावपन्थमें स्त्री-पुरुष दोनोंको ही संन्यासदीक्षा दी जाती थी। स्त्रीके रहते पुरुषके समान ही पुरुषके रहते स्त्रीको भी इस पन्थमें संन्यास लेनेका अधिकार था।

कोई दामोदर पण्डित थे, उनकी पत्नी हिराम्बाको पतिसे पहले ही वैराग्य हुआ और उसने श्रीनागदेवाचार्यसे १३२६ में संन्यासदीक्षा ली। पति अब भी संसारमें ही अटके पड़े रहे। दो वर्ष बाद संन्यासिनीने अपने इन पूर्वपतिको समझाकर चेत दिलाया।

तब संवत् १३३१ में दामोदर पण्डितने भी संन्यासदीक्षा ली और पहलेके पति-पत्नी अब भाई-बहिनकी तरह रहने लगे। इस पन्थके लोग संवत् १४२० तक काषाय वस्त्र परिधान करते थे। पीछे मुसलमानोंके जमानेमें इन्होंने काले वस्त्र पहनना आरम्भ किया। काले वस्त्र पहननेके कारण ये 'शाहपोश'

कहाते थे और इन्हें जजिया कर मुआफ था। अब आजकल इन काले कपड़ोंको त्यागकर फिर काषाय वस्त्र पहननेका आन्दोलन इन लोगोंमें चला है। इस पन्थके ७ ग्रन्थ मुख्य हैं जो पूज्य माने जाते हैं(१) कवीश्वर भास्करकृत 'शिशुपालवध', (२) इन्हींका ' एकादश स्कन्ध' (ये दोनों ग्रन्थ यथाक्रम संवत् १३३० और १३३१ में लिखे गये), (३) दामोदर पण्डितकृत 'वत्सहरण' (संवत् १३३५), (४) नरेन्द्र 'कविकृत 'रुक्मिणीस्वयंवर' (संवत् १३४५), (५) विश्वनाथ बालापुरकरकृत 'ज्ञानबोध' (संवत् १३८८), (६) रवलोव्यासकृत 'सह्याद्रिवर्णन' (संवत् १३८९) और (७) नारोव्यासकृत ' ऋद्धपुरवर्णन' (संवत् १४२०) ।

ये सभी ग्रन्थ मराठीभाषामें हैं। पहले तीन श्रीकृष्णलीलापरक हैं और बाकी चार साम्प्रदायिक हैं। इनके अतिरिक्त "महदम्बाके धवले' नामसे कुछ मंगल गीत हैं । महदम्बा नागदेवाचार्यकी चचेरी बहिन थी और इन्हें स्वयं श्रीचक्रधरसे दीक्षा मिली थी। इनके दादागुरुने एक बार लीला करायी थी। उसमें महदम्बाने ये मंगलगीत गाये थे। महानुभावपन्थमें इन्हें लोग संत मानते हैं और वहाँ उनका वही मान है जो वारकरी भागवतपन्थमें जनाबाईका, जो इनकी समकालीन ही थीं ।

भावेव्यास नामक एक संत इसी समय और हो गये हैं जिन्होंने "पूजा अवसर' या ' श्रीचक्रधरकी ' नामक ग्रन्थ लिखा है। ये बडे ज्ञानी और विरक्त थे। नागदेवाचार्यके शिष्य केशवराज सूरिके अनेक ग्रन्थ हँ जिनमें 'सिद्धान्तसूत्रपाठ' और 'मूर्तिप्रकाश' विशेष प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्तसूत्रपाठमें, जैसा कि पहले लिख चुके हैं, श्रीचक्रधरके वचनोंका सुव्यवस्थित संग्रह है; और इस 'मूर्तिप्रकाश' ग्रन्थमें श्रीचक्रधरके रू गुणोंका वर्णन है।

श्रीविठ्ठलपन्त और रुक्मिणीबाई

पैठणसे चार कोस दूर, गोदावरीके उत्तर तटपर, आपेगाँव नामक एक ग्राम है। यहाँ तेरहवीं विक्रमी शताब्दीके आरम्भमें त्र्यम्बकपन्त नामक एक वत्सगोत्री ब्राह्मण रहते थे। देवगिरिके यादवराजकी ओरसे ये बीडदेशके देशाधिकारी थे, इनके समयमें एक बार तीन वर्षतक लगातार भयंकर अकाल पड़ा था। उस समय इन्होंने अपने पास जो कुछ धन-धान्य संचित था, सब

देकर दुर्भिक्षपीड़ितोंकी बड़ी सेवा की। इनके दो पुत्र थे, एक गोविन्दपन्त और दूसरे हरिपन्त। हरिपन्त देवगिरिके राजा सिंघणदेवके शत्रुओसे लड़ते हुए युद्धमें मारे गये और वीरगतिको प्राप्त हुए। पर इससे इन्हें संसारसे विराग हो गया और ये श्रीगोरखनाथकी शरणमें गये, जो उस समय तीर्थाटन करते हुए आपेगाँवमें पधारे थे।

श्रीगोरखनाथने इन्हें अपना शिष्य बनाया और इनपर पूर्ण अनुग्रह किया। इनके ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दपन्तके पचपनवें वर्षमें सहधर्मिणी निराबाईसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम विट्ठल रखा गया। विट्ठलका यथाकाल उपनयन हुआ, सम्पूर्ण सांग वेदाध्ययन हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने द्वारावती, सोमनाथ, पण्ढरपुर आदि तीर्थोंकी यात्रा की। यात्रा करते हुए ही आलंदी पहुँचे। यहाँ सिधोपन्त नामके कोई विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। वे इनकी विद्या, वैराग्य और तेजको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

उन्होंने अपनी बेटी इन्हें ब्याह दी। वधूका नाम रुक्मिणी रखा गया। विवाहके पश्चात् भी ये कई तीर्थोकी यात्रा कर आये, तब वधूको संग ले मातापिताके पास आपेगाँव लौटे। कुछ काल बाद ही मातापिता स्वर्गवासी हुए। तब श्वशुरके बहुत आग्रह करनेपर ये सस्त्रीक आलंदीमें ही रहने लगे। बचपनसे ही विट्ठलपन्त विरागी थे, उनका चित्त प्रपंचमें था ही नहीं।

अब तो उन्हें स्त्रीक साथ घर रहना भी मालूम होने लगा। स्त्रीकी अनुमतिके बिना संन्यास ले नहीं सकते थे। इसी अनुमतिका अवसर ढूँढ़ रहे थे। एक दिन रुक्मिणीबाई काम-काजमें कुछ व्यस्त थीं। अवसर जानकर कहा, मैं अब गंगास्नानके लिये जाना चाहता हूँ। रुक्मिणीबाईने "हो आइये न' कहकर 'जाइये' कहा। बस, जिस अनुमतिके लिये तरस रहे थे वह अनुमति मिल गयी और वे चल दिये! सीधे काशी पहुँचे। इधर रुक्मिणीबाई पछता-पछताकर रोने लगीं, पतिदेवकी उन्होंने बहुत खोज करायी। कहीं पता न चला।

विट्ठलपन्त काशीमें श्रीपाद स्वामीकी शरणमें जाकर संन्यासदीक्षा लेकर चैतन्याश्रम स्वामी बनकर बैठ गये। रुक्मिणीबाई पतिविरहसे जलने और पतिसेवाके लिये तड़पने लगीं। उन्हें पीछे खबर मिली कि पतिदेवने संन्यास ले लिया। तब उन्होंने घोर तप आरम्भ किया। कुछ काल बाद श्रीपाद स्वामी यात्रा करते हुए आलंदी पहुँचे। तब अन्यान्य दर्शनार्थियोंके समान ये भी उनके दर्शनको गयीं। इन्होंने उन्हें प्रणाम किया।

स्वामीजीने 'पुत्रवती' कहकर आशीर्वाद दिया। इसपर रुक्मिणीबाई हँस पड़ीं। हँसनेका कारण पूछनेपर उन्होंने अपना सब हाल कह सुनाया। श्रीपाद स्वामीने काशी लौटकर चैतन्याश्रम स्वामी विट्ठलपन्तको समझाकर आदेश किया कि ' अपने देशको लौट जाओ और पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार कर गृही बनकर रहो। यह भय मत करो कि ऐसा करना विधिविरुद्ध होगा। जाओ, यह भगवानका आदेश है; भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे ।' चैतन्याश्रम स्वामी संन्यासवेश उतारकर फिर विट्ठलपन्त हो गये और आलंदी लौट आये।

रुक्मिणीके आनन्दका वारापार न रहा, वैराग्य और तपसे विट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाईका दाम्पत्यप्रेम और भी पवित्र और उज्ज्वल होकर शुक्लेन्दुवत् वृद्धिंगत होने लगा। भगवान्के आदेशसे, गुरुकी आज्ञासे, यह जो कुछ हुआ ठीक ही हुआ; पर बात तो कुछ शास्त्रविरुद्ध हुई। इससे समाजने विट्ठलपन्त और उनके घरवालोंका बहिष्कार कर दिया। घरवाले भी समाजके भय या स्नेहसे एक-एक करके विट्ठलपन्तसे अलग हो गये। इसी अवस्थामें दो-दो वर्षके अन्तरसे इनके चार सन्तान हुई-निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ता ।

निवृत्तिनाथ जब सात वर्षके हुए तब माता-पिताको इनके उपनयनकी बड़ी चिन्ता हुई। विट्ठलपन्त अनेक शास्त्रज्ञोंके पास गये। पर संन्यास ले चुकनेपर पुन: गृहस्थ होनेवालेके सन्तानके उपनयनकी कोई विधि नहीं मिली। विट्ठलपन्त निराश हो गये। स्त्री-पुत्रोंको साथ ले त्र्यम्बकेश्वर गये। वहाँ उन्होंने ऐसा अनुष्ठान आरंभ किया कि मध्यरात्रिमें कुशावर्त तीर्थमें स्नान करते और फिर ब्रह्मगिरिकी पूरी सव्य परिक्रमा करते।

इसी परिक्रमाको करते हुए एक दिन बाघका सामना होनेपर निवृत्तिनाथ पितासे बिछुड़कर रास्ता भूलकर भटकते हुए श्रीगैनीनाथकी गुहामें पहुँचे और वहाँ श्रीगैनीनाथने उनपर अनुग्रह किया। अस्तु, श्रीविट्ठलपन्तको तो अन्तमें समाजसे यही व्यवस्था मिली कि संन्यासीसे पुनः गृहस्थ बननेका जो पाप है उसकी निष्कृति देहान्त-प्रायश्चित्तसे ही हो सकती है। विट्ठलपन्त इसके लिये भी तैयार हो गये।

सहधर्मिणी अद्‌भांगिनी रुक्मिणी भी उनके साथ हो गयीं और दोनोंने धर्मशास्त्रकी मर्यादाके लिये तथा पुत्र-पुत्रीके कल्याणके लिये अपने तपःपूत शरीर प्रयागराजमें त्रिवेणी-संगमको अर्पण करना निश्चय किया। वे चले गये और संगममें जलसमाधि ली।

जब विट्ठलपन्त और माता रुक्मिणीबाई चलनेको हुए तब इन बच्चोंकी ओर देखकर माता-पिताका, विशेषकर माताका अन्तःकरण जैसा द्रवीभूत हुआ होगा उसका वर्णन करनेकी अपेक्षा अनुमान कर लेना अधिक आसान है। माताका अपत्यस्नेह अनाथ बच्चोंकी ओर देख-देखकर जब मातृहृदयको विदीर्णकर दुर्निवार अश्रु प्रवाहरूपसे उमड़ पड़ा, तब श्रीनामदेव कहते हैं कि उस समय एक सिद्धपुरुष वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने श्रीरुक्मिणी माताको सान्त्वना देते हुए समझाया कि 'तुम्हारे ये बालक कोई सामान्य जीव नहीं हैं; शान्त हो, धीर हो इन्हें पहचानो। ये निवृत्तिनाथ त्रिपुरारि शंकर हैं, ज्ञानदेव विष्णु हैं, सोपान चतुर्मुख ब्रह्मा हैं और यह मुक्ता आदिमाया हैं। सर्वव्यापक ब्रह्म ही इन चार विभूतियोंके रूपमें मूर्तिमान् हुआ है।'

इन वचनोंसे माताके हृदयको शान्ति मिली। तब उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र निवृत्तिको उन सिद्धपुरुषके हाथोंमें सौंपा और ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताको निवृत्तिके हवाले किया और "मेरी मुक्ताको तुम संभालो' यह सबसे कहकर नेत्रॉमें अश्रु भरकर उन सिद्धपुरुषको उन्होंने प्रणाम किया और पतिके साथ विदा हो गयीं।

ये सिद्धपुरुष श्रीगैनीनाथ थे। इन्होंने श्रीनिवृत्तिनाथके मस्तकपर अपना हाथ रखा और उपदेश किया। फिर सद्गुरुके समक्ष ही श्रीनिवृत्तिनाथने अपने दोनों भाइयोंको और मुक्ताबाईको उपदेश किया। श्रीगैनीनाथने इन चारोंको पैठण भेज दिया और आप गुप्त हो गये। -

श्रीगुरु निवृत्तिनाथ

श्रीनिवृत्तिनाथ चारों भाई-बहिनोंमें सबसे बड़े थे। संवत् १३३० फाल्गुन कृ० १ को इनका जन्म हुआ। सात वर्षकी अवस्थामें पिताके साथ ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करते हुए, बाघका सामना होनेपर, घबराकर ये भागे थे और भूलते-भटकते श्रीगैनीनाथकी गुहामें पहुँचे थे। वहीं श्रीगैनीनाथसे इन्हें परम उपदेश प्राप्त हुआ। एक स्थलमें श्रीनिवृत्तिनाथने कहा है कि श्रीकृष्णभवितरसायन मुझे श्रीगुरु गैनीनाथसे प्राप्त हुआ और उसका गूढ़ रहस्य मुझे श्रीगोरखनाथने बताया। इससे यह मालूम होता है कि

श्रीनिवृत्तिनाथको भी परमगुरु श्रीगोरखनाथके दर्शन हुए थे या हुआ करते थे। श्रीनिवृत्तिनाथ अपनी अभंग वाणीमें कहते हैं-

"निवृत्तिनाथके ध्येय भगवान् श्रीकृष्ण हैं। श्रीगुरु गैनीनाथने यह ध्यान दिला दिया। इस श्रीकृष्णरूप ध्यानसे निवृत्तिनाथ सुखी और सम्पन्न हुआ, नाम लेनेसे श्रीगुरु गैनीनाथके साथ मैं तल्लीन हो जाता हूँ । गोकुलके श्रीकृष्ण निवृत्तिनाथके धन हैं जो श्रीगैनीनाथके साथ प्रेमसे झूमते रहते हैं। हमलोगोंका पूर्वपुण्य बड़ा प्रबल था जो श्रीगैनीनाथ हमें प्राप्त हुए और चन्द्र-सूर्य-किरण और आकाशके दिव्य अम्बर हम परिधान कर सके, पृथ्वीको अपनी चिरशय्या बना सके। "निज तेजबीजके अंकुरित हो आनेसे अब इस देहका भान नहीं होता, मोह और सन्देह न जाने कहाँ खो गये। विदेहगंगा चित्तसे उमड़ पड़ी और वृत्ति चिद्रूपमें निमज्जित हो गयी। हरि बिना जन-वन हमें कुछ नहीं सूझता, सदा सोलहों कलाओंसे परिपूर्ण पूर्णिमा ही भासती है।'

निवृत्तिनाथके चार सौ अभंग हैं, जिनमें कुछ योगविषयक, कुछ अद्वैतप्रतिपादक और कुछ श्रीकृष्ण भवितपरक हैं। श्रीकृष्णरूपका ध्यान करते हुए श्रीनिवृत्तिनाथ कहते हैं-"यह (श्रीकृष्ण) नाम उनका है जो अनन्त हैं, जिनका कोई संकेत नहीं मिलता, वेद भी जिनका पता लगाते थक जाते हैं और पार नहीं पाते, जिनमें सचराचर विश्व होता-जाता रहता है, वे ही अनमैयाकी गोदमें नन्हे-से कन्हैया बनकर खेल रहे हैं और भक्तजन उसका आनन्द बिना मूल्य ले रहे हैं।

ये हरि हैं जिनके घर सोलह सहस्त्र नारी हैं और जो स्वयं गौओंके चरानेवाले बालब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मत्वको प्राप्त योगियोंके ये ही परम धन हैं जो नन्दनिकेतनमें नृत्य कर रहे हैं।'ये ही पण्ढरीनाथ-पण्ढरपुरके श्रीविट्ठल हैं, जो महाभक्त पुण्डरीकके प्रेमपाशसे बँधे एक ईंटपर तबसे ज्यों-के-त्यों खड़े हैं। इनके मस्तकपर शिवजीकी पिंडी है। इस सम्बन्धमें श्रीनिवृत्तिनाथ कहते हैं, ' क्या सुन्दर सुकुमाररूप हैं, इनके इस सुन्दर गोपवेशकी महिमा

महेश वर्णन कर रहे हैं और इससे प्रसन्न होकर इन्होंने उन्हें अपने मस्तकपर धारण किया है।'श्रीनिवृत्तिनाथने श्रीगुरु गोरखनाथ और श्रीगैनीनाथसे सम्पूर्ण योगानुभव, अद्वयानन्दवैभव और श्रीकृष्णभक्तिरसायन प्राप्त करके श्रीज्ञानेश्वरको दिया और श्रीज्ञानेश्वरने उसे जगद्धितार्थ प्रकट किया।

संवत् १३५३ में श्रीज्ञानेश्वर महाराजके जीवितसमाधि लेनेके पश्चात् संवत् १३५४ में आषाढ़ कृ० १२ के दिन ज्यम्बकेश्वर-क्षेत्रमें ये अपना मर्त्यकलेवर छोड़कर परमधामको पधारे।

साँबता माली

पण्ढरपुरसे दस-बारह मीलपर अरणभेंडी नामक एक ग्राम है। साँवता यहींके रहनेवाले थे, इनका जन्म शाके ११७२ में हुआ था। इनके पिताका नाम परसुवा और माताका नांगिताबाई था। ये मालीका काम करते और वनमाली श्रीविट्ठलको भजते थे। एक बार श्रीज्ञानेशवरजी और श्रीनामदेवजी श्रीविट्ठलभगवान्के संग संत कूर्मदाससे मिलने जा रहे थे ।

अरणभेंडी स्थानके समीप जब आपलोग आये तब भगवान्ने इन दोनों महात्माओंसे कहा कि "तुम लोग जरा ठहर जाओ, मैं अभी साँवतासे मिलकर आता हूँ।' यह कहकर भगवान् साँवताके पास पहुँचे और बोले, 'साँवता! तू मुझे जल्दी कहीं छिपा दे, दो चोर मेरे पीछे पड़े हैं।' साँवताने तुरन्त खुरपेसे अपना पेट चीरा और उसमें भगवानको छिपाकर ऊपरसे एक चादर ओढ़ ली। इधर ज्ञानदेवजी और नामदेवजी भगवान्की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जब बहुत काल बीत गया तब दोनों साँवताके यहाँ गये। साँबता नाममें मग्न थे, इससे यह निश्चय हो गया कि भगवान् यहीं कहाँ छिपे हैं। ज्ञानदेवजी और नामदेवजी दोनोंने साँबता भैयासे प्रार्थना की कि ' भाई! भगवान्के दर्शन तो करा दो।' साँवताने भगवानको बाहर निकाला। तब सभी प्रेमसे गद्गद हो गये। साँवता सर्वत्र सब पदार्थोके अन्दर एक भगवानको ही देखा करते थे। भगवन्नाममें भी उनकी बड़ी विलक्षण निष्ठा थी।

एक अभंगमें उन्होंने कहा है-- नामका ऐसा बल है कि मैं अब किसीसे भी नहीं डरता और कलिकालके सिरपर डंडे जमाया करता हूँ। विट्ठलनाम गाकर और नाचकर हमलोग उन वैकुण्ठपतिको यहीं अपने कीर्तनमें बुला लिया करते हैं। इसी भजनानन्दकी दिवाली मनाते हैं और चित्तमें उन वनमालीको पकड़ पूजा किया करते हैं। साँवता कहता है कि भक्तिके इस मार्गपर चले चलो, चारों मुक्तियाँ द्वारपर आ गिरेंगी।'

साँवताजीने शाके १२१७ के आषाढ़ कृष्णा १४ को समाधि ली।

सेना

सेना नाई थे। ये किसी राजाके आश्रित थे, उनकी रोज दाढ़ी बनाया करते थे। भगवन्नाम लिया करते थे। एक दिन भगवान्‌ने एक लीला रची। सेना जब दाढ़ी बना रहा था और राजा अपना मुख दर्पणमें देख रहे थे तो दर्पणमें शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीविट्ठल उन्हें दिखायी देने लगे। सेना नाई अपना काम कर रहा है और मुखसे नाम भी जप रहा है। राजा दर्पणका यह चमत्कार देखकर हैरान थे कि यह क्या बात है।

दर्पणको उन्होंने नीचे रखा। पानीकी कटोरी जो सामने थी उसपर दृष्टि पड़ी। उसमें भी सकल पाप-तापसंतापहारी श्रीहरि स्थिर खड़े देख पड़े। राजासे अब न रहा गया, उन्होंने नाईसे पूछा "यह क्या बात है ?' सेनाने उत्तर दिया, मैं पामर क्या जानूँ! यह श्रीरुक्मिणीवल्लभकी ही कोई लीला होगी। इस विचित्र घटनासे राजाको अपने ऐश्वर्य और भोग-विलाससे पूर्ण वैराग्य हो गया और वे श्रीविट्ठलके अनन्य भक्त हो गये।

जिन सेना नाईके सत्संगसे राजाको यह उपरति और भक्ति प्राप्ति हुई वे कोई असाधारण भक्त ही रहे होंगे। ये ज्ञानेश्वर महाराजके समकालीन और उन्हींके शिष्य थे। इन्होंने अपने अभंगोंमें यह बताया है कि मेरे घरमें यह उपासना परम्परासे ही चली आयी है और मुझे अपने पितासे यह

सुनार नाई

निधि मिली | ज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेके पश्चात् और कई वर्ष ये इस संसारमें रहे। ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिपर इन्होंने कई अभंग रचे हैं।

इन्होंने यह कहकर अपना परिचय दिया है कि 'नाईके वंशमें हषीकेशने मुझे जन्म दिया', और अपने जातिवालोंको इस प्रकार उपदेश किया है कि "जो लोग नाई वंशके कहाते हैं उन्हें चाहिये कि स्वधर्मका पालन करें। शास्त्रोंने जो नियम बना दिया उसे छोड़कर और कुछ करना अनाचार है। सेना कहता है, प्रभुकी ऐसी आज्ञा है कि सचाईके साथ स्वधर्मका पालन करो।" "दिनके पहले दो पहर अपना धंधा करो और फिर स्नान करके "नारयण" नाम जपो। फिर छुरे-अस्तुरेको मत छूओ।' "संतों और शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करो और श्रीविट्ठलकी शरण लो, इससे भगवान् तुम्हारी रक्षा करेंगे।' "हजामत" पर इनका एक आध्यात्मिक अभंग है--'हम प्रतिबार बड़ी बारीक हजामत बनाते हैं, विवेकरूपी. दर्पण दिखाते और वैराग्यका चिमटा चलाते हैं, सिरपर शान्तिका उदक छिड़कते और अहंकारकी चुटिया घुमाकर बाँधते हैं, भावार्थोकी बगलें साफ करते और काम-क्रोधके नख काटते हैं, चारों वर्णोकी सेवा करते और निश्चिन्त रहते हैं।

नरहरि

नरहरि सुनार रहनेवाले थे पण्ढरपुरके ही, पर थे शिवजीके भक्त-एऐसे भक्त जो कभी श्रीविट्ठलके दर्शन ही नहीं करते थे। पण्ढरपुरमें रहकर भी कभी इन्होंने पण्ढरीनाथ श्रीपाण्डुरंगके दर्शन नहीं किये। शिवभक्तिका ऐसा विलक्षण गौरव इन्हें प्राप्त था। एक बार ऐसा संयोग हुआ कि एक सज्जनने इन्हें श्रीविट्ठलकी कमरकी करधनी बनानेको सोना ला दिया और कमरका नाप भी बता दिया। इन्होंने करधनी तैयार की, पर वह कमरसे चार अंगुल बड़ी हो गयी। उसे छोटी करनेको कहा गया तो वह कमरसे चार अंगुल छोटी हो गयी।

फिर वह बड़ी की गयी तो चार अंगुल बढ़ सुनार चलकर नाप लेना निश्चय किया। पर कहीं श्रीविट्ठल भगवान्के दर्शन न हो जाय, इसलिये उन्होंने अपनी आँखोंपर पट्टी बाँध ली और हाथ आगे बढ़ाकर जो टटोलने लगे तो उनके हाथोंको पाँच मुख, दस हाथ, सर्पालंकार, मस्तकपर जटा और जटामें गंगा, ऐसी शंकरमूर्तिका स्पर्श हुआ। उन्हें निश्चय हो गया कि ये तो श्रीशंकर ही हैं। इसलिये उन्होंने आँखोंकी पट्टी खोल दी और देखा तो श्रीविट्ठलके दर्शन हो गये। फिर आँखें बंद करके टटोलने लगे तो फिर उन्हीं पंचवक्त्र

चन्द्रशेखर श्रीशंकरका आलिंगन हुआ। आँखें खोलनेपर विट्ठल और आँखें बंद करनेपर शंकर!!!

गयी, फिर छोटी की गयी तो चार अंगुल घट गयी। इस प्रकार चार बार हुआ। लाचार नरहरि सुनारने स्वयं तीन बार ऐसा ही हुआ। तब नरहरिं सुनारको यह बोध हुआ कि जो शंकर हैं वे ही (विष्णु) विट्ठल हैं और जो विट्ठल हैं वे ही शंकर हैं, दोनों एक ही हरिहर हैं। तब उनकी उपासना जो एकदेशीय थी सो अति उदार, व्यापक हो गयी और वे श्रीविट्ठल-भक्तोंके वारकरीमण्डलमें सम्मिलित हो गये। सुनारी इनकी वृत्ति थी। इसी वृत्तिमें रहकर 'स्वकर्मणा' भगवान्‌का अर्चन करनेका बोध इन्हें किस प्रकार हुआ, इसका दर्शक इनका एक अभंग है जिसमें नरहरि सुनार कहते हैंभगवन्! मैं आपका सुनार हूँ, आपके नामका व्यवहार सन्तं सुशान्तं सततं नमामि करता हूँ। यह गलेका हार देह है, इसका अन्तरात्मा सोना है।

त्रिगुणका साँचा बनाकर उसमें ब्रह्मरसं भर दिया। विवेकका हथौड़ा लेकर उससे काम-क्रोधको चूर किया और मन-बुद्धिकी कैंचीसे राम-नाम बराबर चुराता रहा। ज्ञानके काँटेसे दोनों अक्षरोंको तौला और थैलीमें रखकर थैली कंधेपर उठाये रास्ता पार कर गया। यह नरहरि सुनार, हे हरि! तेरा दास है, रात-दिन तेरा ही भजन करता है।

जगमित्र नागा

बार्शीसे पचीस-तीस कोसपर परली बैजनाथ नामक कोई क्षेत्र है। जगमित्र नागा नामक ब्राह्मण यहींके रहनेवाले थे। ये भिक्षा-वृत्तिसे रहते थे और सबकी मंगलकामना करते थे। इनका नाम तो कुछ और ही था, पर ये अपने गुणॉसे जगमित्र कहाये। नागेश इनके गुरुका नाम था, जिसे इन्होंने अपने नामके साथ जोड़कर अपनेको 'जगमित्र नागा' नामसे प्रसिद्ध किया। ये बड़े प्रेमी जीव थे, बड़े सरल, निष्कपट, निर्द्र एवं सबसे सहज स्मेहका व्यवहार करनेवाले।

किसीकी निन्दा करना, किसीसे ईर्ष्या-द्रेष करना, किसीको हीन समझना इनके स्वभावमें कभी था ही नहीं। ये अजातशत्रु थे। पर ऐसे अजातशत्रुके भी

कोई शत्रु निकल ही आये और उन्होंने इनकी झोपड़ीमें आग लगा दी। पर ये उस आगसे जले नहीँ । इस प्रसंगपर इन्होंने एक अभंग रचा, जिसमें ये कहते हैं ' अग्नि जलाती है, पर प्रह्लाद जलता नहीं; क्योंकि प्रह्वादके हृदयमें गोविन्द जागते रहते हैं।

जगमित्र नागा भी अग्निके जलाये नहीं जलता, क्योंकि हृदयवृन्दावनके वनमाली अपने वनको उजड़ने नहीं देते।' एक अभंगमें उन्होंने संकटकालमें उपस्थित होनेवाले नारायणके पुराण-प्रसंगोंका अनुस्मरण करते हुए कहा है- भीष्मदेवको रणमें, कर्णको अर्जुनके बेधनेवाले बाणमें, हरिश्चन्द्रको श्मशानमें और परीक्षितको आसन्नमृत्युमें भगवान्मे आलिंगन किया है। इसलिये जगमित्र कहते हैं, “गोविन्द? नाम भजो, गोविन्दरूप हृदयमें धरो, गोविन्द तुम्हें सब संकटोंके पार कर देंगे।

जनाबाई

जनाबाई श्रीनामदेवजीके घरका काम-धंधा करनेवाली एक दासी थी। इसका जन्म गोदावरीतीरपर गंगाखेड़ नामक स्थानमें एक शूद्रकुलमें हुआ था। इसके पिताका नाम दमा और माताका नाम करुंड था। माता इसके बचपनमें ही चल बसी। तब इसके पिता इसे संग लिये पण्ढरपुरकी यात्रा करने गये। पण्ढरपुरके भगवन्नाममय वातावरण और श्रीविट्ठलदर्शनका इस छोटी कन्याके हृदयपर कुछ ऐसा असर पड़ा कि इसने पितासे कहा कि अब मैं यहीँ रहूँगी।

पिताने हर तरहसे जब देख लिया कि जनाके हृदयमें भगवन्मिलनकी सच्ची लगन है तब उसने ममताका पाश तोड़कर अपनी इस सात वर्षकी कन्याको नामदेवजीके पिता दामाशेटके घर काम-काज करनेके मिस रहकर भगवद्भजन करनेके लिये छोड़ दिया। नामदेवजीका अभी जन्म नहीं हुआ था। पीछे नामदेवजी जन्मे। नामदेवजीको बचपनमें जनाने ही खेलाया। नामदेवजीके घर सभी लोग भगवानूका नाम लेनेवाले और भजन करनेवाले आनन्दी जीव थे। जना भी दासी होकर भी उनमें घुल-मिल गयी।

पण्ढरपुरके श्रीविट्ठलदेवके मन्दिरके सामने ही नामदेवजीका घर था। जनाको जभी कामसे फुरसत मिलती, वह सामने मन्दिरमें पहुँचकर भगवान्का रूप निहार आती। वह गीता-ज्ञानेश्वरोका नित्य पाठ करती और सदा भगवान्के ध्यानमें. ही रहा करती थी। रातको सब लोग जब मन्दिरसे अपने-अपने घर चले जाते तब जना मन्दिरमें पहुँचती और एकान्तमें भगवानका भजन करती, ध्यान करती, हँसती, गाती और भावावेशमें आकर नृत्य करने लगती।

इस प्रकार नामदेवके घर और विट्ठलदेवके मन्दिरमें जनाके दिन बड़े सुखसे बीत रहे थे। एक दिन एक बड़ी विपद् घटी। भगवान्के गलेका रत्नपदक चोरी चला गया। मन्दिरके पुजारियोंको जनापर ही सन्देह हुआ, क्योंकि मन्दिरमें सबसे अधिक आना-जाना इसीका लगा रहता था। इसने भगवान्की शपथ करके लोगोंको बहुत विश्वास दिलाया कि रत्नपदक मैंने नहीं लिया है। पर पुजारियोंको इसका विश्वास नहीं हुआ। लोग इसे सूलीपर चढ़ानेके लिये चन्द्रभागा नदीके तटपर ले गये। सूलीकी ओर देखते हुए इसने एक बार बहुत विकल होकर बड़े करुण स्वरसे भगवान्की गुहार की।

देखते-ही-देखते सूली पिघलकर पानी हो गयी। तब लोगोंकी आँखें खुलीं और उन्होंने कुछ-कुछ जाना कि भगवान्के दरबारमें जनाका कितना बड़ा अधिकार है। कहते हैं कि नदीसे पानी लाते समय और आटा पीसते समय स्वयं भगवान् मूर्तिमान् होकर जनाके साथ काम करते थे। नामदेवजीके घर उनके माता-पितासहित कुल पन्द्रह आदमी थे-नामदेवजीके पिता दामाशेट, माता गोणाबाई, स्वयं नामदेवजी और उनकी धर्मपत्नी राजाबाई, नामदेवजीकी बहन आऊताई और कन्या लिंबाताई, नामदेवजीके चार पुत्र नारायण, विट्ठल, गोविन्द और महादेव तथा उनकी चार बहुएँ, इस प्रकार चौदह और पन्द्रहवीं जनाबाई।

उसने अपने एक अभंगमें इन चौदह जनोंका नाम लेकर पन्द्रहवीं “मैं जनी' कहकर नामदेवके परिवारमें ही अपने-आपको शामिल किया है। जनाबाईके तीन सौ अभंग मिलते हैं। जिनमें कहीं सगुणरूपका ध्यान है तो कहीं त्रिकूट, श्रीहाट, श्यामवर्ण गोहूलाट, नील बिन्दु और पीठ, भ्रमरगुहा और दशमद्वारका स्वानुभूत सांकेतिक वर्णन है; कहीं निर्गुण निराकार अद्वयानन्दका उद्रेक है और कहाँ परप्रेमका परम माधुर्य है।

श्रीनामदेवजीके साथ जनाबाईका जैसा कुछ पारलौकिक सम्बन्ध था उसीके अनुसार यह घटना भी घटी कि जिस दिन (अर्थात् संवत् १४०७ की श्रावण कृष्णा १३ को) नामदेव इहलोकसे चले गये उसी दिन उनके पीछे-पीछे कीर्तन

करती हुई जनाबाई भी चली गयीं, यद्यपि संतोंका जाना जाना नहीं, अन्तर्धान होना ही है।

कूर्मदास

कूर्मदास ज्ञानदेव-नामदेवके समकालीन एक ब्राह्मण थे। ये पैठणमें रहते थे। जन्मसे ही इनके हाथ-पैर नहीं थे। जहाँ कहीं भी पड़े रहते, और जो कोई जो कुछ लाकर खिला देता उसीसे निर्वाह करते थे। एक दिन पैठणमें कहीं हरिकथा हो रही थी। इन्होंने दूरसे उसकी ध्वनि सुनी और पेटके बल रेंगते हुए वहाँ पहुँचे। वहाँ उन्होंने पण्ढरपुरकी आषाढ़ी-कार्तिकी यात्राका माहात्म्य सुना। कार्तिकी एकादशीमें अभी चार महीनेकी अवधि थी।

कूर्मदासने पेटके बल चलकर तबतक पण्ढरपुर पहुँचनेका निश्चय किया। बस, उसी क्षण वहाँसे चल पड़े। एक कोससे अधिक वे दिनभरमें नहीं रेंग सकते थे। रातको कहीं ठहर जाते और भगवान्की उपस्थितिसे कोई-न-कोई उन्हें अन्न-जल देनेवाला मिल ही जाता था। इस तरह चार महीनेमें वे लहुल नामक स्थानमें पहुँचे। बस, अब कल ही एकादशी है और पण्ढरपुर यहाँसे सात कोस है। किसी तरहसे भी कूर्मदास वहाँ एकादशीको पहुँच नहीं सकते।

झुंड-के-झुंड यात्री चले जा रहे हैं, पर कूर्मदास लाचार हैं, 'क्या इस अभागेको भगवान्के दर्शन कल नहीं होंगे? मैं तो वहाँतक कल नहीं पहुँच सकता। पर क्या भगवान् यहाँतक नहीं आ सकते? वे तो चाहे जो कर सकते हैं।' यह सोचकर उन्होंने एक चिट्ठी लिखी-'हे भगवन्! यह बेहाथपैरका आपका दास यहाँ पड़ा है, यह कलतक आपके पास नहीं पहुँच सकता। इसलिये आप ही दया करके यहाँ आवें और मुझे दर्शन दें।' यह चिट्ठी उन्होंने एक यात्रीके हाथ भगवान्के पास भेज दी।

दूसरे दिन, एकादशीको,भगवान्‌के दर्शन करके उस यात्रीने वह चिट्‌ठी भगवान्‌के चरणोंमें रख दी। लहुलमें कूर्मदास भगवान्‌की प्रतीक्षा कर रहे थे, जोर-जोरसे पुकार रहे थे, ' भगवन्! कब दर्शन दोगे? अभीतक क्यों नहीं आये? मैं तो आपका हूँ न?' इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल होकर भगवानको पुकारने लगे। परमकारुणि पण्ढरीनाथ श्रीविट्‌ठल ज्ञानदेव, नामदे और साँवता माली, इन तीनोंके साथ कूर्मदासके सामने आकर खड़े हो गये। कूर्मदासने उनके चरण पकड़ लिये। तबसे भगवान्, जबतक कूर्मदास वहाँ थे, वहीं रहे। वहाँ श्रीविट्‌ठलभगवान्‌का जो मन्दिर है वह इन्हीं कृर्मदासपर भगवानका मूर्त अनुग्रह है।

कान्हूपात्रा

कान्हूपात्रा मंगलवेढ़ा स्थानमें रहनेवाली श्यामा नाम्नी वेश्याकी लड्की थी। माँकी वेश्यावृत्ति देखदेखकर उसे ऐसे जीवनसे बडी घृणा हो गयी। जब वह पन्द्रह वर्षकी हुई तभी उसने यह निश्चय कर लिया कि मैं अपनी देह पापियोंके हाथ बेंचकर उसे अपवित्र और कलंकित न करूँगी। नाचना-गाना तो उसने मन लगाकर सीखा और इस कलामें वह निपुण भी हो गयी। सौन्दर्यमें तो उसका वहाँ कोई जोड़ ही न था।

बड़े-बड़े चंडूल उसके सौन्दर्य और लावण्यपर झपटनेके लिये श्यामाके कोठेके चक्कर लगा रहे थे। श्यामा भी इसे अपनी दुष्टवृत्तिके साँचेमें ढालकर रुपया कमाना चाहती थी। उसने इसे बहकानेमें कोई कसर नहीं रक्खी, पर यह अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुई। आखिर श्यामाने इससे कहा कि यदि तुम्हें यह धंधा नहीं ही करना है तो कम-से-कम किसी एक पुरुषको तो वर लो। इसने कहा कि मैं ऐसे पुरुषको वरूँगी जो मुझसे अधिक सुन्दर, सुकुमार और सुशील हो।

पर ऐसा कोई पुरुष मिला ही नहीं। पीछे कुछ काल बाद वारकरी श्रीविट्‌ठलभक्तोंके भजन सुनकर यह श्रीपण्ढरीनाथके दर्शनोंके लिये पण्ढरपुर गयी और पण्ढरीनाथके दर्शन कर, उन्हींको वरणकर, उन्हींके चरणोंकी दासी बनकर सदाके लिये वहीं रह गयी। इसके सौन्दर्यकी ख्याति दूर-दूरतक फैल चुकी थी। बेदरके बादशाहकी भी इच्छा हुई कि कान्हूपात्रा

मेरे हरममें आ जाय । उसने उसे लानेके लिये अपने सिपाही भेजे। इन सिपाहियोंको यह हुक्म था कि कान्हूपात्रा यदि खुशीसे न आना चाहे तो उसे जबर्दस्ती पकड़कर ले आओ।

सिपाही पण्ढरपुर पहुँचे और उसे पकड़कर ले जाने लगे। उसने सिपाहियोंसे कहा कि मैं एक बार श्रीविट्ठलजीके दर्शन कर आऊँ। यह कहकर वह मन्दिरमें गयी और अनन्य भावसे भगवान्‌को पुकारने लगी। इस पुकारके पाँच अभंग प्रसिद्ध हैं, जिनमें कान्हूपात्रा भगवान्‌से कहती है--'हे पाण्डुरंगे, ये दुष्ट दुराचारी मेरे पीछे पडे हैं; अब मैं क्या करूँ, कैसे आपके चरणोंमें बनी रहूँ? आप जगत्‌की जननी हैं, इस अभागिनीको अपने चरणोंमें स्थान दो।

त्रिभुवनमें मेरे लिये और कोई स्थान नहीं! मैं आपकी हूँ, इसे अब आप ही उबार लो।' यह कहते-कहते कान्हूपात्राकी देह अचेतन हो गयी। उससे एक ज्योति निकली और वह भगवान्‌की ज्योतिमें मिल गयी, अचेतन देह भगवान्‌के चरणोंपर आ गिरी । कान्हूपात्राकी अस्थियाँ मन्दिरके दक्षिण द्वारमें गाड़ी गयीं। मन्दिरके समीप कान्हूपात्राकी मूर्ति खड़ी-खड़ी आज भी पतितोंको पावन कर रही है।

साध्वी सखूबाई

महाराष्ट्रमें कृष्ण नदीके तटपर कन्हाड नामक एक स्थान है। वहाँ एक ब्राह्मण रहता था। उसके घरमें वह, उसकी स्त्री और पुत्र तथा साध्वी पुत्रवधू ये चार प्राणी थे। ब्राह्मणकी पुत्रवधूका नाम सखूबाई था। सखूबाई जितनी ही अधिक भगवान्‌की भक्त, सुशीला, विनम्र और सरलहृदया थी उसके सास-ससुर और पति तीनों उतने ही दुष्ट, कर्कश, अभिमानी, कुटिल और कठोरद्ददय थे। वे सखूको सतानेमें कुछ भी उठा नहीं रखते थे।

तड़केसे लेकर रातको सबके सो जानेतक मशीनकी भाँति बिना विश्राम काम करनेपर भी सास उसे भरपेट खानेको भी नहीं देती थी। परन्तु सखूबाई इसे भी भगवान्‌की दया समझकर अपने कर्तव्यके अनुसार अस्वस्थ हो जानेपर भी काम करती रहती। परन्तु दुष्टा सास इतनेपर भी राजी न होती, वह उसे

दो-चार लात-घूँसे जमाये और उसको तथा उसके माँबापको दस-बीस बार गालियाँ सुनाये बिना सन्तुष्ट नहीं होती।

परन्तु सखू सासके सामने कुछ न बोलती, लोहूका घूँट पीकर रह जाती। वह इन दारुण दुःखोंको अपने कर्मोंका भोग और भगवान्‌का आशीर्वाद समझकर उन्हें सुखरूपमें परिणतकर सदा प्रसन्न रहती।

महाराष्ट्रमें पण्ढरपुर वैष्णवोंका प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला एकादशीको बड़ा भारी मेला होता है। लाखों नर-नारी कीर्तन करते हुए भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठलके दर्शनार्थ दूर-दूरसे आते हैं। अबके भी कुछ यात्री कन्हाइकी तरफसे होकर पण्ढरपुरके मेलेमें जा रहे थे। सखू इस समय कृष्णा नदीपर जल भरने गयी थी। इन सबको जाते देखकर उसके मनमें भी श्रीपण्ढरीनाथके दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा हुई। उसने सोचा कि सास-ससुर आदिसे तो किसी सूरतमें आज्ञा मिल नहीं सकती और पण्ढरपुर जाना निश्चित है, अत: क्यों न इसी मण्डलीके साथ चल पड़ूँ। वह उनके साथ हो ली। उसकी एक ट यह सब समाचार उसकी दुष्टा सासको जा सुनाया। वह सुनते ही जहरीली नागिनकी तरह फुफकार मारकर उठी और अपने लड़केको सिखा-पढ़ाकर सखूको मारते-पीटते घसीट लानेको भेजा।

वह नदीतटपर पहुँचा और सखूको मार-पीटकर घर ले आया। अब तीनोंकी मन्त्रणाके अनुसार दो सप्ताहतक, जबतक कि पण्डरपुरकी यात्रा होती है, सखूको बाँध रखने और कुछ भी खाने-पीनेको न देना निश्चित हुआ। उन्होंने सखूको रस्सीसे इतने जोरसे खींचकर बाँधा कि उसके सूखे शरीरमें गढ़े पड़ गये।

बन्धनमें पड़ी हुई सखू भगवान्‌से कातर स्वरमें प्रार्थना करने लगी--'हे नाथ! मेरी यही इच्छा थी कि यदि एक बार भी इन नेत्रॉसे आपके चरणोंके दर्शन लेती तो सुखपूर्वक प्राण निकलते। मेरे तो जो कुछ हैं सो आप ही हैं और मैं-भली-बुरी जो कुछ भी हूँ. आपकी ही हूँ। हे नाथ! क्या मेरी इतनी-सी बात भी न सुनोगे, दयामय?' इस प्रकार बड़ी देरतक सखू प्रार्थना करती रही। भक्तके अन्तस्तलकी सच्ची पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती वह चाहे कितनी ही धीमी क्यों न हो, त्रिभुवनको भेदकर भगवान्‌के कर्णछिद्रोंमें प्रवेश कर जाती है और उनके हृदयको उसी क्षण द्रवीभूत कर देती है।

सखूकी आर्त पुकारसे वैकुण्ठनाथका आसन हिल उठा। वे तुरन्त एक सुन्दर स्त्रीका रूप धारणकर उसी क्षण सखूके पास जाकर बोले-- बाई ! मैं पण्ढरपुर जा रही हूँ, तू वहाँ नहीं चलेगी ?' सखूने कहा-- बाई! में जाना तो चाहती हूँ,

पर यहाँ बँध रही हुँ; मुझ पापिनीके भाग्यमें पण्ढरपुरकी यात्रा कहाँ है।' यह सुनकर उन स्त्रीवेषधारी भगवानूने कहा--' बाई ! मैं तेरी सदा सहचरी हूँ, तू उदास मत हो। तेरे बदले मैं यहाँ बँध जाती हूँ।' यह कहकर भगवानूने तुरन्त उसके बन्धन खोल दिये और उसे पण्ढरपुर पहुँचा दिया। आज सखूका केवल यही बन्धन नहीं खुला, उसके सारे बन्धन सदाके लिये खुल गये। वह मुक्त हो गयी।

सखूका वेष धारण किये नाथ बंधे हैं। सखूके सास‌ससुर आदि आते हैं और बुरा-भला कहकर चले जाते हैं। और भगवान् भी सुशीला वधूकी तरह सब कुछ सह रहै हैं। इस प्रकार बँधे हुए पूरे पन्द्रह दिन हो गये। सास-ससुरका दिल तो इतनेपर भी नहीं पसीजा; पर सखूके पतिके मनमें यह विचार आया कि पूरा एक पक्ष बिना कुछ खाये-पिये बीत गया, कहीं यह मर गयी तो हमारी बड़ी फजीहत होगी। अतः वह पश्चात्ताप करता हुआ सखूवेषधारी भगवान्के पास पहुँचा और सारे बन्धन काटकर क्षमा-प्रार्थना करके बड़े प्रेमसे स्नानभोजन आदि करनेके लिये कहने लगा।

भगवान् भी ठीक पतिव्रता पत्नीकी भाँति सिर नीचा किये खड़े रहे। वे सखूके आनेके पहले ही अन्तर्धान होमेमें उसकी विपत्तिकी आशंकासे सखूके लौट आनेतक वहीं ठहरे रहे। उन्होंने स्नान करके रसोई बनायी और स्वयं अपने हाथसे तीनोंको भोजन कराया । आजके भोजनमें कुछ विलक्षण स्वाद था। भगवान्ने अपने सुन्दर व्यवहार और सेवासे सबको अपने अनुकूल बना लिंया। ठीक ही है! अब भी परिवर्तन न होता तो फिर होता ही कब?

इधर सखूबाई पण्ढरपुर पहुँचकर भगवान्के दर्शन करके आनन्दसिन्धुमें डूब गयी। वह यह भूल गयी कि कोई दूसरी स्त्री उसकी जगह बँधी है। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक इस शरीरमें प्राण हैं मैं पण्ढरपुरकी सीमासे बाहर नहीं जाऊँगी। प्रेममुग्धा सखू भगवान् पाण्डुरंगके ध्यानमें संलग्न हो गयी, वह समाधिस्थ हो गयी। अन्तमें सखूके प्राण कलेवर छोड़कर निकल भागे और शरीर अचेतन होकर गिर पड़ा। दैवयोगसे कन्हाड़ निकटवर्ती किवल नामक ग्रामके एक ब्राह्मणने उसे 'पहचानकर अपने साथियोंको बुलाकर उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की।

अब जगन्माता श्रीरुक्मिणीजीने देखा कि यह तो यहाँ मर गयी और मेरे स्वामी इसकी जगह बहू बने बैठे हैं; मैं तो बेढब फँसी! यह विचारकर उन्होंने श्मशानमें जाकर सखूकी हड्डियाँ बटोरकर उसमें प्राण संचार कर दिया। सखू नवीन शरीरमें जीवित हो गयी। जो महामाया देवी समस्त ब्रह्माण्डकी रचना और उसका विनाश करती है उसके लिये सखूकों जीवित करना कौन बड़ी

बात थी? उसे जीवित करके माताने कहा कि तेरी प्रतिज्ञा तो यही थी न कि तू अब इस देहसे पण्ढरपुरसे बाहर न जायगी?

तेरा वह शरीर तो जला दिया गया है। अब तू इस शरीरसे यात्रियोंक साथ घर लौट जा। सखूबाई यात्रियोंक साथ दो दिनमें कन्हाड़ पहुँच गयी। सखूका आना जानकर सखूवेषधारी भगवान् नदीतटपर घड़ा लेकर आ गये और सखूके आते ही दो-चार मीठी-मीठी बातें बनाकर और घड़ा उसे देकर अदृश्य हो गये। सखू घड़ा लेकर घर आयी और अपने काममें लग गयी, परन्तु अपने घरवालोंका स्वभावपरिवर्तन देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ।

कुछ दिनों बाद वह किवल गाँववाला ब्राह्मण जब सखूकी मृत्युका समाचार उसके घरपर देने आया और उसने सखूको घरमें काम करते देखा तो उसके आश्चर्यका पारावार न रहा। उसने सखूके सास-ससुरको बाहर बुलाकर उनसे कहा कि सखू तो पण्ढरपुरमें मर गयी, यह कहीं प्रेत बनकर तो तुम्हारे यहाँ नहीं आ गयी है? सखूके ससुर और पतिने कहा-*वह तो पण्ढरपुर गयी ही नहीं, तुम ऐसी बात कैसे कर रहे हो।' ब्राह्मणके बहुत कहनेपर सखूको बुलाकर सब बातें पूछी गयीं। उसने भगवान्‌की सारी लीला कह सुनायी ।

सखूकी बात सुनकर सास-ससुर और पतिने बड़े पश्चात्तापके साथ कहा--निश्चय ही यहाँ बँधनेवाली स्त्रीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीपति ही थे। हम बड़े नीच और कुटिल हैं जो हमने उन्हें इतने दिनोंतक बाँध रखा और उन्हें नाना प्रकारके क्लेश दिये।' तीनोंके हृदय बिलकुल शुद्ध हो ही चुके थे। अब वे भगवान्‌के भजनमें लग गये और सखूका बड़ा ही उपकार मानकर उसका सम्मान करने लगे। इस प्रकार भगवान्‌की दयासे अपने सास-ससुर और पतिदेवको अपने अनुकूल बनाकर सखूबाई जन्मभर उनकी सेवा करती रही और अपना सारा समय भगवान्‌के नामस्मरण, ध्यान, भजन आदिमें बिताती रही। बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

जोगा परमानन्द

जोगा इनका अपना नाम था, और परमानन्द इनके गुरुका। ये तेली जातिके थे और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। बार्शी स्थानमें इनका निवास था। यहाँ

जो मुख्य देवमन्दिर है वहाँ ये नित्य प्रातःकाल दर्शन करने जाते थे। इनका दर्शन करने जाना मामूली जाना नहीं था। ये घरसे मन्दिरतक दण्डवत्-प्रणाम करते हुए चलते थे और प्रत्येक प्रणामके साथ श्रीमद्भगवद्गीताका एक श्लोक पढ़ लिया करते थे। इस तरह सात सौ श्लोकोंके साथ सात सौ प्रणाम करके ये मन्दिरतक मार्ग पूरा करके भगवान्के सम्मुख उपस्थित होते थे।

बदनमें काँटे-कंकड़ गड़ते, कीचड़ लगता, लहू निकल आता; पर गीता-सप्तशतीके पाठ और सप्तशतपदी प्रणामसे इन्हें जो भगवत्प्रसाद मिलता था उसमें इन कष्टोंकी सुध लेनेका कोई अवसर नहीं था। इनके इस व्रतसे मुग्ध होकर एक बार एक सज्जनको इनकी कुछ सेवा करनेकी इच्छा हुई और उन्होंने इन्हें बड़ा अनुनयविनय और हठ-आग्रह करके एक मूल्यवान् रेशमी पीताम्बर पहना दिया।

इस पीताम्बरको पहनकर जब ये सश्लोक प्रणाम करते हुए भगवन्मन्दिकी ओर चले तब कीमती पीताम्बर दृष्टि पड़नेसे इनको यह खयाल होने लगा कि ऐसी कीमती चीजमें धूल या कीचड़ न लगे। काँटा या कंकड़ न गडे और ये पीताम्बरको सँवारे बहुत सम्हल-सम्हलकर प्रणाम करते हुए चलने लगे। इससे भगवानुके मन्दिरतक पहुँचनेमें बड़ी बेर हो गयी।

जोगाजीने सोचा कि यह तो बड़ा अपराध हुआ! ऐसा क्यों हुआ? इस पीताम्बरके कारण! पीताम्बर मैंने क्या पहना, भगवानूको भुलाकर पीताम्बरका ही ध्यान करनेवाला बन गया! भगवन्! यह मेरा अक्षम्य अपरा
जोगा परमानन्द जोगा इनका अपना नाम था, और परमानन्द इनके गुरुका। ये तेली जातिके थे और भगवानूके अनन्य भक्त थे। बार्शी स्थानमें इनका निवास था। यहाँ जो मुख्य देवमन्दिर है वहाँ ये नित्य प्रातःकाल दर्शन करने जाते थे। इनका दर्शन करने जाना मामूली जाना नहीं था।

ये घरसे मन्दिरतक दण्डवत्-प्रणाम करते हुए चलते थे और प्रत्येक प्रणामके साथ श्रीमद्भगवद्गीताका एक श्लोक पढ़ लिया करते थे। इस तरह सात सौ श्लोकोंके साथ सात सौ प्रणाम करके ये मन्दिरतक मार्ग पूरा करके भगवान्के सम्मुख उपस्थित होते थे। बदनमें काँटे-कंकड़ गड़ते, कीचड़ लगता, लहू निकल आता; पर गीता-सप्तशतीके पाठ और सप्तशतपदी प्रणामसे इन्हें जो भगवत्प्रसाद मिलता था उसमें इन कष्टोंकी सुध लेनेका कोई अवसर नहीं था।

इनके इस व्रतसे मुग्ध होकर एक बार एक सज्जनको इनकी कुछ सेवा करनेकी इच्छा हुई और उन्होंने इन्हें बड़ा अनुनयविनय और हठ-आग्रह करके एक मूल्यवान् रेशमी पीताम्बर पहना दिया। इस पीताम्बरको पहनकर जब ये सश्लोक प्रणाम करते हुए भगवन्मन्दिकी ओर चले तब कीमती पीताम्बर दृष्टि पड्नेसे इनको यह खयाल होने लगा कि ऐसी कीमती चीजमें धूल या कीचड़ न लगे। काँटा या कंकड़ न गडे और ये पीताम्बरको सँवारे बहुत सम्हल-सम्हलकर प्रणाम करते हुए चलने लगे।

इससे भगवानुके मन्दिरतक पहुँचनेमें बड़ी बेर हो गयी। जोगाजीने सोचा कि यह तो बड़ा अपराध हुआ! ऐसा क्यों हुआ? इस पीताम्बरके कारण! पीताम्बर मैंने क्या पहना, भगवानूको भुलाकर पीताम्बरका ही ध्यान करनेवाला बन गया! भगवन्! यह मेरा अक्षम्य अपराध है। इस अपराधका क्या प्रायश्चित्त है? जोगाजी मन्दिरके द्वारपर खडे यही सोच रहे थे कि उन्होंने देखा सड़कपर जुएमें बँधे दो बैल एक आदमी हाँके लिये जा रहा है।

जिस शरीरने पीताम्बर पहनकर भगवान्को भुलवा दिया उस शरीरसे उन्हें ऐसी घृणा हो गयी कि उसे कठोर-से-कठोर दण्ड देनेका उन्होंने निश्चय किया और बैलवालेसे पूछा, ' दादा! अपने बैल बेचोगे ? मेरा यह पीताम्बर ले लो और ये बैल मुझे दे दो। पीताम्बर बिलकुल नया है, इसे बेंचकर तुम इन बैलोंका दाम वसूल कर लो।' बैलवालेने सोचा कि सौदा तो अच्छा है।

जोगाजीको उसने बैल दे दिये, और पीताम्बर ले लिया। जोगाजीने फिर उसके द्वारा रस्सीसे अपने पैर जूएमें बँधवा लिये और उस किसानसे कहा कि अब बैलोंकी पीठपर दो चार साँटे जोरसे सटकाओ। किसानने नहीं सोचा कि इसका क्या परिणाम होगा और साँटे सटकाने लगा।

बैल तिलमिलाकर जोरसे भागे । आगे-आगे बैल भागे जा रहे हैं और पीछे-पीछे जोगाजी भगवन्नाम गाते हुए पीठके बल घसीटे जा रहे हैं। भागते-भागते बैल जंगलमें निकल गये, जोगाजीका सारा बदन छिल गया, रक्तसे रास्ता लाल हो गया, शरीरसे माँस कट-कटकर गिरने लगा; पर जोगाजीका नामकीर्तन नहीं छूटा। त्वचा, मांस सब झड़ गये, केवल अस्थिपंजर रह गया; तो भी भजन चल ही रहा था।

आखिर भगवानूसे नहीं रहा गया, वे प्रकट हुए और उन्होंने जोगाजीके पैर जुएसे अपने हाथोंसे छुड़ाये, अपना दिव्य वरद हस्त उनपरसे फेरकर उनका शरीर पूर्ववत् कर दिया और उनसे पूछा, 'जोगाजी! शरीरको ऐसा कठोर दण्ड तुमने क्यों दिया? तुम जो कुछ खाते-पीते हो उसे मैं ही तो ग्रहण करता हूँ,

तुम जब जहाँ-कहीं आतेजाते हो वही मेरी ही परिक्रमा होती है, किसीसे जो कुछ बात करते हो वह मेरी ही तो स्तुति होती है, तुम सुखपूर्वक शयन करते हो तो वह मेरे ही तो साष्टांग नमन होता है, फिर ऐसा कठोर देहदण्ड क्यों ?'

जोगाजीने उत्तर दिया, "बस, इसीलिये कि आपकी कृपा हो। आपने कृपा की, मैं सब कुछ पा गया।' इनके भक्ति, ज्ञान और योगविषयक अनेक पद हैं। बार्शीमें इनकी समाधि है। वहाँ पौष कृष्ण ४ को इनका समाधि-उत्सव मनाया जाता है।

महात्मा गंगानाथजी (लेखक- श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल)

महात्मा गंगानाथजीके जन्म-समय आदिका ठीकठीक पता नहीं लगता। आप एक योग-सिद्ध महात्मा थे। सं० १४७४ में, जिस जंगलमें आप तपस्या कर रहे थे उसको कटवाकर फतेहखाँ नामक एक नवाबने वहाँपर अपने नामसे फतहपुर नामक एक ग्राम बसाना चाहा और यह तजवीज की कि जिस स्थानपर आप तपस्या कर रहे थे वहाँपर उसका किला बने। यहाँतक कि नवाबके सिपाहियोंने आपको वहाँसे हट जानेके लिये भी आदेश दे दिया।

इसपर आपने वहाँ रहना उचित न समझा और सबके सामने आप अपनी धूनीकी प्रचण्ड अग्निको कपड़ेके झोलेमें भरकर पूर्व दिशाकी ओर चल पड़े। आपके इस चमत्कारकी बात नवाब 'फतेहखाँके पास पहुँची। वह आपकी दैवी शक्तिका अनुभव करने लगा और शीघ्र ही आपको मनानेके लिये आपके पीछे चल पड़ा। थोड़ी दूरपर जब आप मिले तब नवाबने आपके चरणोंमें गिरकर उसी स्थानपर लौट चलनेके लिये आपसे बड़ी प्रार्थना की।

महात्माओंका हृदय कोमल होता ही है, वह नवाबके बहुत आग्रहपर द्रवित हो गया। आपने नवाबसे कहा--' अच्छा मैं यहीं ठहर जाता हूँ।' और यह कहकर वहीं आसन जमा लिया। इसके बाद तो नवाब आपका भक्त ही बन गया। उसने आपको कई गाँव देकर अपनी भक्तिका परिचय देना चाहा, परन्तु आपने उससे साफ-साफ इनकार कर दिया। लेकिन इससे नवाबको सन्तोष नहीं हुआ, उसने विनम्र भावसे कुछ जमीन आपको दे ही दी।

आपने वह जमीन लेकर ब्राह्मणोंको बाँट दी। कुछ दिनोंके बाद जब आपने उसी स्थानपर जीवित-समाधि ले ली, तब नवाबने उस स्थानपर एक मन्दिर बनवाकर उसमें शिवलिंगकी स्थापना करा दी। वह मन्दिर अबतक मौजूद है। आपके हाथका एक ताँबेका पात्र भी अबतक वर्तमान है ।

आचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्दजी

आचार्य शंकरानन्द विद्यारण्य स्वामीके शिक्षागुरु थे। विद्यारण्यने पंचदशीके मंगलाचरणमें तथा विवरणप्रमेयसंग्रहके मंगलाचरणमें उन्हें गुरुरूपसे प्रणाम किया है। ये चौदहवीं शताब्दीमें हुए थे। कट्टर अद्वैतवादी आचार्य थे। इन्होंने शांकरमतका समर्थन किया है। शांकरमतको पुष्ट तथा प्रचारित करनेके लिये आपने ब्रह्मसूत्रदीपिका, गीताकी टीका तथा १०८ उपनिषदोंकी सुन्दर टीका लिखी है। ब्रह्मसूत्रदीपिकामें बड़ी सरल भाषामें शांकरमतानुसार

ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या की है। गीता और उपनिषदोंकी टीकामें भी इन्होंने शंकराचार्यका ही अनुसरण किया है। इनके ग्रन्थोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि ये अगाध पण्डित थे। इनके नामसे एक आत्मपुराण नामक ग्रन्थ भी मिलता है। इसमें अद्वैतवादके प्रायः सभी सिद्धान्त, श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि सभी बातें बड़ी सरल और मर्मस्पर्शी भाषामें दी गयी हैं। अद्वैतसाहित्यका यह भी एक अमूल्य रत्न है। आप बड़े ही संतपुरुष थे।

श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि

जिस तरह छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजके पीछे समर्थ गुरु श्रीरामदास स्वामीका पवित्र आध्यात्मिक बल था, उसी तरह दक्षिणके हिन्दूराज्य विजयनगरके संस्थापक हुक्कराय और बुक्करायके पीछे श्रीमद्िद्यारण्य महामुनिका तपोबल था। इस हिन्दूसाम्राज्यकी स्थापना करके इन्होंने

दक्षिण भारतमें हिन्दूधर्म और संस्कृतिकी रक्षा किस तरह की, यह बात इतिहासप्रेमी पाठकोंसे छिपी नहीं है। परन्तु वह हिन्दूधर्मरक्षक महात्मा स्वयं कौन थे, इसका पूरा पता नहीं लगता।

अनुमानतः ये सन् १३०० और १३९१ ई० के बीचमें इस भौतिक संसारमें विद्यमान थे। इन्होंने स्वयं पाराशरस्मृतिके अपने भाष्यमें जो अपना परिचय दिया है उससे मालूम होता है कि ये तैत्तिरीय शाखाके ब्राह्मण-कुलमें पैदा हुए थे। इनके पिताका नाम भायणाचार्य और माताका नाम श्रीमती था। इनके दो भाई थे-सायण और सोमनाथ। यही सायण वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हँ ।

सोमनाथ भी संन्यासी होकर थृंगेरी-पीठके जगदगुरु हुए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यारण्य स्वामीने भी थोड़ी उम्रमें ही संन्यास लेकर तपस्या शुरू कर दी थी। अपने भाईके बाद श्रृंगेरी-मठके जगद्गुरुके आसनको भी आपने सुशोभित किया था। वेदान्तसम्बन्धी प्रसिद्ध “पंचदशी” ग्रन्थके रचयिता यही थे। इसके अतिरिक्त इनके ऋग्वेद-भाष्य, यजुर्वेद-भाष्य, सामवेद-भाष्य, अथर्ववेद-भाष्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, शतपथ इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थोंके भाष्य, दशोपनिषद्दीपिका, जैमिनीयन्यायमालाविस्तर, अनुभूतिप्रकाश, ब्रह्मगीता, मनुस्मृति-व्याख्या, सर्वदर्शनसंग्रह, श्रीशंकर-दिग्विजय इत्यादि अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, जिनसे इनके महत् ज्ञान और पाण्डित्यका पता चलता है। इस तरह इन्होंने स्वयं त्यागमय संन्यासी तथा तपोमय योगीका जीवन यापनकर अपना सारा जीवन और शक्ति निःस्वार्थभावसे हिनदूधर्मके संस्थापन और रक्षणमें लगा दी थी।

संत पीपाजी

राजपूतानेके आग्नेय कोणमें अर्वली पहाड़की पंक्तियोंसे घिरा हुआ एक 'गागरोन' नामक गढ़ है। सैनिक दृष्टिकोणसे इसका बडा ही महत्त्व है। शत्रुओंको छकाने और उनके मनसूबोंको विफल करनेवाले भारतीय दुर्गोमें यह सदासे अग्रणी रहा है। अनेक मुसलमान बादशाह और सैनिक सदैव यहाँसे निराश होकर लौटे हैं। कम-से-कम उनका युद्ध-कौशल तो यहाँ

कारगर सिद्ध नहीं हुआ। यहाँका दृश्य बड़ा ही सुन्दर और मनोरम है, दुर्ग चारों ओर नदियोंसे घिरा हुआ है। यहाँ कई स्थान प्राकृतिक दृष्टिसे अनुपम हैं। *बलीडाघाट' और ' गिद्धकराई' अपनी अनोखी विशेषताके कारण सुप्रसिद्ध हैं।

विशेषतः यहाँके 'घोघड़' नामक जल-प्रपात तथा अन्य दृश्योंका तो भारतीय प्राकृतिक दृश्योंमें अन्यतम स्थान है। अनेक दर्शकोंकी सम्मतिमें भारतके ऐसे दो-चार स्थानोंमें इसकी गणना है। यह स्वभावतः मानवहृदयमें बलात् ईश्वरसम्बन्धी भावभावनाको उत्पन्न करता है। यहाँके लताकुंजों और झाड़ियोंके दृश्य नास्तिकको आस्तिक बनाते हैं और आस्तिकको भक्तशिरोमणि।

राजकुमार पीपा इसी प्रकृतिकी गोदमें पले थे। बाल्यावस्थासे ही उनके हृदयमें धार्मिक भावनाका अंकुर प्रस्फुटित हो गया था। राजसिंहासनपर बैठनेपर भी उनकी यह भावना कम नहीं हुई, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि उस समयका भोगबिलासपूर्ण वातावरण भी पीपाराजको धर्मविमुख न कर सका। यही कारण था कि इनका विशेष समय धार्मिक कार्योंमें ही व्यतीत होता था।

पीपाजी शुरूमें कौटुम्बिक परम्पराके अनुसार शक्ति-उपासक थे। परन्तु एक भगवद्भक्तमण्डलीके कारण यह वैष्णव बन गये। इस मतपरिवर्तनका मनोरंजक वृत्तान्त इस प्रकार है--

एक बार कुछ वैष्णव लोग पीपाजीके अतिथि हुए परन्तु इनके वैष्णव न होनेके कारण उनका अतिथिसत्कार जैसा चाहिये वैसा नहीं हुआ। इसपर साधुओंने देवीसे प्रार्थना की-हे आद्याशक्ति जगदम्बा भगवती! यह भेदभाव कैसा? इसपर देवीने स्वप्नमें पीपाजीको दर्शन देकर ऐसी भर्त्सना की कि इनकी अक्ल ठिकाने आ गयी और उस दिनसे इनका वह द्वैतभाव मिट गया। धीरे-धीरे इनका अनुराग वैष्णवधर्ममें बढ़ने लगा और अन्तमें यह उस समयके सुप्रसिद्ध भक्तशिरोमणि आचार्यप्रवर स्वामी श्रीरामानन्दजीकी शरणमें वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेनेके लिये काशी गये।

जब यह काशी जाने लगे तो इनके कुटुम्बी, राजकर्मचारी और सारी प्रजा घबड़ा उठी और लोगोंको यह भय हो गया कि महाराज अवश्य साधु बन जायँगे।जब पीपाजी महाराज काशी पहुँच गये और साधुसमाजाग्रगण्य स्वामी श्रीरामानन्दजीकी शरणमें उपस्थित हुए तो उनका दुर्व्यवहार देखकर ये बड़े दुखी हुए। साथ ही स्वामीजीके ये शब्द सुनकर तो यह घबड़ा उठे कि

"भाई! हम संन्यासी हैं, हमारे यहाँ भोगके पुतले राजाओंका क्या काम? हमें तो साधुवेषधारी व्यक्ति चाहिये।'

पीपाजी गुरु महाराजके इन वचनोंको सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, परन्तु वे धुनके पक्के थे। दूसरे दिन बे साधुवेषमें सेवामें उपस्थित हुए। कहा जाता है, इनको इस तरह साधुसेवामें देखकर और इनकी सच्ची लगन समझकर स्वामीजीने इनकी बहुत प्रशंसा की; परन्तु फिर भी इनको सम्मुख देखकर परीक्षार्थ कहा कि "यदि ऐसी ही दृढ़ लगन है तो जाओ कुएँमें गिर पड़ो, वहीं तुम्हें भगवान्‌के दर्शन होंगे।' इसपर ये कुँएमें गिरने दौड़े, परन्तु रामानन्दजीके चेलोंने बीचमें ही इन्हें रोक लिया। भक्तमालके कर्ता महात्मा नाभादासजीने भी इस घटनाका प्रकारान्तरसे समर्थन किया है।

इस तरह पीपाजीकी अटल भगवन्निष्ठा देखकर इन्हें गुरु महाराजने मन्त्रोपदेश दिया और शिष्य बना लिया। पीपाजी कुछ दिन गुरुचरणोंमें रहे, इसके बाद बिदा लेकर जब आने लगे तब गुरुसे गागरोनगढ़ आनेके लिये प्रार्थना की। इसपर गुरुजीने कहा- राजाधिराज पीपा! यदि तुम अपनी निष्ठा और साधना-आराधनामें ऐसे ही दृढ़ रहे और हमें तुम्हारी भगवद्‌भजनपरायणताका पता भी लगता रहा तों हम अवश्य ही एक दिन शिष्यमण्डलीके साथ तुम्हारी राजधानी आकर तुम्हे दर्शन देंगे।'

इस तरह पीपाजी गागरोनगढ़ आ गये और ईश्वराराधनामें दत्तचित्त रहने लगे और इनकी ये बातें किसी तरह स्वामी श्रीरामानन्दजीके पास भी पहुँचती रहीं। समय पाकर पीपाराजने स्वामीजीकी सेवामें गागरोन पधारनेके लिये पत्र भेजा। इसपर उनकी सच्ची भवित और दृढ़ निष्ठा जानकर और इनका अत्यधिक आग्रह देखकर गुरु महाराज पैदल ही शिष्यमण्डलीके साथ कई मासमें मार्गके नगर और ग्रामवासियोंको दर्शन देते हुए गागरोनगढ़ पहुँचे।

उस समय इनके साथ कबीर और रैदास आदि चालीस प्रमुख शिष्य थे। जब पीपाजीको गुरु महाराजके आनेकी खबर मिली तो वे फूले न समाये और खातिरकी तरहतरहकी तैयारियाँ करने लगे। और अपने सत्संगमें नित्य ही भजनोपदेशके बाद विशेषरूपसे गुरु महाराजके व्यक्तित्व, गुण, सम्प्रदाय और साधनाके विषयमें चर्चा करने लगे। इसका प्रभाव यह हुआ कि उनकी राजधानीके सभी प्रमुख व्यक्तियों और सर्वसाधारण लोगोंके हृदयोंमें गुरु महाराज और उनकी शिष्यमण्डलीके दर्शनोंकी उत्सुकता अत्यन्त बढ़ गयी और पीपाजी तो अत्यधिक अधीर हो उठे।

आचार्यप्रवर रामानन्द जब गागरोनगढ़ पहुँचे तब पीपाजीने इनका बड़े भारी राजसी ठाट-बाट और मानमर्यादापूर्वक स्वागत किया । समस्त राज्य और राजपूतानेमें बहुत दूरतक इनके आनेकी खबर फैल गयी और चारों ओरसे हजारों दर्शनाभिलाषी गागरोन आये। इससे पौपाजीके हृदयको जो सुख-शान्ति मिली उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता। कहते हैं, पीपाजीके बहुत आग्रहपर स्वामीजी महाराज एक मासके लगभग गागरोन बिराजे और पीपाजीके साधु-स्वभाव, उनकी श्रद्धा और भावभक्तिको देखकर महाराज बड़े प्रसन्न हुए। यही |

है कि जब स्वामीजीने पीपाजीसे द्वारका जानेके लिये बिदा माँगी तो इन्हें स्वामीजीका वियोग असह्य हुआ और साथ चलनेके लिये आज्ञा चाही । इसपर स्वामीजीकी स्वीकृति पाकर और संसारके सब बन्धनोंको तृणकी तरह तोड़कर ये संतवेषमें गुरुके साथ चलनेको तैयार हो गये। परन्तु इस समय एक समस्या खड़ी हो गयी और वह यह कि इनकी बारह रानियाँ भी साथ चलनेका आग्रह करने लगीं । ग्यारहको तो उन्होंने किसी तरह समझा-बुझा दिया ।
किन्तु बारहवीं रानी सौतादेवीने अत्यधिक आग्रह किया। परीक्षार्थ इसपर यह हुक्म हुआ कि यदि नग्नवेषमें चलना चाहो तो चल सकती हो। आखिर उसने यह आज्ञा भी शिरोधार्य की। सच है, लगी लगन बुरी होती है।

यह बड़ी भगवद्भक्त थी; इसकी संत-साधनाको देख और सुनकर सैकड़ों लोग साधु बन गये, सन्मार्गपर आ गये। इसका महान् चरित्र, व्यवहार और विविध घटनाएँ एक स्वतन्त्र जीवनचरित्रकी अपेक्षा रखती हैं। पीपाजीके जीवनचरित्रसे भी इसका चरित्र पृथक् नहीं किया जा सकता। पीपाजीकी प्राय: प्रत्येक घटनाके साथ इस ईश्वरभक्त रानीका सम्बन्ध है।

पीपाजी महाराज गुरुजी और गुरुभाइयोंके साथ द्वारका पहुँच गये और ईश्वरभक्तिमें आनन्दसे गुरुके चरणोंमें संन्यासिनी सीताके साथ समय बिताने लगे और बादमें गुरुजीके वहाँसे चले जानेपर भी चिरकालतक आप द्वारकामें ही रहे। द्वारकाजीमें रहनेका पीपाजीपर बड़ा भारी प्रभाव हुआ। ईशवरकृपा, गुरुभक्ति और उनके अखण्ड पुण्यप्रतापसे यहीं इन्हें भगवान्के युगलरूपके दर्शन भी हुए। बादमें पीपाजी यात्रा करते हुए अपनी राजधानी गागरोन लौट आये और अहू और कालीसिन्धके पवित्र संगमपर एक गुफामें रहने लगे।

अबतक यहाँ आपका मन्दिर है, निवासस्थान है और गुफा है। गुफ़ा देखने योग्य है । पूरी गुफाका तो अबतक किसीको पता भी नहीं लगा; परन्तु कहते

हैं, यह नदीके जलतक चली गयी है। पीपाजी इसीमें स्नान करके वापस मन्दिरमें आ जाते थे। यहाँ पहले मेला भरता था। पर्वस्नानके दिन अब भी यहाँ स्ानार्थियोंकी पर्याप्त भीड़ हो जाती है। यह स्थान इस समय झालावाड़ राज्यमें है, महाराजकी ओरसे इसका अच्छा प्रबन्ध है।

जागीर है, गौशालाका भी सुप्रबन्ध है। अभी कुछ दिनसे श्रीमहाराजका ध्यान इस ओर विशेषरूपसे आकर्षित हुआ है। और इसका प्रबन्ध ऋषिकल्प पं० धनीरामजी, रिटायर्ड जजके सुपुर्द किया गया है।

पीपाजीका जीवनचरित्र विविध वृत्तान्तो और घटनाओंसे भरा पड़ा है। साथ ही इनकी साध्वी पत्नीके साथ रहनेके कारण भी वह दुर्घटनाओंकी माला-सा बन गया है। फिर प्राय: सदैव अकेले जंगलों और हिंसक जन्तुओंमें घूमनेके कारण भी उसमें घटना-बाहुल्य हो गया है। किन्तु ईश्वरकृपा और भगवद्भक्तिके कारण ये घटनाएँ भी इनका कुछ न बिगाड़ सकीं।

ये सदैव प्राणघातक घटनाओंसे बाल-बाल बचते रहे। श्रीनाभाजी महाराजने भक्तमालमें इनके योगैश्वर्यका अच्छा वर्णन किया है। उससे मालूम होता है कि इनके भगवन्नामोच्चारणमात्रसे बड़े-बड़े विघ्न टल जाया करते थे। इनके प्रभावसे गौ और व्याघ्र एक घाटपर पानी पीते थे। एक बार एक जंगलमें इन्होंने आक्रमणकारी एक सिंहको मन्त्रोपदेश भी दिया था। नाभादासजीके शब्दोंमें कहते हैं, उस जंगलमें अब भी सिंह गौ और मनुष्योंको नहीं सताते। महारानी सीतादेवीका चरित्र भी ऐसे ही चमत्कारों और मुख्यतः साधुचरित्रसे भरा पड़ा है।

पीपाजीने अपने जीवनमें सहस्रों नास्तिकोंको आस्तिक बनाया, सैकड़ों असाधुओंको साधु और पचासों निर्धनों और दरिद्रोंको ईश्वरप्रार्थनाके द्वारा धनवान् बनाया। और अनेक दुरात्मा शासकोंकी भी अक़्ल दुरुस्त की। ये भण्डारे और उत्सव-महोत्सव आदि भी कराते रहते थे। इसका पता ग्रन्थों और परम्परागत वृत्तान्तोंसे लगता है । पीपाजीके जीवनचरित्रकी घटनाएँ उस समयके भारत और भारतीय समाजपर भी अच्छा प्रकाश डालती हैं।
इनको जीवनमें दो बार भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुए। एक बार द्वारकामें और दूसरी बार वृन्दावनमें। द्वारकाके दर्शनका वृत्तान्त श्रीनाभादासजीने भक्तमालमें इस तरह लिखा है।

एक बार पोपाजीको श्रीकृष्णके दर्शनकी ऐसी उत्कट इच्छा हुई कि ये समुद्रमें कूद पड़े। साथ ही महारानी सीता भी कूद पड़ीं। वहाँ जलमें इनको भगवानके युगल रूपके दर्शन हुए। कहते हैं, जलमें पीपाजी एक सप्ताह रहे और जब

निकले तो सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। पीपाजीने भगवान्‌की दी हुई छाप पुजारियोंको दे दौ और कहा-जिसके शरीरपर यह लगायी जावेगी उसको भगवान् प्राप्त होंगे और वह आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जावेगा।

अन्तमें यह कह देना भी उचित मालूम होता है कि पीपाजी परम भक्त थे और उस समयके अद्‌वितीय समाज सुधारक, धर्मोद्‌धारक, प्रकाण्ड पण्डित और रामानन्दी सम्प्रदायके संस्थापक महात्मा रामानन्दके प्रमुख शिष्य और उनकी 'रामात्' शाखाके अनुयायी थे। साथ ही एक अच्छे राज्यके अधिपति होकर भी आपने उसपर संतमार्गको तरजीह दी और जीवनभर इसीकी साधना-आराधनामें लगे रहे*।

भक्त धन्ना जाट

धन्नाजी जातिके जाट थे। इन्होंने विद्‌याध्ययन या शास्त्रश्रवण बिलकुल नहीं किया था, परन्तु बहुत छोटी अवस्थामें ही इनके हृदयमें प्रेमबीज अंकुरित हो उठा था और वह संत-सुधा-समागमसे जीवनी शवित भी पा चुका था। धन्नाजीके पिता खेतीका काम करते थे। पढ़े-लिखे न होनेपर भी उनका हृदय सरल और शरद्‌धासम्पन्न था । वे यथाशक्ति संत-महात्मा और भक्तोंकी सेवा किया करते थे।

जिस समय धन्नाजीकी अवस्था पाँच सालकी थी एक भगवद्‌भक्त ब्राह्मण साधु उनके घरपर पधारे। उन्होंने अपने हाथसे कुएँका जल खींचकर स्नान किया, तदनन्तर सन्ध्यावन्दनादिसे निवृत्त होकर अपनी झोलीसे

श्रीशालग्रामजीकी मूर्ति निकालकर उसकी षोडशोपचारसे पूजा की और उसके भोग लगाकर स्वयं भोजन किया। बालक धन्ना यह सब कौतुकसे देख रहे थे। बालकका सरल, शुद्‌ध हृदय था ही; उसे भी इच्छा हुई कि यदि उसके पास भी ऐसी ही एक मूर्ति होती तो वह भी उसकी इसी तरह पूजा किया करता। उन्होंने स्वाभाविक ही मनको प्रसन्न करनेवाली मीठी वाणीसे ब्राह्मणदेवके पास जाकर वैसी ही एक मूर्तिके लिये याचना की।

पहले तो ब्राह्मणने कुछ ध्यान न दिया, परन्तु जब बे बहुत गिड़गिडाने लगे तो वह उन्हें एक शालग्रामजीकी मूर्ति देकर कहने लगे-- बेटा! ये तुम्हारे भगवान् हैं, तुम इनकी पूजा किया करो। देखो, इनके भोग लगाये बिना

कभी भोजन न करना।' ब्राह्मणदेवता तो यह कहकर चले गये। धन्नाजीको बात लग गयी । धन्नाकी मानो यही गुरुदीक्षा हुई।

अब धन्नाजीके आनन्दका पार नहीं । वे सूर्योदयसे पूर्व उठकर पहले स्वयं स्नान करके अपने भगवानूको स्नान कराते, चन्दन लगाते, तुलसी चढ़ाते और पूजाआरती करते। माता जब खानेको बाजरेकी रोटी देती तो वे उसे भगवानके आगे रखकर आँख मूँद लेते और बीच-बीचमें आँख खोलकर देख लेते कि भगवान्ने भोग लगाना शुरू किया कि नहीं। जब बहुत देर हो जाती और भगवान् भोग न लगाते तो अनेक प्रकारसे प्रार्थना और निहोरा करते। इतनेपर भी जब भगवान् भोग न लगाते तो निराश होकर यह समझते कि भगवान् मुझसे नाराज़ हैं। जब वे रोटी नहीं खाते तो मैं कैसे खाऊँ? यह सोचकर वे रोटियोंको दूर फेंक देते। इस तरह कई दिन बिना अन्न-जल लिये बीत गये। अब उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया और चलने-फिरनेकी भी शक्ति नहीं रही। उनके नेत्रोंसे, इस मार्मिक दुःखके कारण कि भगवान् मेरी रोटी नहीं खाते, सर्वदा आँसुओंकी धारा बहने लगी।

सरल बालककी बहुत कठिन परीक्षा हो चुकी। भगवानूका आसन हिल उठा। भक्तके दुःखसे द्रवित होकर भगवान् उसके प्रेमाकर्षणसे अपूर्व मनमोहिनी मूर्ति धारणकर उसके सामने प्रकट हुए और उस “प्रयतात्मा' भक्तकी 'भक्त्युपहत' रोटीका बड़े प्रेमसे भोग लगाने लगे। जब भगवान् आधीसे अधिक रोटी खा चुके तो धन्नाने भगवानूका हाथ पकड़कर कहा-* भगवन्! इतने दिनोंतक तो पधारे ही नहीं, अब आज आये हो तो सारी रोटी अकेले ही उड़ा जाओगे? तो क्या मैं आज भी भूखों मरूँगा? क्या मुझे जरा-सी भी न दोगे?'

बालक भक्तके सरल-सुहावने वचन सुनकर भगवान् जरा मुसकराये और उन्होंने बची हुई रोटी धन्नाजीको दे दी। इस रोटीके अमृतसे भी बढ़कर स्वादका वर्णन शेष-शारदा भी नहीं कर सकते भक्तवत्सल करुणानिधि कौतुकी भगवान् अब प्रतिदिन इसी प्रकार अपनी जनमनहरण रूपमाधुरीसे धन्नाजीका मन मोहने लगे। मनुष्य जबतक इस मनमोहिनी मूर्तिका दर्शन नहीं कर पाता तभीतक वह अन्य विषयोंमें

आसक्त रहता है। जिसे एक बार भी इस रूपछटाकी झाँकी करनेका सौभाग्य प्राप्त हो गया उसे फिर और कोई बात नहीं सुहाती। अब धन्नाजीकी भी यही दशा हुई। यदि एक क्षणके लिये भी वे मनमोहनको अपनी आँखोंके सामने या हृदयमन्दिरमें न देख पाते तो तुरन्त मूच्छित होकर गिर पड़ते। इसीसे

भगवानको धन्नाजीके साथ या उनके हृदयमन्दिरमें सदा-सर्वदा रहना पड़ता।

अब धन्नाजी कुछ बड़े हो गये, इससे माताने उन्हें गौ दुहनेका काम सौंप दिया। कई गायें थीं, धन्नाजीको दोनों समय दुहनेमें बड़ा कष्ट होता। एक दिन भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा कि 'भाई! तुम्हें अकेले इतनी गायें दुहनेमें बड़ा कष्ट होता होगा, तुम्हारी गायें मैं दुह दिया करूँगा।' सुरमुनिवन्दित सकलचराचरसेव्य अखिललोकमहेश्वर भगवान् अपने बालक भक्तके साथ रहकर उसकी सेवा करने लगे।

एक दिन धन्नाजीके वे ब्राह्मण गुरु उसके घरपर आये और पूछा--' क्यों, ठाकुरजीकी पूजा करते हो कि नहीं ?' धन्नाने कहा-- महाराज! आपने तो अच्छे भगवान् दिये। कई दिनतक तो दर्शन ही नहीं दिये, स्वयं भूखे रहे और मुझे भी भूखों मारा। अन्तमें एक दिन दर्शन देकर सारी ही रोटी चट करने लगे, बड़ी कठिनाईसे मैंने हाथ पकड़कर आधी रोटी अपने लिये रखवायी। परन्तु महाराज! हैं वे बड़े प्रेमी। हर समय मेरे साथ रहते हैं और दोनों समय मेरी गायें दुह देते हैं। वह अब तो मुझे बहुत ही प्यारे हैं, मेरे प्राण तो उन्हींमें बसते हैं।'

ब्राह्मणने आश्चर्यचकित होकर पूछा कि "तुम्हारे भगवान् हैं कहाँ?" धन्नाने कहा कि 'मेरे पास ही तो ये खड़े हैं, क्या आपको नहीं दीखते ?' यह सुनकर ब्राह्मणको बडा दु:ख हुआ। इसपर धन्नाजीने भगवान्‌से ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये भी प्रार्थना की। उसकी प्रार्थनापर सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ने धन्नाको ब्राह्मणकी गोदमें बैठकर अपने पवित्रतम शरीरके स्पर्शसे उसे पवित्र करके दिव्य नेत्र प्रदान करनेकी आज्ञा दी। धन्नाके ब्राह्मणकी गोदमें बैठते ही ब्राह्मणको भगवान्‌के दर्शन हो गये। वह कृतकृत्य हो गया। सदाके लिये उसके समस्त बन्धन टूट गये। धन्य भगवन्!

अब धन्नाजीकी बाललीला समाप्त हुई। साथही-साथ भगवानका धन्नाजीके साथ बालोचित व्यवहार भी छूट गया। भगवान्‌की आज्ञानुसार धन्नाजीने काशी जाकर श्रीरामानन्दजीसे भगवन्नामकी दीक्षा ले ली और घरपर रहकर भगवद्भजन और साधुसेवा करने लगे।

एक दिन धन्नाजीके पिताने इन्हें खेतमें गेहूँ बोनेके लिये बीज देकर भेजा। रास्तेमें कुछ संत मिल गये। वे भूखे थे, उन्होंने धन्नाजीसे भिक्षा माँगी। सर्वत्र अपने प्यारेको देखनेवाला भक्त इस अवसरपर कैसे चूक सकता था, उन्होंने समस्त गेहूँ संतोंको दे दिये। धन्नाजीने गेहूँ दे तो दिये, परन्तु

माता-पिताके भयसे यों ही घर लौटना उचित न समझकर वे खेत चले गये और

जमीन जोतकर घर लौट आये। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌ने अपनी मायासे भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये उनके खेतको सबसे अधिक हरा-भरा कर दिया। दूसरे दिन जन सब किसान उनके खेतकी प्रशंसा करने लगे तब एक बार तो उन्होंने समझा कि खेत सूखा पड़ा देखकर सम्भवतः दिल्लगी कर रहे होंगे, पर जब उन्होंने खुद जाकर देखा और खेतको लहलहाता पाया तो उनके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ चला और उन्होंने मन-ही-मन भगवानको बारंबार प्रणाम किया।

बाबा लालदयालुजी

पंजाबके गुरुदासपुर जिलेमें बटाला स्टेशनसे लगभग दस मीलकी दूरीपर दरबार श्रीध्यानपुर नामका एक प्रसिद्ध वैष्णवमठ है। इस मठके आदि संस्थापक बाबा लालदयालु एक बहुत ही ऊँचे योगी और आप्तकाम संत हो चके हैं। आपका जन्म वि० सं० १४१२ को माघ शुक्ला द्वितीयाको कुशपुर (कुसूर) गाँवके एक प्रसिद्ध ्षत्रियवंशमें हुआ था। इनके पिताका नाम भोलानाथ और माताका कृष्णादेवी था। ये बड़े ही विचक्षण बुद्धिके बालक थे। आठ वर्षकी अवस्थामें ही धर्मशास्त्रोंका अध्ययनकर आप अपना जीवन तदनुकूल बनानेकी चेष्टामें लग गये।

दस वर्षकी अवस्थामें आपको एक ऐसे महात्माका प्रसाद मिला जिसे पाकर आपको तीव्र वैराग्य जाग उठा। इसी विरक्तावस्थामें आप मथुरा, वृन्दावन, काशी प्रभृति तीर्थस्थानोंमें सद्गुरुकी खोजमें घूमते रहे, और अन्तमें निराश होकर लौट आये और पिताजीसे भगवत्प्राप्तिका मार्ग पूछने लगे । पिताके लाख समझानेपर भी आप अपनी निष्ठामें दृढ़ रहे।

ब्रह्मपिपास निरास जग, मत अवसर चल जाय। एक यही मन लालसा, राम मिलनको भाय॥घरपर आपको प्रकाश नहीं मिला। अतः पुन: आप सद्गुरुकी खोजमें निकले और सौभाग्यवश शाहदरा लाहौरके समीप ऐरावतीके तटपर वही सद्गुरु मिल गये जिनके नैवेद्यप्रसादसे आपको तीव्र वैराग्य जाग उठा

था। इनका नाम था श्रीस्वामी चैतन्यदेवजी। आपने गुरुसे दीक्षा लौ और बहुत समय आपके साथ व्यतीत किया।

आपको स्वामीजीने अणिमादि सिद्धियाँ भी दीं परन्तु आप इन सिद्धियोंको अत्यन्त हेय समझते थे। अध्यात्मकी प्यास सिद्धियाँ कैसे बुझा सकती हैं? स्वामीजी तो इनकी परीक्षा ले रहे थे। इसलिये अब इन्हें आत्मविद्याका अधिकारी समझकर ब्रह्मज्ञान बतलाया। मन निश्चल आतम-गति होई । जीव शीवमें भेद न कोई॥ ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देकर श्रीगुरुदेव अन्तर्धान हो गये।

कहा जाता है कि उसी समय आकाशवाणी हुईअब तुम आतमराम पछाना । भक्तजनोंको दीजो दाना॥ कर्म, भक्ति, ज्ञान बिस्तारहु । पतित जीव अब सभी उधारहु॥ भगवानका आदेश पाकर आपने अपने प्रमुख बाईस शिष्योंके साथ पंजाबके अतिरिक्त काबुल, गजनी, पेशावर, सूरत, देहली, कांधार प्रभृति देश-देशान्तरोमें भ्रमण करके भगवद्भक्तिकी विजयवैजयन्ती फहरायी। उस समय शाहजहाँ बादशाह था। उसके जेठे लड़के दाराशिकोहको बाबा लालदयालुजीके उपदेशोंका पता चला तो वह उनसे मिलनेके लिये विकल हो उठा। दाराके प्रेमपूर्ण पत्र पाकर स्वयं बाबा लालदयालुजी दारासे मिलने लाहौर गये।

वहाँ बहुत बड़ी सभा की गयी और दारापर बाबा लालदयालुका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। दारा और बाबा लालदयालुके बीच प्रश्नोत्तरके रूपमें जो सत्संग हुआ वह ' असररे मार्फत' के नामसे १९१२ ई० में लाहौरमें छप चुका है। आपको अनेकों सिद्धियाँ प्राप्त थी-जैसे आकाशमें उड़ना, गुप्त हो जाना, प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तिको जिला देना, इत्यादि-इत्यादि; परन्तु तो भी आप इन्हें आत्मज्ञानके सम्मुख सर्वथा हेय समझते थे।

योगिराज होनेके कारण आपने कायाकल्पके द्वारा तीन सौ वर्षोतक अपने शरीरको कायम रखा और अन्तमें वि० सं० १७१२ की कार्तिक शुक्ला दशमीको श्रीध्यानपुरमें ब्रह्मलीन हो गये। वहाँ आपकी समाधि अबतक भी है और वैशाखी दशमी तथा विजयादशमीको वहाँ बड़े भारी मेले लगते हैं। आपकी वाणीके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं-जाके अंतर ब्रह्म प्रतीत । धरे मौन, भावे गावे गीत॥ निसदिन उन्मन रहित खुमार । शब्द सुरत जुड़ए को तार॥

न गृह गहे, न बनको जाय । लालदयालु सुख आतम पाय॥ आशा बिषय-बिकारकी, बाँध्या जग संसार। लख चौरासी फेरमें, भरमत बारंबार॥

जिहँकी आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य। तिहँको नहिं कछु भर्मणा, लागै पाप न पून्य॥ देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव। जीवे भीतर बासना, किस बिधि पाइये पीव॥ हिन्दू तो हरिहर कहै, मुस्सलमान ख़ुदाय। साँचा सतगुरु जे मिलै, दुबिधा रहै न काय॥ जाके अंतर बासना, बाहर धरे ध्यान। तिहँको गोबिंद ना मिलै, अंत होत है हान॥

श्रीपाद श्रीवल्लभ

पिठापुर नामक स्थानमें आपललाजा नामक एक आपस्तम्बशाखीय ब्राह्मण रहते थे। सुमता नाम्नी इनकी धर्म-पत्नी थी। दोनों स्त्री-पुरुष बड़े धर्मनिष्ठ, आचारवान् और भगवान् श्रीदत्तत्रेयके परम भक्त थे। संवत् १४३५ के लगभग इनके एक पुत्र हुआ। इसका नाम था श्रीवल्लभ । श्रीवल्लभ जब सात वर्षके हुए तब उपनयन हुआ। इस समय एक बड़ी आश्चर्यमयी घटना घटी।

बालकको ज्यों ही गायत्री मन्त्रकी दीक्षा मिली त्यों ही उसके मुखसे चारों वेद निकलने लगे। लोगोंने यह निश्चय किया कि ये कोई “कारणिक अवतार' हैं। आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त आदि सब विषय ये लोगोंको बतलाने लगे और वेद-वेदान्तके गूढ़ आशय प्रकट करने लगे। जब ये सोलह वर्षके हुए तब इनके पिताने इनका विवाह करा देना चाहा। पिताकी ऐसी इच्छा जानकर इन्होंने पितासे कहा कि विरक्तिके साथ मेरा विवाह हो और उसे ही प्रभु अपनी सेवामें लेता है।

बाहरी एकान्त वास्तविक एकान्त नहीं । मनमें चिन्ता और शोकका प्रवेश न हो वही सच्चा एकान्त है। ऐसा एकान्तवास करनेवाला ही सच्या संगरहित है। मनको सदा वशमें रखो। यदि हृदय हाथमे होगा तो उसमें प्रवेश करनेको दूसरेको रास्ता ही नहीं मिलेगा।

जो मनुष्य ईश्वरपर विश्वास रखकर उसीकी प्रीतिके लिये धर्माचरण करता है, वही निर्भय है,चुका है, अब किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह करना ठीक नहीँ। मैं तपस्वीरूपसे उत्तरापथको जानेवाला हूँ | मातापिताने सोचा, ऐसे विलक्षण विरक्त, तपस्वी और ज्ञानी पुरुषको अपना पुत्र समझना ही भूल है। यह तो कोई अवतार ही है। यह सोचकर माता-पिता चुपचाप बैठ गये। इनके दो बेटे और थे, उनमें एक अन्धा था और दूसरा अपंग।

अपने इन दोनों भाइयोंकी ओर अमृतदृष्टिसे देखकर श्रीवल्लभने एकको दृष्टि दी और दूसरेको चलनेकी शक्ति, और दोनोंको ज्ञान । इसके बाद साधुजनोंको दीक्षा देनेके लिये ये उत्तरापथकी ओर चले। पहले काशी पहुँचे। वहाँसे बद्रीनारायण गये। वहाँसे लौटकर मार्गके तीर्थोको पावन करते हुए दक्षिणमें गोकर्ण और गोकर्णसे कुरवपुर पहुँचे और यहाँ कुछ लोगोंको वरदान देकर श्रीगुरु अदृश्य हो गये। यह कथा ' श्रीगुरुचरित्र ग्रन्थके अ० ५ और ९ में है।

सिद्धविद्या सर्वानन्दठाकुर

गत पाँच-छः सौ वर्षोमें पुण्यभूमि भारतमें जिन महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ, उनमेंसे सर्वानन्दठाकुरके समान छोटी उम्रमें, अल्प समयमें और बहुत ही थोड़े प्रयासे किसीने सिद्धि प्राप्त की हो, ऐसा जाननेमें नहीं आता। श्रीयुत शिवनाथ भट्टाचार्यकृत ' सर्वानन्दतरंगिणी ' नामक संस्कृत ग्रन्थके आधारपर यह परिचय लिखा जाता है। इस ग्रन्थमें लिखा है कि सर्वानन्दजीने पूर्वजन्मोंमें कठोर साधनाएँ की थीं और नीलाचल, विन्ध्याचल, बदरिकाश्रम, गंगासागर, काशी और कामाख्यामें भगवतीके साक्षात्कारके लिये देहत्याग किया था।

आप शक्तिके उपासक थे और परमहंसकी तरह नाना स्थानोंमें विचरण करते थे। किंवदन्ती है कि ये अब भी जीवित हैं और समय-समयपर इच्छानुरूप नये-नये शरीर धारण कर लेते हैं। किसी-किसी भाग्यवानूने इनके दर्शन भी किये हैं। तन्त्रशास्त्रके विख्यात पण्डित श्रीयुत जॉन उडरफसाहबने इस विषयमें अपने “शक्ति और शाक्त' ($॥॥६ and शत) ग्रन्थमें लिखा है-

दुर्भाग्यवश इन महापुरुषके जीवनकी बहुत-सी घटनाएँ हम नहीं जानते, और जो जानते हैं स्थानाभावसे वह सब प्रकाशित नहीं कर सकते। अतएव बहुत संक्षेपमें ही कुछ निवेदन किया जाता है।

'सर्वोल्लास' ग्रन्थके रचयिता सर्वानन्ददेव ही हैं। कहा जाता है कि आपने और भी दो तान्त्रिक ग्रन्थ लिखे थे। ऐसा भी सुननेमें आता है कि काश्मीरके रघुनाथमठमें “नवाह्नपूजापद्धति' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ और मध्यभारतमें 'त्रिपुरार्चनदीपिका' नामक ग्रन्थ सर्वानन्दके द्वारा रचित हैं।

त्रिपुरा जिलेके अन्तर्गत मेहार नामक गाँवमें सर्वानन्दका जन्म हुआ था और उनकी वंशसूचीके देखनेसे तथा मि० उडरफकी गणनाके अनुसार लगभग पाँच सौ चालीस वर्ष पूर्व इन महात्माका आविर्भाव हुआ था। इनके सिद्धिलाभका दिन पौष-संक्रान्ति, अमावस्या, शुक्रवार, वि० संवत् १४८२ है।

बर्दवान जिलेके पूर्वस्थली ग्राममें वासुदेव नामक एक तपस्वी ब्राह्मण गंगातटपर जप कर रहे थे। उनके प्रति देववाणी हुई कि बंगालके मेहार नामक स्थानमें तुम्हारा एक वंशज सिद्धि प्राप्त करेगा। उक्त ब्राह्मणको मेहारमें बसनेके लिये इच्छुक समझकर मेहारके तत्कालीन राजा उनको अपने ग्राममें आदरपूर्वक ले आये, तदनन्तर सर्वविद्यासम्पन्न वासुदेवने कामाख्यामें उत्कट तपस्या करके महामायाको सन्तुष्ट किया। परमेश्वरीने स्वप्नमें वासुदेवसे कहा कि ' मेहार नामक स्थानमें वृक्षके नीचे आधीरातके समय शवपर बैठकर अपने पुत्रके पुत्र अर्थात् पौत्र होकर साधन करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। बुद्धिमान् वासुदेवने अपने नौकर पूर्णानन्दको स्वप्नकी सब बातें कहकर पुत्रके पुत्ररूपमें जन्म लेनेकी कामनासे देहत्याग कर दिया, और थोड़े ही दिनों बाद उनका अपने पुत्र शम्भुनाथके घर पुत्ररूपमें जन्म हुआ।

शम्भुनाथके पुत्र सर्वानन्द पढ़ने-लिखनेकी कुछ भी परवा नहीं करते थे। एक दिन राजसभामें अमावस्याको पूर्णिमा बतला देनेके कारण पण्डितोंने सर्वानन्दका खूब मज़ाक उड़ाया। राजाने भी उनको सभामें आनेसे मना कर दिया। इस घटनासे अपमानित होकर दुःखभरे हृदयसे सर्वानन्द घर छोड़कर वनको चले गये। पढ़ना-लिखना सीखनेके लिये ताड्पत्र संग्रह करनेके उद्देश्यसे वे ताड़के वृक्षपर चढ़ गये।

वहाँ उन्हें एक भयानक साँप दिखलायी दिया। सर्वानन्द फुफकार मारते हुए साँपके फैले हुए फनको जोरसे पकड़कर उसका सिर ताड़की धारदार शाखासे घिसने लगे और घिसते-धिसते साँपके मर जानेपर उन्होंने उसे नीचे फेंक दिया। वृक्षके नीचे खड़े हुए एक संन्यासीने सर्वानन्दके इस असीम साहसपर मुग्ध होकर कहा--' मैं तुम्हारे सब मनोरथोंको पूरा कर दूँगा, तुम मेरे पास

चले आओ।' सर्वानन्द ने नीचे उतरकर संन्यासीको प्रणाम किया और अपनी सारी कथा सुना दी।

अवधूत संन्यासीने कहा 'वत्स! पढ़नेलिखनेकी तुम्हें कोई जरूरत नहीं है, मैं तुमको सब सिद्धियोंको देनेवाला मन्त्र प्रदान करता हूँ।' तदनन्तर भक्तवत्सल गुरु सर्वानन्दके कानमें महामन्त्र देकर और उनकी छातीपर साधनप्रणाली लिखकर अन्तर्धान हो गये। सर्वानन्दने अपने नौकर पूर्णानन्दको यह सब वृत्तान्त कह सुनाया। पूर्णानन्दने उनको यथासमय यथास्थानपर ले जाकर कहा "देखो! डरना नहीं, मेरी पीठपर बैठकर मूलमन्त्रका जप करते रहो।

देवी दर्शन देकर वर माँगनेके लिये कहें तो उनसे कह देना कि मैं कुछ भी नहीं जानता, मैं तो पूर्णानन्द जैसे कहता है वैसे ही करता हूँ।' यों उपदेश देकर पूर्णानन्द देहसे अपने प्राणोंको अलग करके निरालम्ब अवस्थामें रह गये, और साधकप्रवर सर्वानन्द उसके शवपर चढ़कर भक्तिके साथ इष्ट मन्त्रका जप करने लगे। तदनन्तर रात्रिके समय चन्द्र, सूर्य और अग्निकी भाँति उज्ज्वल प्रकाशमय एक परम ज्योतिने सर्वानन्दके हृदयसे निकलकर समस्त वनमें प्रकाश फैला दिया।

धीरे-धीरे उस ज्योतिमें सर्वानन्दने इष्टमूर्तिके दर्शन किये! देवीने कहा--' हे वत्स! आजसे तुम मेरे पुत्र हुए। जो मैं तुम्हें बही दूँगी।'-अद्यारभ्य मम त्वमेव नियतः पुत्रः प्रतिज्ञा कृता यस्मिन् यन्मनसि त्वमेव कुरुषे सम्पादनीयं मया। "अब तुम्हारी जो इच्छा हो सो वर माँगो।' देवीके वचन सुनकर शवासनसे उठकर सर्वानन्द देवीकी स्तुति करने लगे। फिर बोले-' मात: !

मेरे सभी मनोरथ आज आपके चरणकमलोंके दर्शनसे पूर्ण हो गये हैं, अगर आप और कोई वर देना चाहें तो मेरे इस सोये हुए नौकरके इच्छानुसार वर प्रदान करें। तदनन्तर देवीने पूर्णानन्दके सिरपर अपना चरणकमल रखकर उन्हें जागृत किया। देवीके चरणकमलोंका दर्शन कर पूर्णानन्दने विधिवत् स्तुति करके कहा-'माता! यदि हम लोगोंपर आपकी दया है तो अपने दशों प्रकारके श्रेष्ठ रूपोंका हमें दर्शन कराइये।' इसपर कृपापरवश हुई भगवतीने अपने कालिकादि दश महाविद्यारूपोंका उन्हें दर्शन कराया।

तदनन्तर अनेकों भाँति स्तवन करके पूर्णानन्दने कहा-'हे दुर्गामैया! तुम्हारे इस दास सर्वानन्दको राजसभामें अत्यन्त मूर्ख और पागल ठहरा दिया गया था, अब आप इनको सब विद्याओंसे सम्पन्न बना दीजिये। और इन्होंने

अमावस्याको पूर्णिमा कह दिया था, इसलिये हे माता! अब आज ही शेष रात्रिमें पूर्ण चन्द्रका उदय कराकर इसे पूर्णिमाकी रात्रि बना दीजिये।' भगवतीने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया और अपने नखचन्द्रकी ज्योतिके दर्शन कराकर वे अन्तर्धान हो गयीं।

सर्वानन्ददेव इसी समयसे सदानन्दमय, स्थिर, स्मृहाशून्य और गूँगे-से होकर विचरण करने लगे।

इस घटनाके कुछ दिनों बाद राजाने उन्हें एक दुशाला दिया। निःस्पृह सर्वानन्दने वह दुशाला एक वेश्याको दे दिया। इससे लोग उनकी बड़ी निन्दा करने लगे, तब सर्वानन्दने कड़ककर अपने भानजे षडानन्दसे कहा-- जाओ, अपनी मामीसे वह दुशाला तो माँग लाओ।' षडानन्द घर जाकर मामीको दुशाला देनेके लिये पुकारने लगे।

मामी उस समय घरमें नहीं थीं, भक्तवत्सला जगज्जननी दुर्गाने आविर्भूत होकर घरसे वैसा ही दुशाला लेकर षडानन्दको दे दिया। भगवतीकी परम शोभायुक्त छटा देखकर षडानन्द विस्मित और मत्त होकर भवितभावसे उनकी स्तुति करने लगे। घरसे वैसा ही दुशाला आया देखकर सबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। कुछ समय बाद सर्वानन्ददेब अपनी पत्नी वल्लभादेवीको मुक्तिका वरदान और पुत्र शिवनाथके कानमें सिद्धिमन्त्र देकर पूर्णानन्द और षडानन्दके साथ काशी चले गये।

सर्वानन्ददेव काशीके गणेशमहल्लेके शाखाशारदामठमें रहते थे, वहाँ बे 'अवधूत' के नामसे परिचित थे। वे काशीमें तान्त्रिक पद्धतिसे पंचतत्त्वोंकी साधना करते थे। काशीके दण्डी संन्यासियोंने उनका तन्त्राचार देखकर उन्हें काशीसे निकालनेकी चेष्टा की। परन्तु सर्वानन्दजीके योगैश्वर्यके प्रभावसे सब लोगोंको दब जाना पड़ा।

सर्वानन्ददेव काशीसे बदरिकाश्रम गये थे, ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः किस समय क्या हुआ था, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। लोग तो कहते हैं कि वे अबतक जीवित हैं। चन्द्रनाथके तपस्यापरायण महन्त गान्तिवन बाबाजीने सर्वानन्दके वंशज दुर्गाचरण ठाकुर महोदयसे कहा था कि हिमालयके किसी रम्य आश्रममें मुझको सर्वानन्ददेवके दर्शन हुए हैं।

उक्त बाबाजीके गुरुके सामने वे योगबलसे अपने पहलेके वृद्ध शरीरसे ज्योतिर्मय तरुण युवकके रूपमें निकलकर फिर अपने स्थानको चले गये थे। इस तरह उन्होंने बहुत बार नयेनये शरीर धारण किये हैं, ऐसा कहा जाता है।

इन अद्भुत महापुरुषको जीवनीपर विचार करते समय गीताका यह महावाक्य बार-बार याद आता है कि “सब धर्मोको छोड़कर एकमात्र मेरी शरण आ जाओ।'

भगवत्कृपाके लिये स्थान, वर्ण या आश्रमविशेषकी आवश्यकता नहीं है, न कोई एक निर्दिष्ट पथ ही है, जितने मत हैं उतने ही पथ हैं। जन्म-जन्मान्तरकी सुकृतिके फलस्वरूप विवेक, वैराग्य और अनन्य अनुरागका उदय होनेपर किसी भी क्षण भगवद्दर्शन हो सकते हैं।

श्रीपाद श्रीनृसिंह सरस्वती

संवत् १४६५ के लगभग श्रीनृसिंह सरस्वतीका जन्म हुआ। इनके पिताका नाम माधव था और माताका अम्बा भवानी । जन्मते ही इस अलौकिक बालकने ३ का उच्चारण आरम्भ कर दिया। उपनयनकालतक इस बालकके मुखसे प्रणवको छोड़ दूसरा कोई शब्द ही न निकला। कानसे सब सुनता था, मन-बुद्धिसे सब समझता था, पर बोलता कुछ भी न था। एक बार इन्होंने लोहेका एक छड़ उठा लिया, त्यों ही वह सोना हो गया। इससे अब लोग कहने लगे कि ये कोई “कुलदीपक कारणिक अवतार' हैं। नृसिंहका उपनयन हुआ, गायत्री-मन्त्र इन्होंने मन-ही-मन जपा।

यथाविधि मातासे जब इन्हें पहली भिक्षा मिली तब इनका मुँह खुला और 'अग्निमीळे पुरोहितं', 'इषे त्वा', 'अग्न आ याहि, “ये त्रिषप्ताः' इत्यादि चार वेदोंके चार मन्त्र इनके मुखसे निकले। इसके बाद ये भैक्ष्यचर्यका संकल्प करके घरसे चल देना चाहते थे। पर माताने बहुत आतुर हो इन्हें रोका। माताके आग्रहसे, उनके और दो पुत्र होनेतक, ये घर ही वेदपठन करते रहे। माताके इस बार यमज पुत्र हुए।

बस, फिर ये नहीं रुके। मातापिताको अत्यन्त व्याकुल देख इन्होंने अपना दत्तात्रेयरूप प्रकटकर उन्हें कृतार्थ किया। नृसिंह पहले काशी गये, वहाँ उन्होंने बड़ा कठिन तप किया। काशीमें उन दिनों कृष्ण सरस्वती नामक एक अति वृद्ध और महासमर्थ संन्यासी थे। उनकी ब्रह्मस्थिति देखकर नृसिंह बहुत प्रसन्न हुए और उन्हींसे इन्होंने संन्यासदीक्षा ली।

इसके पश्चात् इनके जीवनमें अनेक अद्भुत चरित्र हुए हैं। भिल्लबड़ीमें एक ब्राह्मण-बालक अपनी मूढ़तापर दुखी हो श्रीभुवनेश्वरी देवीके मन्दिरमें धरना दिये पड़ा था। नृसिंह सरस्वती महाराजने उसे बुद्धियोग देकर कृतार्थ किया। यहाँसे उठकर बे शिवा, भद्रा, कुम्भी, भोगावती और सरस्वती इन पाँच नदियोंके कृष्णा-पंचगंगासंगमपर (नरसोवाकी वाड़ी) गये और वहाँ बारह वर्ष रहे । एक दिन एक दरिद्र ब्राह्मणके द्वारपर लटकी हुई लताकी जड़ इन्होंने उखाड़ फेंकी तो गड़ा हुआ धन उस बेचारे ब्राह्मणको मिल गया।

शिरोलमें एक ब्रह्मराक्षसको इन्होंने गति दी, जिससे एक स्त्रीके बच्चे हो-होकर जो मर जाते थे सो जीने लगे। इसके बाद महाराज गाणगापुर पधारे। ब्रह्मपिशाचको गति देना, विप्रका दारिक्र्य नष्ट करना, वन्ध्या स्त्रीको पुत्र देना, बूढी और ठाँठ भैंसके दूध उपजाना, पतिव्रताके मृतक पतिको जिलाना, रोगियोंके रोग हरण करना, हृदयशूल, गण्डमाल, अपस्मारादि भयंकर रोगोंसे ग्रस्त मनुष्योंको दुःखमुक्त करना, साठ वर्षकी वन्ध्या स्त्रीको पुत्र देना, कोढ़ अच्छा कर देना, दरिद्रके द्वारा सहस्रभोजन कराना, घर बैठे सब तीर्थोंके दर्शन करा देना, एक ही समयमें अनेक शिष्योंके यहाँ भिक्षा करना इत्यादि अनेकानेक चमत्कार और उपकारप्रसंग इनके जीवनमें हुए।

इनका विस्तारपूर्वक वर्णन * श्रीगुरुचरित्र’ ग्रन्थमें है । एक बार बेदरके कोई सुलतान (सम्भवतः अलाउद्दीनशाह बहमनी) जंघामें एक बड़ा भयंकर फोड़ा होनेसे बहुत पीड़ित हुए। वैद्य और हकीम इलाज करते-करते हार गये, पर फोड़ा अच्छा नहीं हुआ। सुलतानने राजधानीमें रहनेवाले ब्राह्मणोंसे पूछा कि अब क्या उपाय करें। ब्राह्मणोंने कहा कि किसी संत-महात्माकी सेवा करिये तो उनकी दृष्टि पड़नेसे ही रोग दूर हो जायगा। ब्राह्मणोंकी सलाहसे सुलतान उसी समय पापविनाशतीर्थमें गये, वहाँ उन्होंने स्नान किया।

त्यों ही सामने एक यति प्रकट हुए और उन्होंने कहा कि भीमानदीके तटपर गाणगापुरमें एक परमपुरुष रहते हैं; उनके पास तुम जाओ, वे तुम्हारा कल्याण करेंगे। सुलतान गाणगापुर गये, वहाँ श्रीनृसिं सरस्वतीके उन्हें दर्शन हुए। दर्शन होते ही श्रीनृसिंह | हो गया, उसकी काया पलट गयी। उसने स्वामीके सरस्वतीने उससे पूछा, 'क्यों रे रजक! अबतक कहाँ चरणोंमें प्रार्थना की कि अब राज्यभोगसे छुड़ाइये और था?'

बस, इस आवाजके सुनते ही सुलतान अकस्मात् | अपने चरणोंमें रखिये। महाराजने उसका उद्धार किया महाज्ञानी हो गया, पूर्वजन्मकी सारी कथा

उसे याद आ गयी। वह श्रीनृसिंह सरस्वतीके चरणोंपर लोट गया और गद्गद होकर रोने लगा। उसका फोड़ा उसी क्षण नष्ट और इसके एक वर्ष बाद ही संवत् १५१५ में अपनी अवतारलीला समाप्तकर ' निजानन्दमें विराजमान' हुए।

पर्वत वैष्णव

ये भक्तराज नरसी मेहताके चचा थे। इनका यह नियम था कि रोज हाथमें तुलसीजीका गमला लिया और अपने गाँव माँगरोलसे भगवान्का नाम लेते हुए चल पड़े। पचास-साठ कोस दूर द्वारका जाकर, श्रीरणछोड़रायजीके चरणोंमें उसे रखके, दण्डवत् करके फिर अपने घर आ जाते थे। अपने घर केवल रातमें रहते और उसमें भी गमलोंमें तुलसी बोते और प्रातःकाल होते ही चल देते। अड़सठ वर्षतक इनका यह नियम चलता रहा। अब शरीर बुढ्ढा हो गया, बुखार आने लगा। बहू-बच्चोंने मना किया, फिर भी ये कब मानने लगे। इनका नियम अखण्ड रहा।

एक दिन थक जानेके कारण चार कोस दूर आजक गाँवके बाहर बावलीकी सीढ़ीपर ये सो गये। और स्वप्न देखा कि मैं भगवान् द्वारकाधीशकी सेवा कर रहा हूँ और वे प्रकट होकर कह रहे हैं कि “मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। अगहन शुक्ला षष्ठीको गोमतीको साथ लेकर तुम्हारे गाँवमें मैं ही आ जाऊँगा। अब यहाँ आनेकी आवश्यकता नहीं।' इतनेमें ही इनकी आँखें खुल गयीं। ये अपने भगवान्को देखनेके लिये व्याकुल हो उठे।

परन्तु न देख सकनेके कारण स्वप्नपर पूरा भरोसा न हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई और फिर वही बात दुहरायी गयी। अब पर्वतदासने भगवान्की आज्ञा शिरोधार्य की। लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। इधर एक कारीगरने, जिसका नाम वासुदेव था, पन्द्रह महीनेतक परिश्रम करके एक सिंहासन बनाया था, उसे लेकर पर्वतदासके घर आनेकी आज्ञा हुई। ठीक वि० सं० १५०० की अगहन शुक्ला षष्ठीके दिन चार घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते पर्वतदासके घरके पासकी बावलीमें दैवीजल एकाएक बढ़ने लगा और भगवान् श्रीरणछोड़राय प्रकट हुए। सब लोगोंने उनकी पूजा की, उसी सिंहासनपर भगवान् विराजमान हुए।

श्रीरणछोड्रायजीका वह प्राचीन विग्रह आज भी मांगरोलमें विराजित है, और सिंहासन भी वहीं मौजूद है। इनके प्रतापसे माँगरोल भारतका एक पवित्र तीर्थ हो गया है।मधुसूदन ये बंगाल प्रान्तके फ़रीदपुर जिलेके अन्तर्गत कोटालपाडा ग्रामके निवासी प्रमोदन पुरन्दरके तृतीय पुत्र थे। इनका पितृदत्त नाम कमलजनयन था।

इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायका अध्ययन किया था। वहाँसे काशीमें आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रम सरस्वतीसे वेदान्तका श्रवण एवं ब्रह्मचर्यसे ही सीधे संन्यास ग्रहण किया। फिर तो इन्होंने अद्वैत-सिद्धान्तके अनेकों ग्रन्थ बनाये, जिनके कारण दार्शनिक समाज इनका चिरऋणी रहेगा।

सरस्वती

ये अद्दैतवेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित एवं तत्त्वज् होनेपर भी केवल शुष्क निर्गुनियाँ नहीं थे बल्कि भगवान् श्रीकृष्णके पूरे भक्त थे। इनकी गीताकी टीका, भक्तिरसायन एवं भागवतकी अप्राप्य टीका इसके साक्षात् प्रमाण हैं।

इनके समयका अभी ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाया है, परन्तु मेरे विचारमें इनका जन्म ईसाकी सोलहवीं शताब्दीके चतुर्थ भागमें हुआ था और सन् १६५० तक ये विद्यमान थे। इनका यह श्लोक कितना सुन्दर और कितना भावपूर्ण है-- शीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् । पूर्णनदुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

मैंने अपने गुरुजनोंसे सुना था कि जब ये काशीमें रहते थे तब पहले इन्हें शा्त्रार्थकी बड़ी धुन थी। जो कोई आता उसीको ये अपने तर्क, युक्ति एवं शास्त्रके बलपर परास्त कर देते थे। इस प्रकार सैकड़ों विद्वान् इनसे अपमानित होकर दुखी हुए। एक दिन एक नंगे परमहंस इनके पास आये। इनका स्वागत-सत्कार स्वीकार करनेके पश्चात् उन्होंने पूछा--' स्वामीजी! आप असंग तो बनते हैं, परन्तु हृदयपर हाथ रखकर बताइये तो सही कि इन्हें जीतनेका घमंड आपको होता है या नहीं?

यदि होता है तो इन्हें दुखी करनेका पाप भी आपको लगेगा ही।' यों कोई दूसरा कहता तो सम्भव है, श्रीमधुसूदनजी हँसकर उसे फटकार देते। परन्तु उन परमहंसका कुछ ऐसा तेज था कि उनके वाक्योंसे ये प्रभावित हो गये और इनका मुख मलिन हो गया। उस समय परमहंसजीने इन्हें समझाया कि "भैया! यह पुस्तकोंका पाण्डित्य और युक्तियोंका प्राबल्य बहुत बड़ा विक्षेप है। उपासना करके इसे नष्ट न करोगे तो वास्तविक रसकी अनुभूति न होगी।'

फिर तो मधुसूदनजीने उनके चरण पकड़ लिये और उनसे मन्त्रदीक्षाके लिये बड़ी प्रार्थना की। उन दयालु संतने इन्हें श्रीकृष्णमन्त्र बताकर ध्यान और उपासनाकी पद्धति बतायी एवं कह दिया कि श्रद्धा-विश्वासके साथ उपासना करोगे तो तीन महीनेमें तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे इन्होंने परमहंसजीकी आज्ञा मानकर तीन महीनेतक उपासना की, परन्तु सफलता न हुई। इसपर इन्हें बड़ा उद्वेग हुआ और ये काशी छोड़कर निकल पड़े।

कपिलधाराके पास पहुँचनेपर इन्हें एक नीच जातिका साधारण-सा मनुष्य मिला। और उसने कहा-"स्वामीजी! लोग भगवत्प्राप्तिके लिये अनेकों जन्मतक उग्र तपस्या करते हैं और फिर भी उनके दर्शन बड़ी कठिनतासे प्राप्त होते हैं, आप तीन महीनेमें ही घबड़ा गये ?' यह सुनकर स्वामीजी तो आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने सोचा कि यह नीची जातिका देहाती आदमी मेरी उपासनाकी बात कैसे जान गया? फिर तो उनके हृदयमें स्फुरणा हुई और वे उसके चरणोंपर गिर पडे । उठनेपर देखते हैं कि इस रूपमें तो वही परमहंसजी हैं।

उन्होंने कहा--'इस बार तीन महीनेतक और प्रेमसे जप, ध्यान, पूजा एवं पाठ करो। अवश्य दर्शन होगा।' स्वामीजीने लौटकर वैसा ही किया और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुए। भगवान्की ही आज्ञासे उन्होंने गीतापर टीका लिखी, जिसमें कर्म, भक्ति एवं ज्ञानका सुन्दर वर्णन करके

समस्त साधनाओं, धर्मों एवं मार्गोंका शरणागतिमें उपसंहार किया गया है। उसके बादका जीवन इनका भक्तिमय ही रहा।

आपके लिखे हुए सिद्धान्तबिन्दु या सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरकव्याख्या, अद्वैतसिद्धि, गूढार्थदीपिका (गीताव्याख्या), अद्वैतरत्नरक्षण, प्रस्थानभेद, महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या, भक्तिरसायन और भागवतव्याख्या नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी। कुंज-केलि-दंपती तहाँकी करत खवासी॥ सरबसु महा प्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी। विधि निषेध नहिं, दास अनन्य उत्कट ब्रतधारी॥ श्रीव्यास सुवन पथ अनुसंरे, सोइ भले पहिचानिहैं। श्रीहरिबंस गुसाई भजनकी रीति सुकृत कोउ जानिहैं॥

मथुराके समीप, गोकुलके पास 'बाद' ग्राममें वैशाख शुक्ला ११ सोमवार संवत् १५३० प्रातःकाल अनन्य राधावल्लभीय सिद्धान्तके प्रवर्तक गुसाई श्रीहितहरिवंशजीका आविर्भाव हुआ। ये भगवान्‌की वंशीके अवतार माने जाते हैं। पिताका नाम केशवदास मिश्र, उपनाम 'व्यासजी' तथा माताका नाम तारावती

--नाभादासजीकृत भक्तमालसे | था। बाद गाँव मथुरासे चार मील दक्षिण है। वहाँ प्रति वर्ष स्वर्गीय लाला श्रीलाडिलीप्रसादजी लखनऊवालेकी ओरसे गुसाईंजीकी जयन्ती बड़े समारोहके साथ मनायी जाती है। व्यासजी असलमें सहारनपुरके समीपस्थ देवबन्दके निवासी थे। आपके घरके पुनीतकूपका चित्र इसके साथ दिया जाता है। ये बड़े पण्डित थे। बादशाहके साथ दौरेमें अपनी पत्नी तारावतीसहित घूम रहे थे, इसी समय बाद ग्राममें श्रीहितहरिवंशजीका प्राकट्य हुआ था। श्रीहितहरिवंशजीका बाल्यकाल और कौमार्य अलौकिक घटनाओंसे पूर्ण है। ' श्रीहितचरित्र' आदि ग्रन्थोमें आपके विविध चरित्रोंका वर्णन मिलता है । छः मासकी अवस्थामें ही आप ' श्रीराधासुधानिधि' ग्रन्थ कहने लगे थे। ' हितचौरासी' आपका अनुपम भाषाग्रन्थ है। बहुत थोड़ी अवस्थामें ही श्रीराधिकाजीने देवबनमें श्रीहितहरिबंशजीको गुरुमन्त्र दिया। इसके बाद विवाह हो जानेपर जब श्रीहितप्रभुको तीन सन्तान हो चुकीं तब श्रीराधिकाजीकी आज्ञासे वह श्रीवृन्दावननिवासके लिये घरसे चल पड़े।

उस समय इनके पास बस एक धोती और एक उत्तरीय वस्त्र था। श्रीहितहरिवंशजी जब श्रीवृन्दावनधामको जा रहे थे तब उन्हें मार्गे चिढ़थावल नामका एक गाँव मिला। वहाँ एक ब्राह्मणके यहाँ महादेवजीकी दी हुई प्रभुकी

एक बहुत सुन्दर मूर्ति थी। प्रभुने ब्राह्मणको स्वप्न दिया कि एक महात्मा श्रीवृन्दावनको जा रहे हैं और आज वह इसी गाँवमें अमुक स्थानपर ठहरे हैं। उन्हें अपनी दोनों कन्याएँ समर्पित करके हमारी मूर्ति दहेजमें दे दो।

इधर श्रीहितहरिवंशजीको भी स्वप्न हुआ कि इन दो कन्याओंको और अमुक ब्राह्मणकी दी हुई मेरी मूर्तिको अवश्य स्वीकार करे। भगवदिच्छा जानकर श्रीहितहरिवंशजीने उन दोनों कन्याओंको अंगीकार कर लिया और प्रभुमूर्तिको लेकर श्रीवृन्दावनको चल दिये। संवत् १५६५ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशीको गुसाईने वही श्रीराधावल्लभजीकी मूर्ति वृन्दावनमें मन्दिर बनवाकर स्थापित की | श्रीहितहरिवंशजीने श्रीवृन्दावनमें निवासंकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा संवत् १६०९ को रासोत्सवके दिन श्रीनिकुंजधामको गमन किया।

आप भूतलपर ७९ वर्ष विराजमान रहे। आपके चार पुत्र श्रीवनच श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीगोपीनाथ तथा श्रीमोहनचन्द्र श्रीहितप्रभुकी कोर्तिका विस्तार करते रहे। श्रीहितहरिवंशजीके रचे हुए संस्कृत ग्रन्थोमे श्रीमद्राधासुधानिधि, श्रीआशास्तव, चतुःश्लोकी, श्रीयमुनाष्टकस्तोत्र और राधातन्त्र मुख्य हैं। श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायके अनन्य उपासक श्रीभगवान्के “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।' को अपना एकमात्र मूलमन्त्र मानते हैं।

श्रीहितहरिवंशजी साक्षात् श्रीकृष्णकी वंशीके अवतार तो थे ही। आप श्रीराधाकृष्णके दिव्यप्रेमकी साक्षात् मूर्ति थे। परात्पर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कर लेनेपर आपने विधि-निषेधके झगड़े, कामिनी-कांचनका मोह और हरिविमुख धर्मको तृणवत् तोड़ दिया। इनके उपदेशका सारांश नीचे लिखे दो दोहोंमें समाविष्ट है।

श्रीगदाधर भट्ट

श्रीश्रीचेतन्य महाप्रभुके समकालीन श्रीगदाधर भट्ट अपनी मधुर उपासनाके लिये संत भक्तोंमें अग्रगण्य माने जाते हैं। आप हृदयके बड़े ही सरल थे। श्रीकृष्णके रसिक भक्त थे। सदा श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाके रसास्वादनमें डूबे रहते थे। एक दिन श्रीजीव गोस्वामीके आगे दो साधुओंने भट्टजीका

बनाया यह पद गाया-सखी, हौं स्याम रंग रँगी। देखि बिकाइ गई वह मूरति, सूरति माहि पगी॥ संग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोई।

जागेहु आगे दृष्टि परे सखि, नेकु न न्यारो होई॥ एक जू मेरी अँखियनमें, निसिद्योस रह्यो करि भौन। गाइ चरावन जात सुन्यो सखि, सो धौं कन्हैया कौन॥ कासो कहां कौन पतियावै, कौन करे बकवाद। कैसे कै कहि जात गदाधर, गूँगेको गुड-स्वाद॥ इस पदको सुनकर श्रीजीव गोस्वामीने उन साधुओंके हाथ भट्टजीके पास एक पत्र भेजा। उसमें यह श्लोक था--अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृन्दाटवी तत्पदाङ्काम्। असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः ?॥

यह श्लोक पढ़कर भट्टजी प्रेमावेशमें मूर्छित हो गये। संज्ञा आनेपर तुरंत सब कुछ छोड़-छाड़कर सीधे वृन्दावन चले आये। यहाँ आप श्रीमहाप्रभुजीके शरणापन्न हुए। आप श्रीमहाप्रभुजीके विशेष कृपापात्र थे। | गोस्वामीने आपको संक्षेपमें 'रसतत्त्व' बतलाया था, आपके निर्मल चरित्र एवं संतस्वभावके सम्बन्धमें श्रीनाभाजीका यह छप्पय प्रमाण हैसज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालै। निरमत्सर निष्काम कृपा करुणाको आलै॥

अनन्य भजन दृढ़ करन धर्यो बपु भक्तन काजै। परमधामको सेतु बिदित बृंदाबन गाजै॥ भागवत सुधा बरषै बदन, काहूको नाहिंन दुखद। गुणनिकर गदाधर भट्ट अति, सबहिनको लागै सुखद॥ आपके सम्बन्धमें कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, उनमें एक-दो यहाँ लिखी जाती हैं। भट्टजी बहुत सुन्दर कथा कहते थे, उनकी कथामें रसका प्रवाह बहता था। लोगोंकी आँखोंसे कथा सुनते-सुनते प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती थी। एक महन्त ऐसा था जिसके आँसू नहीं आते थे और इससे उसे बड़ी लज्जा मालूम होती थी।

एक दिन वह थोड़ी-सी पिसी हुई लाल मिर्चकी एक छोटी-सी पोटली बाँध लाया। जब कोई रसका प्रसंग आता, तभी उसे आँखोंपर फेर लेता जिससे आँखोंसे पानी निकलने लगता। पास बैठे हुए एक आदमीने इस चालाकीको समझ लिया। उसने कथा उठनेके बाद भट्टजीसे शिकायत की। उसने सोचा, भट्टजी महन्तकी यह करतूत सुनकर उससे घृणा करेंगे, परन्तु भट्टजीने इस बातको दूसरे ही रूपमें समझा और बोले कि 'तब तो वे बड़े महात्मा हैं, मैं अभी उनके दर्शनार्थ जाता हूँ।'

भट्टजी तुरंत महन्तजीके घर पहुँचे। भट्टजीको देखकर वह सोचने लगा कि हो-न-हो मेरी चाल इन्हे मालूम हो गयी है, न मालूम ये क्या कहेंगे। 'हे भगवन्! मेरा इतना कठोर हृदय क्यों किया जो किसी बातसे भी नहीं

पिघलता।' भट्टजी पहुँचते ही उसको प्रणाम करने लगे और बोले--महन्तजी! सचमुच आप बड़े महात्मा हैं, मुझे तो आपके उच्चभावका आज पता लगा। बिल्वमंगलजीने स्त्रीदर्शनसे दुःखी होकर आँखें फोड़ ली थीं।

आपने तो आँखोंको इसलिये दण्ड दिया कि वे भगवान्‌के गुणानुवाद सुनकर भी आँसू नहीं बहातीं। धन्य है आपको और आपकी भक्तिको ! भट्टजीकी सरल वाणी सुनकर आज सचमुच महन्तका हृदय पिघल गया और उसकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली । दोषमें गुण देखना इसीका नाम है-संतका यही स्वभाव है। एक दिन रातको भट्टजीके घरमें एक चोरने सेंध लगायी, मालमतेकी गठरी बाँधकर चोर ले जाना चाहता था परन्तु गठरी बहुत भारी हो गयी थी, वह उठा नहीं सकता था। इतनेमें भट्टजी लघुशंकाको उठे और चोरकी यह दशा देखकर उन्हें बड़ी दया आयी ।

उन्होंने प्रेमसे कहा--' लो, मैं उठाये देता हूँ।' चोरने भट्टजीको देखते ही भागना चाहा। भट्टजीने उसे आश्वासन देते हुए कहा--' भैया! भागते क्यों हो? कोई डर नहीं है, तुम्हें जरूरत थी, इसीसे इतनी अँधेरी रातमें तुम इतने कष्टसे लेने आये हो!' चोर लज्जित हो गया। भट्टजीके बड़े आग्रहसे चोर गठरी अपने घर ले गया परन्तु उसका मन बदल चुका था। वह सबेरै गठरी लेकर लौटा और भट्टजीके चरणोंपर गिरकर रोने लगा। भट्टजीने उसे हृदयसे लगा लिया। चोरका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। बह सदाके लिये साधुचरित्र हो गया।

त्याग, अनुराग और प्रेमाभक्तिकी तो आप मूर्ति ही थे। श्रीराधारानीके सम्बन्धमें आपका परम मधुर पद यहाँ दिया जा रहा है। इससे उनके हृदयकी सरसताका पता चलता।

जगन्नाथदास

भक्त जगन्नाथदासका जन्म सन् १४९० ईसवीमें भाद्रपद शुक्ला ८ के दिन अनुराधा नक्षत्रमें श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रसे पश्चिमकी ओर छः मीलकी दूरीपर कपिलेश्वरपुर नाम अग्रहारमें हुआ था। इनके पिताका नाम भगवानदास और माताका नाम पद्मावती था। भगवती श्रीराधा और श्रीदुर्गाका प्राकट्य भी इसी तिथिको हुआ था। इसलिये वैष्णवलोग इन्हें नररूपमें श्रीराधाका

अवतार और शाक्तलोग श्रीदुर्गाका अवतार मानते हैं। इनके शरीरमें महापुरुषोंक सभी लक्षण विद्यमान थे। इनके माता-पिताने श्रीनीलाचलनाथके नामपर इनका नाम जगन्नाथदास रखा।

जगन्नाथदास बालकपनसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे। सोलह वर्षकी अवस्थामें ये वेद-वेदांग तथा दर्शन आदि शास्त्रॉमें निष्णात हो गये। इन्हें प्रारम्भसे ही भगवच्चरित्रोंके पढ़ने-सुननेका बड़ा शौक था। ये प्रतिदिन श्रीरामायण और श्रीमद्भागवतकी कथा कहा करते थे और बहुत-से लोग इनकी कथा सुननेके लिये एकत्रित हुआ करते थे। धीरे-धीरे इनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। एक दिन उड़ीसाके राजा पुरुषोत्तमदेवने इन्हें अपने यहाँ बड़े आदरके साथ बुलाया।

राजा पुरुषोत्तमदेवजी भगवान्के बड़े भक्त थे। उन दिनों जगन्नाथदास श्रीमद्भागवतका उड़ियामें भाषान्तर कर चुके थे। राजाने श्रीजगदीशके मन्दिरके दक्षिण भागमें मुक्तिमण्डपके निकट, जहाँ प्रायः विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुआ करते थे, जगन्नाथदासजीसे श्रीमद्््भागवतकी कथा सुननेका आयोजन किया और बहुत दिनोंतक वह क्रम जारी रहा।

इनका आश्रम समुद्रके तटपर बना हुआ है। उसे सतलहरी मठ कहते हैं। उसके सम्बन्धमें यह प्रसिद्धि है कि एक दिन जगन्नाथदास भजनमें लवलीन हो रहे थे, उस समय समुद्रने बड़ी गर्जना की जिससे जगन्नाथदासजीके भजनमें विक्षेप हुआ। तब जगन्नाथदासजीने समुद्रको आज्ञा दी कि तुम इस आश्रमसे सात लहरके अन्तरपर रहो। समुद्र उसी समय वहाँसे हट गया और तभीसे इनका मठ सतलहरीके नामसे प्रसिद्ध हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा पुरुषोत्तमदेवका देहान्त हो गया और उनके पुत्र महाराज प्रतापरुद्रदेव सिंहासनासीन हुए। ये भी अपने पिताकी भाँति जगन्नाथदासका बड़ी आदर करते थे। इन्होंने जगन्नाथदासजीके लिये उड़ियामठ नामका एक मठ बनवा दिया जो नीलाचलक्षेत्रसे पश्चिमकी ओर विद्यमान है। प्रतापरुद्रदेव श्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्त थे। उन दिनों श्रीचैतन्य महाप्रभु पुरीमें ही विद्यमान थे। राजाने उनसे प्रार्था की कि आप हमारी रानीको मन्त्रोपदेश दीजिये।

इसपर श्रीचैतन्यदेवने राजासे कहा कि भक्त जगन्नाथदास इसके अधिक उपयुक्त हैं, रानीसे कहो कि वे उन्हींसे दीक्षा लें। इसपर राजाने कहा कि रानी किसी पुरुषसे दीक्षा ले यह मुझे पसंद नहीं है। तब श्रीचैतन्यने उनसे कहा कि

जगन्नाथदासके शरीरपर स्त्रियोंक चिह्न हैं। तब जगन्नाथदास राजाने रानीको श्रीचैतन्यके आज्ञानुसार उन्हींसे मन्त्रोपदेश दिलवाया।

एक दिनकी बात है, राजा प्रतापरुद्रदेवने जगन्नाथदासको कुछ बढ़िया चन्दन अर्पण किया। जगन्नाथदासने उसे ले जाकर एक दीवालपर पोत दिया। राजाने जब यह बात सुनी तो उन्हें मनमें कुछ उद्‌देग हुआ और उन्होंने जगन्नाथदाससे इसका कारण पूछा। जगन्नाथदासने उत्तर दिया कि मैंने वह चन्दन भगवद्‌भावसे ही दीवालपर लगाया था, यदि तुम्हें विश्वास न हो तो जाकर देखो वह चन्दन तुम्हें भगवान्‌के विग्रहपर लगा हुआ मिलेगा।

राजाने स्वयं मन्दिरमें जाकर देखा तो उन्हे जगन्नाथदासके कथनानुसार वही चन्दन भगवान् श्रीजगन्नाथजीके श्रीविग्रहपर लगा हुआ मिला। इसपर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उस दिनसे वे जगन्नाथदासका और भी अधिक आदर करने लगे। एक दिन राजा प्रतापरुद्रदेव जगन्नाथदाससे भागवतकी कथा सुन रहे थे, उस समय उन्हें जगन्नाथदास अष्टभुजरूपमें दिखायी दिये। उनके छः हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्‌म, धनुष और बाण थे और दो हाथोंसे वे वंशी बजा रहे थे। इस दृश्यको देखकर | बड़े चकित हुए और उस दिनसे इन्हें ईश्वररूप ही मानने लगे।

जगन्नाथदासके संस्कृत और उड़ियामें कई ग्रन्थ मिलते हैं। संस्कृतमें उन्होंने कृष्णभक्तिकल्पलतामाला,नित्यगुप्तमाला, उपासनाशतक, प्रेमसुधाम्बुधि, नित्याचारादिदीक्षोपासनाविधि, श्रीराधारसमंजरी, नीलाद्रिशतक और जगन्नाथचरिताम्बुधिसाराणि नामक ग्रन्थ रचे और उड़्यामें शोलो चौपोथी, शैवागमभागवत, सत्संगवर्णन, गुण्डूचविजय, गोलोकसारोद्‌धार, श्रीराधाकृष्णमहामन्त्रचन्द्रिक, अद्‌भुत चन्द्रिका, नीलाद्रिचन्द्रिका, पूर्णमतचन्द्रिका, रसकल्पचन्द्रिका और श्रीमद्‌भागवत, ये ११ ग्रन्थ लिखे।

महात्मा जगन्नाथदास गोस्वामीने साठ वर्षकी अवस्थामें माघ शुक्ला ७ के दिन यह नश्वर शरीर त्याग दिया और भगवान् महाविष्णुकी ज्योतिमें लीन हो गये। मृत्युके समय इन्हें कुछ लोगोंने भगवानके रत्नसिंहासनके समीप देखा, कुछ लोगोंने अपने भजनागारमें भजन करते हुए पाया, कुछ लोगोंने सड़कपर घूमते हुए पाया, कुछ लोगोंने मुक्तिमण्डपके पास वटवृक्षके नीचे बैठे हुए देखा और कुछ लोगोंने उन्हें अपने मठमें खड़े हुए पाया।

इस बातको देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु जिन भक्तोंने मायाके अधीश्वर भगवानको वशमें कर लिया उनके लिये यह बात कोई आश्चर्यकी

नहीं समझनी चाहिये। श्रीचैतन्यदेव इन्हें ' अतिवादी ' (महान्के भी महान्) कहा करते थे, और इनके अनुयायी आज भी अतिवादी नामसे पुकारे जाते हैं। इनके भागवतका उड़ीसामें बड़ा आदर है । सुनते हैं श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े प्रेमसे इनकी भागवत सुना करते थे।

विश्वासी भक्त गंगाधरदास

उत्कल देश पुरुषोत्तमक्षेत्र अर्थात् जगदीशमें राजा प्रतापरुद्रके समयमें गोविन्दपुर ग्राम एक प्रधान तीर्थस्थल था। उसी गोविन्दपुरमें हमारे चरितनायक परमपूज्य भक्त श्रीगंगाधरदासजीका निवासस्थान था। उनकी स्त्रीका नाम 'श्रिया' जी था। ये परम सती और साध्वी थीं, स्वामीकी प्रिय थीं; पर इनके कोई सन्तान न थी। ये जातिके बनिये थे। सन्तान न होनेपर भी इनको कोई सोच न था। भक्त गंगाधरजी 'पसरा' बेचकर अर्थात् साधारण वाणिज्य-व्यापार करके जीविकानिर्वाह करते हुए श्रियाजीसहित भगवद्भजनमें ही अपना जीवन बिताते रहे।

संतसेवा करते हुए बहुत दिन बीत गये, वृद्धावस्था आ गयी। एक दिनकी बात है कि ग्रामवासियोंके तानोंसे चित्त दुःखित हो जानेसे साध्वी स्त्रीने अपने पतिसे कहा कि ' जहाँ-तहाँ घर-बाहर गाँवकी स्त्रियाँ मुझे ताने मारा करती हैं और ' अंठकुडी' (अर्थात् जिसका मुँह न देखना चाहिये, मनहूस) कहा करती हैं, कोई-कोई तो मेरे सामने भी नहीं आतीं; कोई-कोई सामने भी यदि आ गयीं तो बोलती नहीं और कोई-कोई बड़े तेहेसे कह उठती हैं कि इसका मुँह देख लिया आज न जाने क्या अमंगल होगा, इत्यादि-इत्यादि।

पर हमारे भाग्यमें तो सन्तान है ही नहीं, चाह करनेपर भी कैसे मिल सकती है। हाँ, एक बात सम्भव है, वह यह कि आप किसी एक ब्राह्मणबालकका यज्ञोपवीत करा दीजिये, विवाह कर दीजिये। अथवा किसी दरिदट्रकुलका कोई लड़का मोल लेकर उसको पुत्र मानकर पालिये, उसीको गोद ले लीजिये।' पत्नीके शोकभरे इन वचनोंको सुनकर गंगाधरजीने उसे ढाढ़स दिया और बोले कि हम निश्चय ही आज ही एक लड़का ले आवेंगे तुम उसे पुत्रवत् पालन करना, और यह कहते हुए कुछ रुपये लेकर वे वहाँको चले जहाँ अर्चाविग्रह निर्माण होते थे।

कुछ धन देकर वे श्रीकृष्णजीकी सर्वलक्षणसम्पन्न एक प्रतिमा लेकर घर आये और श्रियाजीको वह विग्रह देकर कहा कि “इसकी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा करती रहो, इससे इस लोकमें निर्वाह, लोकापवादसे मुक्ति और परलोकमें भवबन्धनसे मुक्ति मिलेगी। देखो, प्रिये! इन्हीं कृष्णसे यशोदामाईने पुत्रभाव रखकर अपना उद्धार कर लिया। ब्रह्मादि देवता भी इन्हींका भजन करते हैं, इन प्रभुको छोड़कर जीवका उद्धार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, तुम्हारी समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाले ये श्रीकृष्ण हैं।' पतिदेवकी आज्ञा मानकर श्रिया भगवान् श्रीकृष्णके अर्चाविग्रहका मार्जन-स्तान कराके उन्हें सिंहासनपर पधराकर उत्तम-उत्तम भोग लगाती है।

वह मन-हीमन विचार करके कि बहुत दिनपर हमें पुत्र मिला है, हमलोग इन्हें देखकर सुखपूर्वक रहेंगे और शरीरपात होनेपर इनकी कृपासे हमें मुक्ति भी मिल जायगी, सेवामें बहुत ही आनन्दित होती। जैसे माताको अपने छोटे बच्चेका लाड-प्यार-दुलार अत्यन्त भाता है वैसे ही इन अर्चाविग्रहरूप शिशुके दुलार-प्यार-सेवामें श्रियाका नित्य नया चाव बढ़ता ही जाता था। वह तेल-फुलेलकुंकुम आदि लगाकर मंजन-स्नान कराती, कपूरचन्दन लेपकर नाना प्रकारके अलंकारोंसे अपने प्रिय पुत्रको विभूषित करती, गरज कि माता जैसा लाडले शिशुकी सेवा करती है ठीक उसी प्रकार वह प्यारे शिशु कृष्णकी सेवा करती। कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना ।

मातु दुलारै कहि प्रिय ललना॥ लै उछंग कबहुँक हलरावै । कबहुँ पालने घालि झुलावै॥ प्रेममगन कौसल्या निसदिन जात न जान। सुत सनेहबस माता बालचरित कर गान॥ यही दशा भक्तिमती श्रीश्रियाजीकी हो रही है। जो द्रव्य प्राप्त होता उसे पहले पुत्रको निवेदन करती, तब भक्त दम्पती भोजन करते। बिना अर्पित जलतक छूते न थे, पीनेकी कौन कहे। भक्त गंगाधरजीका भी वात्सल्य श्रियाजीसे किसी भाँति कम न था। कोई भी ऐसी वस्तु ग्राममें बिकने आती जो बच्चोंको प्रिय लगती है और जिसको बच्चे माँसे हठ करके लिया करते हैं, गंगाधर स्वयं ला-लाकर वत्स कृष्णको भोग लगाते।

हाटसे पुत्रके लिये मीठे-मीठे पदार्थ तुरंत पुत्रके पास लाकर निवेदन करते। माता निरन्तर बच्चेको गोदमें रखती, एक क्षण भी अलग करना न चाहती। पुत्रके लिये रसोई बनानेके समय भी उसका चित्त पुत्रमें ही लगा रहता, क्षण-क्षणपर रसोई छोड़कर पुत्रको देखने चली आती और देखकर सुखी होती, फिर जाती फिर आती। कभी-कभी आकर गोदमें जोरसे चिपटाकर कहती, “मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुझे अकेला छोड़कर चली जाती हूँ।' यह कहकर माता श्रीकृष्णका मुख चुम्बन करती, उनका सिर सूँघती।

पुत्रस्नेह छोड़कर दम्पतीका सांसारिक पदार्थोंमें भूलकर भी चित्त न जाता था। पुत्रपर पिताका भाव मातासे अधिक था। इस तरह वात्सल्यभावमें पगे हुए दम्पतीको बहुत काल बीत गया। एक दिन गंगाधरजीने स्त्रीसे कहा “मैं हाट जाता हूँ, मेरे कृष्णकी देखभाल करती रहना, इसकी सेवा तेरे जिम्मे है।

देख, एक क्षण भी इसे अकेला छोड़कर कहीं जाना नहीं'--ऐसा कहकर उन्होंने पुत्रसे भी इसी प्रकार वात्सल्यभरे स्नेहपगे वचन कहे और उसके चरणोंमें चित्त देकर वाणिज्यके लिये गये। थोड़े ही दिन बीते थे कि पुत्रवियोगमें उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल होने लगा, उनको एक-एक क्षण कल्पसमान बीतने लगा, उसके वियोगसे चित्त अति क्षुब्ध रहता अतएव उन्होंने बहुत शीघ्रता की और कुछ अपूर्व फल, मिष्टान्न, पक्वान्न, जो गोविन्दपुरमे नहीं मिलते थे, लेकर घर लौट चले। पुत्रदर्शनकी लालसामें वृद्ध गंगाधर सुध-बुध खोये उतावलीमें चले जा रहे हैं, इनके मन-ही-मन अनेक मनोरथ उठ रहे हैं, घर पहुँचकर पुत्रके दर्शन करूँगा, उसको यह-यह पदार्थ एक-एक करके निवेदन करूँगा, कभी गोदमें लेकर चुम्बन करूँगा, कभी उसपर सर्वस्व निछावर करूँगा, राई-नोन उतारूँगा, मिष्टान्न अपने हाथसे पवाऊँगा, बारंबार उसकी बलैया लूँगा इत्यादि।

इस प्रकार वात्सल्यभावमें छके हुए रास्तेमें चले जा रहे थे कि ग्राममें प्रवेश करते ही एकाएक ठोकर लगनेसे पैर लड़खड़ाया और आप जमीनपर गिर पड़े, और उसी क्षण शरीररूपी पिंजड़ेसे प्राणपखेरू उड़ गया। प्राण निकलते समय विरहाग्नि उनके हृदयमें धधक रही थी, सहसा उनके मुखसे यह वचन निकल पड़े-'हा बेटा कृष्ण! मैं तुझे देख न पाया। मैं बड़ा ही पापी हूँ।' कृष्ण-कृष्ण कहते हुए उनका शरीर छूट गया। प्रामवासियोने शरीश्रियाजीको खबर दी। वह सती उस समय पुत्रके लिये भोजन बना रही थी। पतिका शोकसमाचार सुन भयभीत होकर शोकसे आतुर वह पुत्रके पास पहुँची और यों पुकार करने लगी-अरे मेरे कृष्ण! अरे मेरे कृष्ण! तू तो अरक्षितका भाई है, दीनोंका मित्र है, वंशीधर है, जगत्को मोहित करनेवाला है।

अरे! तेरा पिता राहमें मर गया, मैं क्या करूँ। अरे! पुत्र! तुझसे पूछती हूँ तू मुझे बता मैं क्या करूँ? चक्रधर, विश्वम्भर, वैकुण्ठनिवास, अन्तर्यामी, सबके हृदयमें बसनेवाले, सबके जीकी जाननेवाले, भावके पहचाननेवाले, स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तके वशमें रहनेवाले भक्तवत्सल भगवान् माताके वचन सुनकर उनकी भक्तिके वश होकर उनके पुत्रभावको पूर्ण करनेके लिये कहने लगे--'माता! तुम निश्चिन्त रहो, क्यों चिन्ता करती हो? मेरे पिता मरे नहीं हैं। वे श्रान्त होकर पत्थरपर रास्तेमें सो गये हैं, तुम जाकर उनको

उठाओ और कहो कि पुत्रको अकेला छोड़कर यहाँ क्यों पड़े हो? चलो पुत्र बुला रहा है।'

पुत्रके वचन सुनते ही वह पतिके पास गयी, देखा कि उनके शरीरमें प्राण नहीं हैं। पर क्या करती? कृष्णकी आज्ञा थी, इसलिये उनके मस्तकपर हाथ रखकर कहने लगी "प्राणनाथ! मैं पुत्रको अकेला छोड़कर यहाँ चली आयी, मेरे साथ कोई नहीं है, अब तुरंत चलिये; देखिये, हम लोगोंकी तो पुत्रसेवा ही सर्वस्व है।' यह सुनते ही वह इस तरह उठकर बैठ गये जैसे कोई सोकर उठे। आँख मलते हुए उठ बैठे और पूछा "बताओ, तुम यहाँ क्यों आयी? अरे! मेरा लाल कृष्ण कहाँ है, उसे अकेला कहाँ छोड़ आयी ?'

उसने सब हाल बता दिया, तुरंत ही दम्पती ' कृष्णकृष्ण' स्मरण करते हुए पुत्रके पास आये। गंगाधरने तुरंत ही सबसे पहले सब फल-मिष्टान्न पुत्रको निवेदन किये, पुत्रके दर्शन पा वह आनन्दमें फूले न समाते थे। उस निरतिशयानन्दमें दम्पती देहसुध भूलकर पुत्रको गोदमें ले-लेकर उसका मुख चूमने लगे। भक्त-दम्पती एकसे एक गोदमें लेते, बार-बार हदयसे लगाते, प्यार करते, हदयसे पृथक् न करते---अब वे दोनों पुत्रकौ पहलेसे कोटिगुण अधिक सेवा करने लगे। रात्रिमें जब शयनका समय आया, वात्सल्यमें विहल होकर भक्त गंगाधर कहने लगे-'ऐ मेरे लाल! तेरा वियोग मुझसे सहा नहीं जाता।

पेटकी ज्वाला ऐसी प्रबल है कि बिना उसको आहुति दिये काम नहीं चलता, भोजन बिना रहा नहीं जाता और उसके कारण बाजार जाना और व्यापार करना ही पड़ता है।' पिताके वचन सुनकर अन्तर्यामी भगवान् मुसकुराकर कहने लगे-- पिताजी ! आप चिन्ता न करें, मुझ-सरीखे पुत्रके रहते आपको किसका भय है! आपने जो कामना की है वह पूर्ण होगी। आपका घर धन-धान्यसे पूर्ण हो जायगा, इसमें किंचित् संशय नहीं।' दिव्य स्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर इस प्रकार कहकर फिर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

घर धनधान्यसे पूर्ण हो गया, पर भगवान् चले गये, सिंहासन खाली हो गया। सच कहा है-जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम। सिंहासन खाली देख दम्पतीके होश उड़ गये, वे पृथ्वीपर गिरकर अपनेको हतभाग्य मानकर बड़ा क्रन्दन करने लगे-उस दशामें पड़े पुत्रका स्मरण कर-कर कहते हैं-*हाय, मेरे लोभके कारण कृष्णने हमारा त्याग किया। अरे मेरे लाल! हम सब तो अज्ञानी हैं, हममें ज्ञान नहीं है, इसीसे मुझसे भूल हुई, पर प्यारे लाल! तूने क्यों भूल की? अच्छा गये थे तो भी हर्ज नहीं, पर हमें क्यों न साथ ले लिया।

लाल! तेरे वियोगमें यह पापी प्राण रहकर क्या करेगा--.।' इस तरह करुणापूर्ण विलाप करते हुए और श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते हुए गंगाधरने शरीर छोड़ दिया। सत्य प्रेमकी जय! भक्त गंगाधरकी जय!

पतिने शरीर छोड़ दिया, यह देख श्रियाने उसके शरीरको गोदमें ले लिया और पुत्रका स्मरण करती हुई सोचने लगी कि मैं भी यह क्षणभंगुर देह रखकर क्या करूँगी ? सतीधर्मका अनुकरणकर सवेरे ही सती हो जाऊँगी। सोचमें निमग्न रात बीती, सवेरा हुआ। उधर उसने सारा धन लुटा दिया, घरमें कुछ भी न रखा। फिर चिता बनाकर अग्नि लगाकर उसमें पतिको गोदमें लेकर प्रवेशकर कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करती हुई सती हो गयी।

श्रीलक्ष्मीजीसहित श्रीमन्नारायण भगवान् विमानपर उसी जगह आ पहुँचे, अग्निसे दम्पती निकलकर दिव्य शरीरसे उस विमानपर सवार हो वैकुण्ठको गये। लोगोंको केवल यह दीख पड़ा कि बिजलीका-सा प्रकाश आकाशमें छाया है। थोड़े ही क्षण बाद वह प्रकाश नेत्रोंके आगेसे गायब हो गया। सब एक स्वरसे "धन्य धन्य' कहकर चिल्ला उठे। धन्य! धन्य! धन्य! जय! जय! जय! भक्तमालकार कथा समाप्तकर कहते हैं "विश्वास प्रधान है, बिना विश्वासके कोई फलीभूत नहीं होता। प्रार्थना है कि मेरे सिरपर संतोंका चरणरज निरन्तर पड़ता रहे। प्रिय भ्रातृगण! साधु और भगवान् यही दोनों एकमात्र सखा मनुष्यके हैं, जब ये कृपा करते हैं तभी आकर प्राप्त होते हैं। बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

गायक संत त्यागराज (लेखक--स्वामी श्रीअशेषानन्दजी)

त्यागराज दक्षिणभारतके सबसे महान् और लोकप्रिय गायक हुए हैं। जो स्थान उत्तरभारतमें सूर, तुलसी और मीराके पदोंको प्राप्त है वही दक्षिणमें त्यागराजके गीतोंको प्राप्त है। सहस्नोंकी संख्यामें उन्होंने गीत-रचना की और उनमें निश्छल (ईश्वर-) प्रेमका स्वर्गीय संगीत भर दिया। केवल पद

रचनाकी ओर उनका उत्साह नहीं था, उनका लक्ष्य तो था संगीत विद्याका उत्थान। राग और लयके वे मर्मज्ञ आचार्य हुए।

उनके पहले संगीतमें शैली (तर्ज) और शब्दकी प्रधानता हो रही थी, जो उसके बाह्य अंग-मात्र हैं। उसका अन्तरंग तो है राग और लय। इन्हींका समावेश कर उन्होंने संगीत-विद्याको अपूर्व सौन्दर्य और शोभा प्रदान की। फलतः उन्हें 'संगीत-गुरु' की उपाधि प्राप्त हुई ।

ऐसा देखा गया है कि किसी भी मानवीय विद्या या कलाका उत्थान प्राय: धर्मका आश्रय लेकर ही हुआ है। यूनानकी जगतुप्रसिद्ध खौष्ट और मेरीकी मूर्तियाँ, रोमके विशाल गोथिक गिरजाघर, भारतवर्षके भक्तिकाव्य, ये धार्मिक विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली कृतियाँ हैं जिनकी समता अन्यत्र नहीं हो सकती। इसका कारण यही है कि धर्मकी सच्ची जागृति होनेपर मानव मन और बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत हो उठते हैं और उस अवस्थामें की गयी रचना शुद्ध और स्वच्छ हुआ करती है।

जीवनके स्थायी सौन्दर्यकी ओर, जिसमें व्यक्तिगत लाभालाभका विचार नहीं रहता, सारी चित्तवृत्तियां उन्मुख हो जाती हैं। यही चित्तवृत्ति संगीत-गुरु संत त्यागराजकी भी थी।सारे सांसारिक प्रलोभनोंसे चित्तको हटाकर उन्होंने उसे परमात्माकी ओर लगाया था। उनके अनुपम त्यागकी कथाएँ--जिनसे वे त्यागराज कहलाये--दक्षिणमें अब भी प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, एक बार तंजौरके महाराजने अपना दूत भेजकर उन्हें दरबारमें बुलाया । उनकी इच्छा ऐसे पद सुननेकी थी जिनमें स्वयं उनकी गुणगाथा गायी गयी हो।

किन्तु त्यागराजने ऐसा करना दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होंने राजदूतसे कहा--' धिक्कार है भूमि या स्वर्गादि द्रव्यको। यदि उन्हें ही मैं मूल्यवान् समझता तो श्रीरामकी सोनेकी मूर्ति बेचकर मैं मालामाल हो गया होता और दुनियाके सारे सुख-भोग मेरे करतलगत हो गये होते। मेरा मन ऊपरके सुनहले रंगपर नहीं रीझ सकता, वह तो रीझा है अन्तसूकी सुघराईपर, भीतरके दिव्य स्वरूपपर ! इन्हीं प्यारे रामके मोहमें फँसकर मैंने उनकी सोनेकी मूर्ति नहीं बेची ।

उन्हें छोड़कर मैं किसी धनाभिमानी राजाको प्रसन्न नहीं कर सकता।' यह सुनकर राजदूत अपने स्थानको लौट गया।रामको सोनेकी मूर्ति त्यागराजको घरके बँटवारेमें मिली थी। उसकी कथा इस प्रकार है कि जब त्यागराजके धार्मिक पिताका शरीरान्त हो गया तब घरकी सम्पत्ति दोनों भाइयोंमें बाँट ली

गयी । त्यागराजका बड़ा भाई उतना ही मूर्ख और झगड़ालू था जितना ये प्रतिभाशाली और शान्त थे।

बँटवारेमें श्रीराम (जो त्यागराजके इष्टदेवता थे) की सोनेकी मूर्ति त्यागराजको मिली, किन्तु द्रोहवश बड़े भाईने एक दिन उसे उठाकर पास बहती हुई कावेरी नदीमें फेंक दिया। इससे त्यागराजको मार्मिक कष्ट हुआ। वे बाढ़के प्रवाहमें भी मूर्तिको ढूँढ़नेकी लालसासे कावेरीमें कूद पड़े। अपने जीवनको उन्हें चिन्ता नहीं थी, चिन्ता थी तो मूर्तिकी। अन्तमें वह मूर्ति उन्हें मिली। इतने कष्टके पश्चात् मिलनेपर त्यागराजने उसे अपना इष्टदेव बनाया। प्राणपनसे वे उसकी पूजा करते थे।

उसकी स्तुतिमें, उसीके प्रेममें विह्वल हो वे गीतरचना किया करते थे और उसके पीछे सारे संसारको भूल गये थे। ऐसा अनन्य प्रेम होनेके कारण उन्हें भगवान् साक्षात् दिखायी पड़ते थे और वे उन (भगवान्) से वार्तालाप करते थे। जो कुछ हृदयमें होता है वही बाहर आता है। ऐसे ही दिव्य साक्षात्कार उनके गायनमें स्पष्ट होते हैं।

किसी प्रकारकी संकीर्णता या दिखावेके लिये तो उनके मनमें स्थान ही नहीं था। उसे तो वे भगवान्के अमृत-सिन्धुमें डुबा चुके थे। श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा श्रीरामायणका उन्होंने अध्ययन किया था, जिनमें रामकथा-की तो छोटी-से-छोटी आख्यायिका भी उन्हें कण्ठाग्र थी। अन्य देवताओंकी भी वे बराबर स्तुति किया करते थे।

"जिसपर मैं प्रेम करता हूँ उसका सर्वस्व हरण कर लेता हूँ" श्रीकृष्णके इस वाक्यपर वे मुग्ध हो गये थे। वैराग्यकी ज्वाला उनके हदयके सारे विकारोंको भस्म कर चुकी थी। फिर संसारका कौन-सा सुख उन्हें लुभाता। एक बार त्रावणकोरके महाराजने भी उन्हें अपने दरबारमें बुलाकर संगीताचार्यका पद देना चाहा, किन्तु उन्होंने कहला भेजा कि "महाराज! पदवी तो सद्भक्ति ही है। भगवान्के चरणोंमें अनुराग ही परमपद है। उन्हीं चरणॉसे जिसकी बुद्धि विचलित नहीं होती, जिसका मन नहीं डिगता, वही प्रशंसनीय है।

पद और सम्मान तो उसीके हैं जिसका पवित्र और निर्लेप भाव भगवान्में लगा हुआ है। आप अपनी पदवी फेर लें, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है ।'
त्यागराजकी यह त्यागपूर्ण उक्ति चिरस्मरणीय हो गयी है और उनका यह पद दक्षिण भारतमें अनेकोंके कण्ठमें विराजता है, पद्यमें ही उन्होंने उत्तर दिया था।

अन्तमें ८८ वर्षकी अवस्था पूरीकर ये पूर्ण प्रसन्नताके साथ शरीर त्यागकर भगवान्‌की गोदमें जा बैठे। भगवानूके ही स्वप्ममें दर्शन देकर कहनेसे इन्होंने अन्तिम समयमें संन्यास लिया था और अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण पद गाकर महासमाधिमें लीन हुए थे।

इन्हींका स्वच्छ और भक्तिपूर्ण हृदय दक्षिणकी संगीत विद्याका स्थायी उन्नायक था, वह संगीतविद्याजो अब भी भारतवर्षके प्राचीन गौरवकी मुख्य प्रतिनिधि मानी जाती है।

श्रीदामाजी पन्त

विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके आरम्भमें मंगलवेढा स्थानमें दामाजी पन्त नामक एक ब्राह्मण वहाँके सूबेदार थे। यह स्थान उन दिनों उस मुसलमानराजके अधीन था जो इतिहासमें 'बेदरकी बादशाही ' के नामसे प्रसिद्ध है। इसी समय संवत् १५२५ से १५३२ तक लगातार सात वर्ष महाराष्ट्रमें महाभयंकर अकाल पड़ा। दामाजी पन्त थे तो बादशाहके नौकर, पर बड़े प्रामाणिक, स्वधर्मनिष्ठ, परोपकारी और भगवद्भक्त थे। इन्होंने जहाँतक इनकी औकात थी, अकालपीड़ितोंकी बड़ी सहायता की।

अपना सारा धन और धान्य इन्होंने उनकी सेवामें लगा दिया! पुण्यकी दृष्टिसे इस पुण्यकी कोई सीमा नहीं, पर उस महाभीषण शमशानपर्यवसायी सार्वत्रिक हाहाकारमें ऐसी वैयक्तिक सहायताकी गिनती ही भला क्या हो सकती थी? शाही खत्तोंमें अवश्य ही इतना अनाज भरा हुआ था कि उससे सहस्रं मनुष्योंके प्राण अवश्य ही बच जाते। और ये खत्ते दामाजी पन्तके कब्नेमें थे परन्तु यह अनाज अकालपीड़ितोंको देनेका हुक्म नहीं था।

दामाजी पन्त लाचार थे, उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की और अपनी धर्मपत्नीसे सलाह की। भगवान्‌के भरोसे दोनोंने मिलकर यह निश्चय किया कि आखिर इन शाही खत्तोंमें जमा अन्न किस दिनके लिये है? अन्नके बिना तड़प-तड़पकर लाखों मनुष्य प्राण त्याग कर रहे हैं और यह अन्न खत्तोंमें ही जमा है, ऐसे अन्नकी सार्थकता क्या? पर यह अन्न बादशाहका है, इसे बाँट

देनेका हुक्म नहीं है; बिना हुक्म यह अन्न यदि लुटा दें तो इसमें सन्देह ही क्या, इसकी सजा मौत ही है।

पर यदि एक हमारे मारे जानेसे हजारोंकी जानें बचती हों तो इस तरह मारा जाना परम पुण्य ही है। ऐसा निश्चय करके दामाजी पन्तने मंगलवेढा और आस-पासके अकालपीड़तोंके लिये अनाजके शाही खत्ते खोल दिये-लूट ले जाओ, जिसका जी चाहे और जितना चाहे, इतना अनाज जमा था कि एक महीने लूट मची रही। इससे असंख्य मनुष्योंके प्राण बचे और मंगलवेढाके सूबेदार दामाजी पन्तको लाखों मनुष्योंने तृप्त होकर मंगलमय आशीर्वाद दिये।

पर जब राजधानी बेदरमें यह खबर पहुँची तब बादशाहके क्रोधका पारावर न रहा। उसने तुरंत दामाजी पन्तको गिरफ्तार कर ले आने और सामने हाजिर करनेके लिये एक दल घुड्सवारोंका भेजा। घुड्सवार दामाजी पन्तको गिरफ्तारकर बेदर ले चले। रास्तेमें पण्ढरपुरमें दामाजी पन्तने शाही फौजके अफसरसे अनुमति लेकर श्रीविट्टल भगवान्‌के दर्शन किये और उन्हें अपना सब सुख-दुःख निवेदनकर वे सवारोंके संग हो लिये।

ये लोग कूच-दर-कूच बेदरकी ओर जा ही रहे हैं कि इसी बीच एक आदमी मुहरोंकी थैली लिये हुए बादशाहके दरबारमें पहुँचा। बादशाहने पूछा “तुम कौन हो, कहाँसे आये हो ?' उस आदमीने जवाब दिया, “मैं दामाजी पन्तका नौकर हूँ, मेरा नाम विठू महार है, दामाजी पन्तने मुझे शाही गल्लेकी कीमत देकर भेजा है कि इसे जमा करो और रसीद ले आओ।' बादशाह चकितसे विठू महारकी ओर देखने लगे। उसके सिरपर फटे पुराने चीथड़ोंकी एक पगड़ी-सी बँधी थी, कमरमें एक लंगोटी पहने था, कन्धेपर एक जहाँ-तहाँ फटा-सा कम्बल पड़ा था, बगलमें लकड़ी दबाये दोनों हाथोँसे मुहरोंकी थैली उठाये बादशाहके सामने खड़ा था।

उसके इस विलक्षण वेश और सीधी-तीखी बातका बादशाहके चित्तपर बड़ा गहरा असर पड़ा। खजानेमें कीमत जमा हुई और विठू महार रसीद लेकर चलता बना। अभी दामाजी पन्त रास्तेमें ही थे। आज नित्य क्रमके अनुसार स्तानसन्ध्या-तर्पणादि कृत्योंसे निवृत्त होकर गीतापाठके लिये ज्यों ही उन्होंने गीताकी पोथी खोली त्यों ही उसमें उन्हें एक कागज मिला, उसपर बादशाहकी मुहर थी और शाही खत्तोंके अनाजकी कीमत भर पायी लिखी हुई थी। आँखोंको कुछ धोखा तो नहीं हो रहा है? नहीं, यह साफ-साफ रसीद ही तो है पर यह मुहर भी बादशाहकी ही है।

पर मैंने कीमत कब अदा की, मैं तो कैदी होकर बादशाहके पास जा रहा हूँ! रसीदमें लिखा था, 'हस्ते विठू महार', यह विठू महार कौन है और कब मैंने इसे बादशाहके पास भेजा? कुछ समझमें न आया। श्रीविट्ठलकी माया वे ही जानें! इतनेमें एक शाही रिसाला पहुँचा, रिसालेके साथ एक शाही खरीता था। इसमें बादशाहने विठू महारके आकर कीमत जमा करनेकी बात लिखी थी और दामाजी पन्तको जो कष्ट हुआ उसपर बड़ा खेद प्रकट किया गया था।

दामाजी पन्तको रिसालेने बड़े अदबके साथ सलाम किया। | श्रीविट्ठलका है, मेरे लिये वे महार बने। बादशाहसे बादशाहके भेजे हुए राजवस्त्र दामाजी पन्तको पहनाये | दामाजी पन्तकी बड़ी मैत्री हुई, दामाजी पन्तने नौकरी गये और बडे सम्मानके साथ वे राजधानीमें लाये गये । छोड़ दी और पण्ढरपुरमें ही आकर वे श्रीविट्ठलचरणोंमें दामाजी पन्त समझ गये, यह खेल उन्हीं त्रिभुवनमोहन | अनन्य भावसे रहने लगे।

श्रीभानुदास

श्रीभानुदास आश्वलायनसूत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, ये दामाजी पन्तके समकालीन थे । इन्होंने संवत् १५२५-३२ का भयंकर अकाल देखा था। इनके कुलमें परम्परासे श्रीविट्ठलोपासना चली आयी थी। यथासमय इनका उपनयन हुआ। वयसूके १० वें वर्ष इन्होंने एक प्राचीन जीर्ण मन्दिरके तहखानेमें बैठकर सात दिनतक श्रीसूर्यनारायणकी अखण्ड उपासना की, आठवें दिन भगवान् सूर्यका साक्षात्कार हुआ। तभीसे इनका नाम भानुदास हुआ।

पीछे इन्होंने तीन गायत्री-पुरश्चरण किये। यथासमय इनका विवाह हुआ, बच्चे हुए। यहाँतक ये काम-धंधा कुछ भी नहीं जानते थे। इनके हितूलोगोने इन्हें कुछ रुपया देकर कपडेका रोजगार लगा दिया। ये गाँवमें अपनी दूकान रखते और हर आठवें दिन घोडेपर कपड़ा लादकर आस-पासके गाँवोंमें बेंच आते। जो मिल जाता उसीसे निर्वाह करते, पर कभी झूठ न बोलते।

इनकी सचाई देखकर चतुर व्यापारी यही कहा करते कि यह व्यापार करके कुछ कमा न सकेंगे। दो बार इनको बड़ा घाटा लगा, पर इन्होंने अपना सत्यव्रत नहीं छोडा। आखिर इनकी सचाईकी ऐसी साख जमी कि ग्राहक

इन्हींकी दूकानपर टूट पड़ते। धन इनके पास नदीकी तरह बहता हुआ आने लगा। चार-पाँच वर्षमें ही ये बहुत बड़े धनी हो गये। रोजगारमें ये कभी भगवान्‌को नहीं भूले। सतत नामस्मरण अथवा सद्ग्रन्थ-पठन किया ही करते थे। पण्ढरीकी आषाढ़ी-कार्तिकी बारी इनकी कभी न चूकी।

भक्तोने शीघ्र ही इन्हें महाभक्त जाना। इन दिनों विजयनगरके राजा महाबली और महापराक्रमी कृष्णराय थे, जिन्होंने विजयनगर साम्राज्यका चतुर्दिक् विस्तार किया, उसकी सर्वांगीण उन्नति की। ये श्रीविट्ठल भगवान्‌के दर्शनोंके लिये जब पण्ढरपुर आये तब लौटते हुए श्रीविट्ठल-मूर्तिको अपनी राजधानीमें ले गये। आषाढी एकादशीके अवसरपर जब भक्तलोग जमा हुए तब उन्होंने देखा कि मन्दिरमें श्रीविट्ठलमूर्ति नहीं है। इससे वे बहुत दुःखी हुए। भक्तोंने यह संकल्प किया कि जबतक भगवान् फिरसे मन्दिरमें नहीं पधारेंगे तबतक हमलोग यहीं उनका भजन करते हुए पड़े रहेंगे।

भक्तोंमें भानुदास भी थे, उन्होंने कहा, "मैं भगवान्‌को ले आता हूँ।' यह कहकर भानुदास विजयनगर गये। मध्यरात्रिके समय वे मन्दिरके समीप गये, दरवाजोंमें ताले लगे थे सो अपने-आप खुल गये, पहरेदार सो गये और भानुदास मन्दिरमें घुसकर भगवान्‌के सामने जा उपस्थित हुए। भगवान्‌के चरणोंको आलिंगनकर उन्हे प्रेमाश्ुओंसे नहलाया और हाथ जोड़ कहने लगे-"भगवन्! अब चलिये हमारे संग।' भगवान्‌ने अपने गलेका नवरत्नहार भानुदासके गलेमें डाल दिया। रत्नहारसहित भानुदास पकड़े गये।

राजाज्ञासे सिपाही उन्हें सूलीपर चढ़ानेके लिये ले गये। उस समय भानुदासने श्रीविट्ठलको पुकारकर कहा--'चाहे आकाश टूट पड़े या ब्रह्माण्ड फट जाय या तीनों भुवन दावानलके ग्रास बन जाये तो भी हे विट्ठल! मैं तो तुम्हारी ही प्रतीक्षा करूँगा।' इस प्रकार भानुदास भगवान्‌के साथ तन्मय हो रहे थे, इतनेमें ही जिस सूलीपर वे चढ़ाये जानेको थे उसमें पत्ते निकल आये और देखते-देखते फल-फूलोंसे लदा एक सुन्दर वृक्ष ही बन गया! जब राजा कृष्णरायको यह मालूम हुआ तब यह जानकर कि भानुदास चोर नहीं बल्कि कोई बड़े सत्पुरुष हैं, वे दौडे हुए भानुदासके समीप आये और उनके चरणोंपर लोट गये।

तब भानुदासजीने भी राजासे कहा कि मैं श्रीविट्ठल भगवान्‌को पण्ढरपुर ले चलनेके लिये यहाँ आया हूँ। राजाने रत्नजटित पालकीमें भगवान्‌को पधरवाकर और संग संरक्षकोंकी एक पलटन देकर भानुदासके संग बड़े ठाट-बाटके साथ बिदा किया। कार्तिकी एकादशीसे पहले भगवानको लेकर

भानुदास पण्ढरपुर आ गये। तबसे इसी उपलक्षमें पण्ढरपुरमें कार्तिकी एकादशीके दिन बड़े समारोहके | वंशमें आगे चलकर महात्मा श्रीएकनाथ महाराज साथ भगवानूकी सवारी निकलती है । इन्हीं भानुदासके | अवतीर्ण हुए।

जनार्दन स्वामी

जनार्दन पन्त आश्वलायनसूत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे । इनका जन्म संवत् १५६१ में चैत्र कृष्णा ६ के दिन हुआ। ये पहले चालिसगाँवके परगना-हाकिम थे। पीछे देवगढ़ (दौलताबाद) सूबेके मुख्य अधिकारी हुए। सुलतानके ये बड़े विश्वासपात्र थे। ये बड़े राजनीतिज्ञ, बड़े धीर-वीर, बड़े दृढ़ब्रती, नियमके पाबन्द और तेजस्वी पुरुष थे और वैसे ही परम धार्मिक और भगवद्धक्त थे। इस कारणसे ये जैसे राजमान्य थे वैसे ही देशमान्य भी थे। ये भगवान् श्रीदत्तात्रेयकी उपासना करते थे, भगवान्का इन्हें सगुण साक्षात्कार हो चुका था। ब्राह्ममुहूर्तमें उठते थे, तबसे मध्याह्ृतक स्नान, सन्ध्या, समाधि और उपासनामें ही इनका समय बीतता था।

मध्याहमें भोजनके पश्चात् कचहरीका काम देखते थे। सायंकाल सन्ध्या करके रातको ये ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभवका निरूपण करते थे। ये जहाँ समाधि लगाते थे वह स्थान एकान्त था और ऐसा प्रबन्ध था कि कोई भी उस ओर न जाने पावे। बड़े दयालु और न्यायप्रिय थे, पर वैसे ही लोगोंपर धाक भी रखते थे। इन्हींके कारण, इनके समयमें प्रति गुरुवारको (श्रीगुरु दततात्रेयका दिन होनेसे) देवगढ़की सब कचहरियाँ बंद रहती थीं।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इनका समानरूपसे आदर करते थे। इनके समयके देवगढ़की स्थितिका वर्णन करते हुए एक कविने यह कहा है कि “यह देवगिरी जनार्दनपुरी है, जिसकी वैकुण्ठपुरी ही बराबरी कर सकती है।' जिन श्रीएकनाथ महाराजका यशःसौरभ दिग्-दिगन्तमें फैला उनके गुरु ये ही श्रीजनार्दन स्वामी थे और इन्हींके चरण-कमलोंका सौरभ उनका यश था, इन्हींके चरणोंमें लीन होकर एकनाथ महाराज अपने आपको 'एका जनार्दन कहते हैं।'

श्रीएकनाथ महाराज अपने एकनाथी भागवतमें कहते हैं कि श्रीगुरुदेव दत्त अवधूत भगवान्‌ने साक्षात् उपदेश तीन ही मनुष्योंको किया जिनमें यदु पहले थे, दूसरे सहस्रार्जुन और तीसरे इस कलियुगमें जनार्दन स्वामी । श्रीजनार्दन स्वामीकी अनन्य उपासनासे प्रसन्न होकर श्रीदत्त उनके सामने प्रकट हुए, उनके मस्तकपर अपना वरद हस्त रखा और यह उपदेश किया कि गृहस्थाश्रमको बिना त्यागे और कर्ममर्यादाका बिना उल्लंघन किये, देहके रहते विदेहस्थितिको प्राप्त होना, प्राप्त कर्माको करते हुए भी आत्मानुसन्धान और आत्मस्थितिमें रहना, वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए अहंकर्तृत्वकी हवा भी न लगने देना, यही अकर्तात्मबोध है। श्रीगुरु दत्तात्रेयसे श्रीजनार्दन स्वामीको यह रहस्य प्राप्त हुआ और यही रहस्य उन्होंने एकनाथजीको दिया।

जनी जनार्दन

जनार्दन स्वामीके तीन प्रधान शिष्य थे-एका जनार्दन (श्रीएकनाथ महाराज), रामा जनार्दन* और जनी जनार्दन। जनी जनार्दनजी यजुर्वेदी ब्राह्मण बीडनगरके रहनेवाले थे। मुसलमानोंका राज्य था, ये उस राज्यमें एक अफसरके पदपर नियुक्त थे। दामाजी पन्तकी तरह इन्होंने भी एक बार दुर्भिक्षमें पीड़ितोंके प्राण बचानेके लिये सरकारी अनाजके खत्ते लुटा दिये।

सरकारने इन्हें हाथीके पैरोंतले कुचलवा डालनेका हुक्म दिया। पर ये शान्त थे, इतने शान्त थे कि वह उन्मत्त हाथी भी इनके पास आकर शान्तिसे पीछे लौट गया! इसी बातपर ये छोड़ दिये गये, पर इन्होंने तब सरकारकी चाकरी छोड़ दी और श्रीगुरु जनार्दन स्वामीकी शरणमें जाकर शेष जीवन भगवद्भजनके लिये उत्सर्ग कर दिया। इनका 'निर्विकल्पग्रन्थ' या ' उद्धवबोध' नामका एक हस्तलिखित ग्रन्थ है जिसमें ब्रह्म, जीव-शिव और सगुण-निर्गुणका श्रीकृष्ण-उद्धव-संवादरूपसे प्रतिपादन किया गया है।

श्रीएकनाथ महाराजके प्रयाणके दो वर्ष बाद संवत् १६५८ में इनका देहावसान हुआ। इनके वंशज बीडमें हैं। इनके इष्टदेव श्रीगणेशजी थे।

शाक्त संत

शाक्त-उपासकोंके मतानुसार शाक्तधर्म बहुत पुराना है। वैदिक युगमें भी इसका प्रचलन था और यह धर्म सर्वथा वेदानुमोदित है। उनके मतसे अनेकों ऋषि-मुनियोंने और राजा-महाराजाओंने शक्ति-उपासनाके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। विभिन्न तन्त्रों और पुराणोंसे पता चलता है कि ऋषि वशिष्ठने तारादेवीकी उपासना करके सिद्धि पायी थी; परशुराम त्रिपुरादेवीके उपासक थे, अगस्त्यमुनिने हयग्रीवरूपी विष्णुभगवान्से श्रीविद्याका रहस्य सीखा था; अगस्त्यजीकी स्त्री लोपामुद्राने जिस मन्त्रकी उपासना करके सिद्धि पायी थी, तान्त्रिक समाजमें वह मन्त्र आज भी लोपामुद्राके नामसे विख्यात है; राम, लक्ष्मण और पाण्डवोंने भी शक्तिकी साधना कौ थी।

शाक्त-सम्प्रदायके इस कथनका मूल्य चाहे जितना हो, परन्तु यह तो संदेहरहित बात है कि शाक्तधर्म नया नहीं है। बंगालके साथ तो इसका सम्बन्ध बहुत पुराना है। ऐतिहासिक विद्वान् भी इस धारणाका समर्थन करते हैं। विण्टरनीज आदि पाश्चात्य पण्डितोंका यह कहना है कि तन्त्र-शास्त्रकी और शाक्तधर्मकी उत्पत्ति बंगालसे ही हुई।

किसी-किसी तन्त्रमें कहा गया है कि नवनाथरचित तन्त्र और कुल-शास्त्र पहले बने । मत्स्येन्द्रनाथने कामरूपमें स्वयं महेश्वरीसे यह विद्या प्राप्त की और चन्द्रद्वीपमें उन्होंने "महाकौलज्ञाननिर्णय' नामक ग्रन्थकी रचना की। श्रीकण्ठनाथने भी ' श्रीमतोत्तरतन्त्र' नामक ग्रन्थका प्रचार चन्द्रद्वीपमें ही किया। बहुत सम्भव है कि पूर्व बंगालका प्रसिद्ध चन्द्रद्वीप ही यह चन्द्रद्वीप है।

तन्त्र-शास्त्रकी उत्पत्ति अथवा प्रथम प्रचार कहाँ भी क्यों न हुआ हो, प्राचीनकालसे ही भारतके विभिन्न परान्तोंमें अनेकों शाक्त साधक हो गये हैं। यह सत्य है कि जनसाधारणको इन सबका पूरा पता नहीं, परन्तु इन लोगोंमेंसे अनेकोंद्वारा रचित संस्कृत और भाषाके ग्रन्थ इनके महत्त्व और वैशिष्ट्यकी प्रत्यक्ष साक्षी देते हैं। ऊँची श्रेणीके बहुत-से साधकोंने अवश्य ही ग्रन्थ रचने और शास्त्रोंके प्रचार करनेमें समय न लगाकर अपना सारा जीवन ध्यान-धारणामें ही लगाया था।

इनमेंसे कुछने तो शास्त्रकी परवा ही नहीं की, इसके अतिरिक्त, शास्त्रज्ञान प्राप्त करने और ग्रन्थरचना करनेके लिये उपयुक्त शिक्षा और ज्ञान भी उनमें नहीं था। इतना होनेपर भी साधनक्षेत्रमें विशेष अग्रसर होकर इन लोगोंने अपने शिष्यसम्प्रदायके हृदयमें स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया था, जो आज भी विद्यमान है। इन लोगोंमेंसे बहुतोंकी शरीरत्यागकी तिथिपर आज भी इनके साधनपीठों बड़े-बड़े उत्सव होते हैं और देश-विदेशसे हजारों शिष्य आ-आकर अपने गुरुके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। हम यहाँ इन दोनों श्रेणियोंके साधकोंमेंसे कुछके सम्बन्धमें किञ्चित् आलोचना करना चाहते हैं।

प्रथम श्रेणीके साधकोंमें साक्षात् शंकरका अवतार माने जानेवाले आचार्य शंकर, भास्करराय या भास्करानन्दनाथ, लक्ष्मण देशिकेन्द्र, राघवभट्ट, कृष्णानन्द, ब्रह्मानन्द, पूर्णानन्द, विजयगुप्त, मुकुन्दराम, भारतचन्द्र, रामप्रसाद और कमलाकान्तके नाम लिये जा सकते हैं।

“प्रपंचसार' नामक प्रसिद्ध तन्त्रग्रनथ और “आनन्दलहरी ' नामक प्रसिद्ध देवीस्तोत्रकी रचना प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य आद्य शंकराचार्यने ही की थी, तान्त्रिक समाजकी ऐसी दृढ़ मान्यता है। लक्ष्मण देशिकेन्द्रके जीवन चरित्रके सम्बन्धमें कुछ पता नहीं चलता; इनके पिताका नाम श्रीकृष्ण, पितामहका नाम आचार्यपण्डित और प्रपितामहका नाम महाबल था। ये सब बहुत बड़े सिद्ध पुरुष थे। लक्ष्मणके द्वारा रचित 'शारदातिलक' नामक ग्रन्थका सम्पूर्ण भारतके तान्त्रिकोंमें बड़ा आदर है।

विभिन्न देशोंके पण्डितोंने विभिन्न कालमें इस ग्रन्थपर टीकाएँ लिखी हैं । इनके द्वारा रचित ' ताराप्रदीप' नामक एक कम प्रसिद्ध ग्रन्थ और है, इसके अलावा और भी कई पुस्तकें विभिन्न स्थानोंमें पायी गयी हैं गम्भीररायके पुत्र भास्करराय श्रीविद्याके उपासक थे। तन्त्रशास्त्रके ये बड़े गम्भीर पण्डित थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थोंके द्वारा श्रीविद्याके गूढ़ रहस्यका प्रतिपादन किया है। तन्त्रका मर्म समझनेके लिये इनके बहुत-से ग्रन्थोंमेंसे ' सेतुबन्धन', “सौभाग्यभास्कर' और “वरिवस्यारहस्य' नामक ग्रन्थ अपरिहार्य हैं।

इनके विस्तृत जीवनचरितका बहुत-सा अंश स्वर्गीय पण्डित सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषणने ' तत्त्वबोधिनी ' नामक पत्रिकामें लिखा था।लक्ष्मण देशिकेनद्रके ' शारदातिलक' पर ' पदार्थादर्श' नामक विस्तृत टीकाग्रन्थ महाराष्ट्रके राघवभट्टकी अतुलनीय कीर्तिका निदर्शन है । १५५० वि० सं० में यह टीका रची गयी थी, इसके अतिरिक्त राघवभट्टने *कालीतत्त्व' नामक

एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी रचना की थी।बंगालमें जिन शाक्त संतोंने तान्त्रिक क्रियाओंके वर्णनमें ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं उनमें कृष्णानन्द, ब्रह्मानन्द और पूर्णानन्द ये तीन ही विशेष प्रतिष्ठित हैं।

कृष्णानन्दको श्रीचैतन्यदेवका समसामयिक माना जाता है। बंगालमें जितने त्त्रग्रन्थोंकी रचनाएँ हुई हैं, उन सबमें कृष्णानन्दके 'तन्त्रसार' का स्थान सबसे ऊँचा है। बंगालमें पुरोहितगिरी करनेवाले प्रायः सभी ब्राह्मण पण्डितोंके घर 'तन्त्रसार' की हस्तलिखित अथवा मुद्रित प्रति आज भी मिलती है। बंगालका तान्त्रिक अनुष्ठान प्रधानतः इसी ग्रन्थके आधारपर सम्पादित होता है।

पूर्णानन्दके गुरु ब्रह्मनन्दगिरिने अनुमानसे सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भ या मध्यमे जन्म ग्रहण किया था। वे त्रिपुरानन्दके शिष्य थे, उनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें “शाक्तानन्दतरंगिणी' में अठारह उल्लासोंके द्वारा शाक्तोंके आचार-अनुष्ठानकी विशेषरूपसे व्याख्या की गयी है। दूसरा ग्रन्थ *ताररहस्य' चार पटलका है। इसमें ताराके उपासनासम्बन्धी आचारोंका वर्णन है ।

ब्रह्मानन्दके उपर्युक्त शिष्य पूर्णानन्द परमहंसका समय उनके स्वरचित ग्रन्थमें मिल जाता है, उनका * श्रीतत्ववचिन्तामणि' ग्रन्थ ईसवी सन् १५७७ में और “शाक्तक्रम' १५७१ में रचा गया था। पूर्णानन्द राजशाही जिलेके वारीन्द्र ब्राह्मण थे। उनकी साधन-शक्तिसे आकर्षित होकर पूर्व और उत्तर बंगालके अनेकों परिवारोंने उन्हें गुरुरूपमें वरण किया था। उनके वंशज आज भी बहुत जगह उस गौरवमय पदपर प्रतिष्ठित हैं और समाजमें विशेष सम्मान और श्रद्धाके पात्र समझे जाते हैं।

पूर्णानन्दके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें ' श्यामारहस्य' में कालीके उपासकोंके आचारका वर्णन है । 'शाक्तक्रम' में सात उल्लासोंमें शक्तिके अनुष्ठानकी व्याख्या है और * श्ीतत्त्वचिन्तामणि' नामक बृहत् ग्रन्थमें श्रीविद्याकी उपासना और प्रासंगिक आचारोंका विस्तारसे वर्णन है। उनके अन्य दो ग्रन्थोंके नाम ' तत्त्वानन्द-तरंगिणी' और “घट्कर्मोल्लास' हैं।

इस प्रसंगमें एक और ग्रन्थकारकी बात कही जाती है। ये साधारणतः 'गौड़ीय शंकर' अथवा बंगालके शंकराचार्यके नामसे विख्यात हैं। इनका असली नाम शायद शंकर आगमाचार्य था। ये बंगाली थे। इनके पिताका नाम कमलाकर और पितामहका नाम लम्बोदर था। ईसवी सन् १६३० की लिखी हुई इनकी

'ताराहस्यवृत्तिकार' नामक पुस्तक नैपाल दरबारकी लायब्रेरीमें है। इस ग्रन्थमें ताराके उपासकोंके आचारका वर्णन है।
चण्डी, मनसा, काली आदि शक्तिके विभिन्न रूपोंकी महिमामें सैकड़ों बंगाली कवियोंने मध्ययुगमें बँगला मंगलकाव्यकी रचना की है; इनमें मुकुन्दराम, विजयगुप्त और भारतचन्द्र विशेष प्रसिद्ध हैं । इनके द्वारा रचित ' चण्डीमंगल', *मनसामंगल' और 'कालिकामंगल' आज भी बंगालके गाँवोंमें घर-घर गाये जाते हैं। इन्हीं सब काव्योंने बंगालके जनसाधारणमें शाक्तभावको जगा रखा था।

बड़े काव्योंके अतिरिक्त "वैष्णवपदावली' की भाँति बंगालमें शाक्त-संगीतोंकी भी बहुत रचना हुई। वैष्णवकविताओंकी तरह इनमें भी गम्भीर भक्तिरस भरा है। आगमनी और विजयाके गीतोंमें वात्सल्य-रसका जैसा वर्णन हुआ है वैसा वैष्णव-कवितामें भी दुर्लभ है। इनकी आन्तरिकता और स्वच्छ सरलता अहिन्दुओंके हृदयको भी खींच लेती है।

संस्कृतके प्राचीन शाक्तस्तोत्रॉमें देवीके महत्त्वका वर्णन और भक्तिभावका निदर्शन अवश्य हुआ है, किन्तु इन गीतोंमें तो माताके प्रति मीठे हठसे अपने अधिकारका भाव दिखलाया गया है--संसारके अनन्त क्लेशोंके लिये-कठोर परीक्षाके लिये माँका मृदु तिरस्कार किया गया है, और शास्त्रके विधि-निषेधकी परवा न कर जगज्जननीकी करुणाको ही समस्त कल्याणका निदान बतलाया गया है।

वस्तुतः ऐसे गीतोंके रचयिता कवि और साधक पुरुष-जिनके सम्बन्धमें आगे कहा जायगा-शास्त्रीय आचार-अनुष्ठानपर अधिक ध्यान नहीं देते थे। करुणामयी माँकी ध्यानधारणा और उनका नामकीर्तन ही इनकी साधनाका प्रधान अवलम्बन था।

शाक्त-संगीतकी रचना करनेवालोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध साधक रामप्रसाद हैं। इनके गीत बंगालकी जनताके होठोंपर रहते हैं। बंगालके असंख्य नर-नारी रामप्रसादी संगीत-सुधाका पान करके संसारको दुःखज्चालाओंसे किसी अंशमें छूटते हैं और जगज्जननीके चरणोंमें भक्तिपूर्वक मस्तक झुकाकर कृतार्थ होते हैं।

रामप्रसादके बाद ही कमलाकान्तका नाम लिया जा सकता है। इन्होंने प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जन्म ग्रहणकर बहुत-से गीत और 'साधकरंजन' नामक तान्त्रिक योगके प्रतिपादक एक ग्रन्थकी रचना की थी। इसी प्रकार और भी बहुत-से शाक्त कवियोंके नाम गिनाये जा सकते हैं।

जिनकी रचनाका परिचय ऊपर दिया गया है उनके साधनकी उत्कृष्टताके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं। साधनाके बलसे उनमेंसे अनेकोंने अलौकिक शक्ति और असाधारण विभूति प्राप्ति की थी। कहा जाता है कि दैवी प्रेरणाके वश केवल अपने इष्टदेवताके सन्तोषके लिये ही उन लोगोंने ग्रन्थोंकी रचना की थी। इसलिये इनको केवल कवि, पण्डित या ग्रन्थकार कहना उचित नहीं है।

ये उच्च श्रेणीके साधक और सिद्ध संत थे। अस्तु, ग्रन्थादि रचना तो इनकी साधनाका एक अंगमात्र है। अब वैसे कुछ लोगोंका वर्णन किया जाता है जिनकी प्रसिद्धिका कारण ग्रन्थरचना नहीं, बल्कि साधना है । ऐसे संतोंमें सर्वानन्द, अर्धकाली, गोसाई भट्टाचार्य, वामाक्षेपा और रामकृष्ण परमहंसके नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

प्रायः चार सौ वर्ष पूर्व त्रिपुरा जिलेके मेहार नामक ग्राममें सर्वानन्द महाराजका आविर्भाव हुआ था। लड़कपनमें ये बहुत ही मन्दबुद्धि माने जाते थे। पढ्नालिखना इनके भाग्यमें बिलकुल नहीं था। लोगोंको यह आशंका हो गयी थी कि ये अपने पितामह वासुदेवका सुप्रसिद्ध नाम अपनी मूर्खतासे डुबो देंगे। इनकी मूर्खता यहाँतक बढ़ी हुई थी कि इन्हें एक दिन मेहारके राजदरबारमें अमावस्याको पूर्णिमा बतलानेके कारण अपमानित होना पड़ा।

इस घटनासे अपनी मूर्खतापर इन्हें अपने प्रति बड़ा तिरस्कार पैदा हो गया। इस अवस्थामें एक संन्यासीने इन्हें ढाढ्स बँधाया और उन्हींसे इन्होंने मन्त्र ग्रहण किया। अमावस्याकी घोर रात्रिके समय इन्होंने अपने नौकर पूर्णानन्दके शवपर बैठकर मन्त्रका जाप करके सिद्धि प्राप्त की। देवीने अपने दस महाविद्यारूपसे दर्शन देकर इन्हें कृतार्थ किया।

इसके बाद इनका नाम 'सर्वविद्या' हो गया। सर्वविद्याके वंशजोंकी आज भी समाजमें बड़ी प्रतिष्ठा है। बंगालमें इनके शिष्य बहुत जगह पाये जाते हैं। सर्वानन्दके सिद्धिक्षेत्र मेहारके काली-मन्दिरमें हर साल पौषकी संक्रान्तिपर एक बड़ा मेला लगता है। कहा जाता है कि पहले यहीं मातंग मुनिका आश्रम और उनके द्वारा प्रतिष्ठित शिवलिंग था। पर इस प्रसिद्धि सर्वानन्दके सिद्धि प्राप्त करनेके बाद हुई। आज मेहार बंगालका एक तीर्थ है। जगह-जगहसे भक्त लोग वहाँ आते हैं!

मैमनसिंह जिलेमें मुक्तागाछाके पास पण्डितवाड़ी ग्राममें प्रायः तीन सौ वर्ष पहले द्विजदेव नामक एक सिद्ध पुरुषके घर "जयदुर्गा' नामक एक कन्या

हुई थी। स्वयं परमेश्वरीने ही द्विजदेवकी साधनासे सन्तुष्ट होकर उनके जीवनको सार्थक करनेके लिये कन्यारूपमें उनके घर अवतार लिया था। उनकी देहके आधे अंशका रंग काला था और आधेका गोरा, इसीसे इन्हे अर्धकाली नाम प्राप्त हुआ। ढाका जिलेके माणिकगंज परगनेमें मितरा ग्रामके राघवराम नामक एक द्विजदेवके विद्यार्थीक साथ उनका विवाह हुआ था।

पाकस्पर्शके दिन 'अर्धकाली' जब अन्नकी थाली हाथमें लेकर परोसनेके लिये आयीं तब अकस्मात् हवाके झोंकेसे उनका घूँघट खुल गया। उस समय लोगोंने देखा कि दो हाथोंसे तो इन्होंने बड़े थालको थाम रखा है और दो हाथोंसे अपना घूँघट ठीक कर रही हैं। उनके इस चतुर्भुज रूपको देखकर सबको यह विश्वास हो गया कि ये साक्षात् देवी ही हैं। अर्धकालीके पति राघवराम भी-उच्च श्रेणीके पण्डित न होनेपर भी-बहुत ऊँचे साधक पुरुष थे, इनके वंशमें अब भी ' अर्धकाली' और 'राघवराम' की पूजा देवताके रूपमें होती है ।

अर्धकालीके पितृकुल और श्वशुरकुल दोनोंकी समाजमें बड़ी प्रतिष्ठा है। विश्वरूपरचित संस्कृत “राघवदीपिका' और श्रीयुत अतुलचन्द्र मुखोपाध्यायरचित ' अर्धकाली' नामक बँगला ग्रन्थोंमें इनके जीवनचरितका वर्णन है।

गोसाई भट्टाचार्यके नामसे सुपरिचित रत्नगर्भ नामक संत बंगालके सुप्रसिद्ध जमांदार चाँद और केदाररायके गुरु थे। कहा जाता है कि इन्होंने ढाकाके मैयसरके दिगम्बरी तलेमें सिद्धि प्राप्त की थी। गोसाई भट्टाचार्यने वीराचार्यके द्वारा साधना करके अनेकों अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की थीं। मानसिंहके साथ केदाररायके युद्धके समय इनकी पूजाके प्रभावसे मिट्टीकी मूर्तिमें प्राणसंचार हो गया था और तलवारके द्वारा विग्रहपर आघात होनेपर उससे खून निकल आया था! इनके द्वारा निर्मित दो देवी-प्रतीक आजतक इनके वंशजोंके घरोंमें हैं। इनका भी समाजमें बहुत अच्छा सम्मान है।

प्राय: सौ वर्ष पूर्व वीरभूम जिलेके तारापीठके समीप ही आटला नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घर वामाचरणका जन्म हुआ था। ये लड़कपनसे जड प्रकृतिके थे और इनका मन सदा उड़ा-सा रहता था। इनके इस विकृत भावके कारण ही इनका नाम वामाक्षेपा (पागल) पड़ गया। छोटी उम्रमें ही ये घर छोड़कर | के महाश्मशानमें आ गये थे। यह स्थान प्राचीन कालसे अनेकों महापुरुषोंके सिद्धिलाभका क्षेत्र माना जाता है, और कहा जाता है कि महर्षि वशिष्ठने भी यहीं सिद्धि प्राप्त की थी।

नाटोरके सिद्ध पुरुष राजा रामकृष्ण, आनन्दनाथ, मोक्षदानन्द, कैलाशपति आदि अनेकों साधकोंने यहीं साधना की थी। वामाचरण सदा माँ ताराके चिन्तनमें तन्मय रहते थे, ताराभक्ति उनमें स्वाभाविक थी । वे लगातार तारा-नामका कीर्तन किया करते थे। नियमित पूजा उनके द्वारा नहीं हो सकती थी। पूजा करनेको बैठते ही वे बेसुध हो जाते थे। तनकी सुध भुलाये हुए पागलकी भाँति श्मशानमें पड़े रहनेपर भी उनकी आध्यात्मिक उच्च स्थितिसे आकर्षित होकर अनेकों लोग उनके चरणदर्शनार्थ आया करते थे।

बँगला सन् १३९८ में वे इस धराधामको त्यागकर इष्टधामको पधार गये, किन्तु तारापीठ आज भी उनकी स्मृतिको जगाये हुए है। हर साल वहाँ मेला होता है और बड़े समारोहसे देवीजीकी पूजा होती है। श्रीयतीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और हरिचरण गंगोपाध्याय आदि सजननोंने बँगलामें इनके कई जीवनचरित्र लिखे हैं।

रामकृष्ण परमहंसके नामसे तो आज पृथिवीका सारा शिक्षितसमाज परिचित है। विभिन्न भाषाओंमें उनके जीवनचरित्र लिखे गये हैं और 'रामकृष्ण मिशन' जगतूमें उनके उपदेशोंका प्रचार कर भारतके गौरवको बढ़ा रहा है। कलकत्तेसे उत्तर दक्षिणेश्वरके कालीमन्दिरके साधारण पुजारी रामकृष्णने अपनी असाधारण भगवद्धक्तिके द्वारा सबके चित्तको खींच लिया था।

ब्राह्मणी नामक एक ब्राह्मणी भैरवीसे उन्होंने दीक्षा ली और उसीकी देखरेखमें अनेकों तान्त्रिक क्रियाओंका सम्पादन किया था। आज तो समस्त पृथिवीमें उनका नाम छाया हुआ है।

इनके सिवा न मालूम कितने साधक और होंगे! इन लोगोंके जीवनवृत्तान्तकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे शाक्त-धर्मके सम्बन्धमें लोगोंके मनोंमें जो विरुद्ध धारणा जमी हुई है वह बहुत कुछ नष्ट हो जायगी!

मध्ययुगके शैव संत

(लेखक-दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

(१) संत अरुणगिरिनाथ इन्होंने तामिल भाषामें कई काव्य लिखे हैं जो भक्तिरसपूर्ण होनेके साथ-ही-साथ काव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त ललित और लोकप्रिय हैं। इनका जन्म लगभग

४७० वर्ष हुए तिरुवन्नमले नामक स्थानमें हुआ था। उस समय वहाँ प्रपूतदेव नामके राजा राज्य करते थे। इनका जन्म किस कुलमें हुआ और इनके माता-पिता कौन थे, इस सम्बन्धमें ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इनके

सम्बन्धमें निश्चितरूपसे इतना ही मालूम है कि इनका प्रारम्भिक जीवन बड़ा विलासपूर्ण था, जब इनके पास कुछ भी न रहा तो इनको प्रेयसीने इनका परित्याग कर दिया। तब इन्होंने अपने कुलदेवता श्रीसुब्रह्मण्य (स्वामिकार्तिक)-का दर्शन करके मन्दिरके शिखरपरसे भृगुपतन कर प्राणविसर्जन करनेका निश्चय किया। ज्यों ही ये ऐसा करनेको थे कि श्रीसुब्रह्मण्य इनके सामने प्रकट हो गये और इन्हें अपना कृपापात्र बना लिया।

उसी दिनसे अरुणगिरिनाथ श्रीसुब्रह्मण्यके महान् भक्त हो गये और इन्होंने इतने सुन्दर पद बनाये कि जिनका तामिल भाषा-भाषी बहुत अधिक आदर करते हैं। इन्हींके समसामयिक विल्लिपुत्थूरर् नामके एक और कवि हो गये हैं जिन्होंने तामिल भाषामें महाभारत लिखा है। इनके साथ हमारे चरित्रनायकका किस प्रकारका सम्बन्ध था, इस विषयमें एक बड़ा रोचक इतिहास है।

कहा जाता है, एक बार महाराज प्रपूतदेवकी सभामें इन दोनों कवियोंमें परस्पर होड़ लगी। शर्त यह थी कि दोनोंमेंसे प्रतिद्वन्द्रितामें जो हार जाय वह दूसरेकी आज्ञाके अनुसार दण्ड स्वीकार करे। अरुणगिरि आशुकवि थे। उन्होंने वहीं सभामें बैठे-बैठे ' कन्दरन्तादि' नामका काव्य रच डाला और उनके प्रतिद्वन्द्वी विल्लिपुत्थूरर् साथ-ही-साथ उनके प्रत्येक पदकी अविराम गतिसे व्याख्या करते रहे । तब अरुणगिरिने एक कूट पद रचा।

विल्लिपुत्थूरर् उसका अर्थ नहीं समझ सके और सन्देहमें पड़ गये। उन्होंने अरुणगिरिकी विजय स्वीकार कर ली और उन्हें कहा कि हमारे कान काट लो। अरुणगिरिने कहा “नहीं, मेरी देनके रूपमें इन कानोंको रखो। बदलेमें मैं तुमसे यही चाहता हूँ कि तुम शैवोंसे द्वेष करना छोड़ दो और सभी धर्मों और सम्प्रदायोंके साथ सहिष्णुता और प्रेमका बर्ताव करो।' इनके सम्बन्धमें एक और आख्यायिका प्रसिद्ध है।

राजा प्रपूतदेवके दरबारमें सम्बन्दान्दन् नामके एक तान्त्रिक थे। वे अरुणगिरिसे बडा द्वेष रखते थे। उन्होंने राजासे कहा--'मुझपर देवीकी बडी कृपा है, यदि तुम चाहो तो मैं उन्हें तुम्हारे सामने प्रकट कर सकता हूँ। क्या अरुणगिरि तुम्हारे सामने किसी प्रकार भगवान् सुब्रह्मण्यको प्रकट कर सकते हैं ?' अरुणगिरिने इस चुनौतीको स्वीकार कर लिया और राजासे कहा कि 'मैं तुम्हें भगवान् सुत्रह्मण्यके दर्शन कराऊँगा।' उन्होंने भगवान् सुब्रह्मण्यसे प्रार्थना की--'हे भगवन्! आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे भगवती राजाके सामने प्रकट न हो सकें, और आप स्वयं राजाको दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये।' उनका यह कहना था कि सभामण्डपपमें भगवान् सुब्रह्मण्यके नूपुरोंकी झनकार सभासदोंको सुनायी दी।

राजाको नूपुरध्वनिसे सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने भगवान्का दर्शन करानेकी प्रार्थना की । इसपर भगवान् सुब्रह्मण्य वहाँ एक क्षणके लिये अपने तेजोमय विग्रहकी झलक दिखाकर तुरन्त अन्तर्धान हो गये। उनका तेज इतना प्रचण्ड था कि राजाके नेत्र उसे सहन नहीं कर सके और यकायक उनके नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी। सम्बन्दान्दन्ने राजासे कहा कि “यदि स्वर्गसे पारिजातके पुष्प आ सकें तो तुम्हारे नेत्रोंमें पुनः ज्योति आ सकती है।' इसपर अरुणगिरिने मनुष्यशरीरका परित्याग कर दिया और वे एक तोतेका रूप धारणकर पारिजातके पुष्प लानेके लिये स्वर्गकी ओर चल पडे।

सम्बन्दान्दनने उनसे बदला लेनेका अच्छा अवसर समझकर पीछेसे उनके शरीरको जलवा दिया। थोड़ी ही देर बाद शुकरूपधारी अरुणगिरि पारिजातके पुष्प लेकर वहाँ आ पहुँचे और राजाके नेत्रोंमें पुन: ज्योति आ गयी। अरुणगिरिने उसी तोतेके विग्रहसे कन्दरनुभूति नामक प्रसिद्ध काव्यकी रचना की और उसे राजाको सुनाया। अन्तमें वे भगवान् सुब्रह्मण्यके लोकमें चले गये।

अरुणगिरिकी रचनाओंका विशेष गुण यह है कि उनमें एक अद्भुत, नवीन, रहस्यमय और श्रवणसुखद लालित्य एवं माधुर्य है। यही नहीं, वे भक्तिरससे ओतप्रोत और भावमय हैं। विषयसुख और आत्मसुखमें कितना अन्तर है, इसका इनके ग्रन्थोंमें कई जगह बड़े ही सुन्दर, भावपूर्ण एवं आलंकारिक शब्दोंमें वर्णन हुआ है। अरुणगिरिनाथ और तायुमानवर् इन दोनोंकी कवित्वशक्ति और भक्तिभावने सदाके लिये तामिलभाषाभाषी जनताके हृदयमें बड़ा ऊँचा स्थान बना लिया।

आज भी इनके पद लोगोंको इतने प्रिय हैं कि जबतक किसी कोर्तनसमाजमें इनके पद नहीं गाये जाते तबतक वह समाज अधूरा ही माना जाता है। इन्हींकी भाँति तेवारम, तिरुवाचकम्, तिरुवार्युमोलि और तिरुप्पुगलके पद भी जनताको बड़े प्रिय हैं।

(२) तायुमानवर्

तामिल कवियोंमें तायुमानवरके काव्य कदाचित लोगोंको सबसे अधिक प्रिय हैं। उनकी पदरचना बड़ी मधुर एवं श्रवणसुखद है और उनमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके अंदर सरलता और निश्छलभावके साथ-साथ पवित्रता और तीव्र मनोभावका अद्भुत सम्मिश्रण है। तामिल साहित्यमें इनकी रचनाओंका बहुत ऊँचा स्थान है।

ये अठारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें इस मर्त्यलोकमें विद्यमान थे। इनके पिता केडिलियप्प पिल्ले वेदारण्यम्के रहनेवाले थे और त्रिचिनापल्लीके राजा विजयरघुनाथ चोक्कलिंग नायकर्के यहाँ ' सम्प्रति' (महलोंके अध्यक्ष) के पदपर नियुक्त थे। केडिलियप्प पिल्लेके ज्येष्ठ पुत्र उन्हींके बड़े भाईकी गोद चले गये। हमारे चरित्रनायक उनके द्वितीय पुत्र थे। इनके पिताने त्रिचिनापल्लीके प्रधान देवताके नामपर इनका नाम तायुमानवर् रखा।

बालक तायुमानवर् छोटी ही अवस्थामें संस्कृत और तामिल भाषाके पण्डित हो गये। इनका स्वभाव बड़ा शान्त और इनकी मनोवृत्ति प्रारम्भसे ही धार्मिक थी। थोडे ही समय बाद इन्हें मौनदेशिकके रूपमें एक सद्गुरु प्राप्त हुए जिन्होंने इनका अध्यात्मकी ऊँची साधनाओंमें प्रवेश कराया। इनके पिताका देहान्त हो जानेपर इन्होंने राजाके आग्रहसे अपने पिताके पदको स्वीकार कर लिया, परन्तु इनका मन तो भगवान्में लग चुका था और इनका जीवन बड़ा पवित्र और भक्तिरसमें डूबा हुआ था।

कहा जाता है कि राजा विजयरघुनाथकी रानी इनपर आसक्त हो गयीं और उन्होंने इनसे प्रेमकी भिक्षा माँगी, इसपर ये वहाँसे भागकर रामनाद् चले आये। वहाँ इन्होंने अपने भाईके आग्रहसे विवाह कर लिया और इन्हें कनकसभापति पिल्ले नामका एक पुत्र हुआ। पुत्र होनेके कुछ ही दिन बाद इनकी पत्नीका देहान्त हो गया। कुछ दिन बाद ये सब कुछ त्यागकर विरक्त संन्यासी हो गये और उसी अवस्थामें इन्होंने वे भक्तिरसपूर्ण सुन्दर काव्य

रचे जिनके कारण इनकी स्मृति इनके देशवासियोंके हृदयमें सदा बनी रहेगी। सन् १७४२ ईसवीमें इन्होंने अपने नश्वर देहको त्याग दिया।

इनकी रचनाओंमें ज्ञान और भक्तिका बड़ा सुन्दर समन्वय है। इनका हदय बड़ा कोमल था और इनकी आत्मा सदा समभावमें स्थित रहती थी। इन्होंने जीवनके रहस्यको भलीभाँति समझा था और ये अपने ऊपर भगवान्‌के असीम अनुग्रहका निरन्तर अनुभव कर सदा मस्त रहा करते थे। इनके विचार मत-मतान्तरके झगड़ोंसे ऊपर उठे हुए थे और इनके अंदर वह तीव्र आध्यात्मिक लगन थी जो कट्टरपनको मिटाकर मनुष्यको सहदय और कोमल बना देती है। इनके पद इतने सुन्दर और श्रवणसुखद हैं कि वे सुननेवालेकी आत्मामें प्रवेश कर जाते हैं और उनके हृदयपर विचित्र प्रभाव डालते हैं, जिससे उनकी प्रकृति ही बदल जाती है।

इनके ग्रन्थोंके संग्रहमें सबसे पहला ग्रन्थ काव्यकी दृष्टिसे बहुत ऊँचा और लोकप्रिय है। उसमेंसे कुछ पद्योंका भावानुवाद हम नीचे उद्धृत करते हैं, जिससे इनके विचारोंकी उदारता तथा इनकी भक्तिका बहुत कुछ परिचय मिलता है--

“वह कौन सी वस्तु है जो किसी स्थानविशेषमें न रहकर अपने तेजोमय रूपमें सर्वत्र मौजूद है और जो आनन्द और कृपाका समुद्र है? वह कौन है जिसके संकल्पसे यह विश्वब्रह्माण्ड उसीके प्रेमे आधारपर ठहरा हुआ है, उसीकी प्रेरणासे क्रियाशील बना हुआ है और जो सारे भूत-प्राणियोंके प्राणोंका भी प्राण है? वह कौन-सी वस्तु है जो मन और वाणीसे भी परे है?

वह कौन-सी सत्ता है जिसे प्रत्येक धर्म ईश्वर मानकर उसीका प्रचार करता है ? अनन्त ज्ञान और आनन्दस्वरूप कौन है? सनातन तत्त्व क्या है? अहोरात्रकी कल्पनाके परे कौन है ? वह प्रेमास्पद कौन है जिसे सब लोग हृदय और मनसे चाहते हैं? वह कौन है जो इन सारे दृश्य पदार्थोंके रूपमें प्रकट है? आओ, हमलोग उसी अनन्त, पूर्ण एवं नित्यशान्त तत्त्वकी उपासना करें।'

* आओ, हमलोग उस परमेशवरकी आराधना करें जो मनके अगोचर होनेपर भी दिव्यरूपसे मनमें ही प्रकाशित होता है और जो हमारे हदयाकाशका अत्यन्त देदीप्यमान नक्षत्र है।'

“हे आनन्दमय विभो! क्या आप ऐसा कोई चेटक नहीं जानते जिससे आप मेरे इस पापी और अशान्त मनको स्थिर कर सकें ?'

“प्रभो! हमारी इच्छाओंका अन्त नहीं। जिसे सारे भूमण्डलका स्वामित्व प्राप्त हो गया वह समुद्रोंके आधिपत्यकी इच्छा करता है। जो धनमें कुबेरके समान है वह भी अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है और उससे भी अधिक धनके लिये लालायित है। दीर्घकालतक जीनेवाले मनुष्य भी अमृत पीकर देवताओंकी आयु प्राप्त करना चाहते हैं। यदि हम अपने जीवनपर दृष्टि डालें तो हमें मालूम होगा कि अपनी वासनाओंको तृप्त करनेके लिये नाना प्रकारके भोग भोगना और खापीकर सो जाना, इसके अतिरिक्त हमारे जीवनका कोई उपयोग नहीं है।

अतः हे भगवन्! मैं अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट हूँ। कृपाकर मेरे अहंकारको दूर कीजिये और मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं विषयोंके पीछे मारामारा न फिरू और संसारके बन्धनमें न पड़ूँ। हे आनन्दमय विभो! ऐसी कृपा कीजिये कि मैं ध्यानमें मस्त होकर सदाके लिये मौन हो जाऊँ।'

“प्रसवकी पीड़ाको माता ही जानती है, वन्ध्याको उसका क्या पता । जिन्होंने भगवत्प्रेमके रसका आस्वादन किया है उन्हींके नेत्रॉसे प्रेमाश्रु बहते हैं और उन्हींके शरीरमें स्वेद, कम्प और पुलक आदि अष्ट सात्त्विकभाव प्रकट होते हैं। जिन्होंने इस अलौकिक आनन्दका अनुभव नहीं किया उनके हृदय पत्थरके समान हैं।'

(३) श्रीरामलिंग स्वामी

इनका जन्म ५ अक्टोबर सन् १८२३ ईसवीमें चिदम्बरमके निकटवर्ती मरुदर् नामक स्थानमें हुआ था। इनके पिताका नाम रामय्य पिल्ले और माताका नाम चिन्नम्मल था। जब ये नौ वर्षके थे तभीसे इनका भगवान् सुब्रह्मण्यके प्रति अनुराग हो गया और उसी अवस्थामें इन्होंने भगवान् सुब्रह्मण्यका एक स्तोत्र रचा था।

इन्हें भगवान् सुब्रह्मण्यकी कृपा प्राप्त हुई। इसके बाद ये तिरुवोरुजूर नामक स्थानको चले गये और वहाँ इन्हें स्वयं भगवान् शंकरने साधनके कई अत्यन्त गुप्त रहस्य बताये। एक बार पहले भी माणिक्क वाचक नामक संतको इसी प्रकार भगवान् शंकरसे दीक्षा प्राप्त हुई थी। उसी समयसे इन्होंने

काव्यकी वह पवित्र एवं निर्मल धारा बहायी जो आज भी तामिल देशके लाखों नर-नारियोंको आप्यायित करती है।

इनकी माता तथा भाइयों एवं बहिनने इन्हें विवाह करनेके लिये बड़ा आग्रह किया। इसपर इन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया, किन्तु इससे इनकी भक्तिमें कोई कमी नहीं आयी।इन्होंने बदलूर नामक स्थानमें एक ज्ञानसभा स्थापित की, जिसके द्वारा इन्होंने जनतामें दीनोंके प्रति दया और भगवान्‌की भक्तिका प्रचार किया। इन्होंने

बदलूरके निकट मेहुकुप्पम् नामक ग्राममें अपने लिये एक मकान बनवाया और उसमें रहकर ये योगाभ्यास और भगवत्प्रेमकी साधना करने लगे । इन्होंने कलियुगके ४९७८ वर्ष बीतनेपर अर्थात् सन् १८७६ में ५३ वर्षकी अवस्थामें अनेक काव्योंकी रचना कर तथा अनेक स्त्री-पुरुषोंको भगवान्के मार्गमें लगाकर अपने नश्वर शरीरको त्याग दिया।

इनकी रचनाओंका संग्रह 'तिरुवरुत्या' के नामसे प्रकाशित हुआ है। इनकी रचनाका विशेष गुण यह है कि इनकी भाषा बहुत सरल है और उसके अंदर अपने समयके स्त्री-पुरुषोंके कल्याणकी तीव्र कामना स्पष्ट रूपसे जाहिर है, साथ ही इनके विचारोंकी उदारता तथा हृदयकी विशालता भी इनके काव्योंमें भलीभाँति झलकती है। 'समरससन्मार्गम्' अर्थात् सहिष्णुता और सदाचार-यही इनके उपदेशों और जीवनका मूलमन्त्र मालूम होता है।

(४) मेयकन्द् और उनकी शिष्यपरम्परा

इन्होंने शैव सिद्धान्तको एक सुव्यवस्थित एवं दार्शनिक रूप दिया, इसीसे शैवोंके सिद्धान्तशास्त्र मेयकन्दूशास्त्र कहे जाते हैं। इनकी कुल संख्या १४ है और इनके संकलनकर्ता और व्याख्याता मेयकन्द् और उनके शिष्य अरुलनन्दी, मरै ज्ञानसम्बन्ध और उमापति शिवाचार्य हैं।

तिरुवेण्णै नल्लूर नामक स्थानमें वल्ललजातिका अच्युत कालप्पालन् नामका एक धनी मनुष्य रहता था। वह बड़ा श्रद्धालु और आस्तिक था। समय पाकर उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम उसने तिरुवेन्काडुके प्रधान देवताके नामपर श्वेतवनप्परुमाल रखा। यह बालक पाँच वर्षकी अवस्थातक कुछ बोला नहीं। परंज्योति मुनिवर नामके महात्मा एक दिन उस वल्ललके मकानके सामनेसे होकर जा रहे थे।

उन्होंने इस बालकको होनहार देखकर शैवधर्ममें दीक्षित किया और उसका नाम मेयकन्द् (तत्त्वको जाननेवाला) रखा। उनकी आज्ञासे मेयकन्द्ने शिवज्ञानबोध सूत्रोंका भाषान्तर किया और साथ-ही-साथ उनपर एक वार्तिककी रचना भी की। इनके पिताके वयोवृद्ध गुरु सकलागमपण्डित उनके इस उत्कर्षको नहीं सह सके और ईर्ष्यावश उन्होंने इस होनहार युवककी कीर्तिको दबाना चाहा। एक दिन जब मेयकन्द् अपने विद्यार्थियोंको पढ़ा रहे थे, वे इनके पास आये और जब मेयकन्दूने आणवमल (मूलाविद्या)-का निरूपण प्रारम्भ किया, सकलागमपण्डितने बड़े रोषके स्वरमें कहा कि आणवमलका स्वरूप हमें दिखलाकर बताओ।

इसपर मेयकन्द्ने अपनी उँगलीसे उन्हींकी ओर संकेत करके कहा कि आणवमलका स्वरूप यही है। इसपर सकलागमपण्डित बड़े लज्जित हुए, उनका अभिमान दूर हो गया और उनकी अन्तरात्मा शुद्ध हो गयी । उन्होंने मेयकन्द्से प्रार्थना की कि आप हमारे अज्ञानको दूरकर ज्ञानका प्रकाश दीजिये। मेयकन्द्ने उनका नाम अरुलनन्दी रखा और उन्हें शिवज्ञानबोध पढ़ाया।

अरुलनन्दीने शिवज्ञानसिद्धि नामक एक आकरग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने मेयकन्द्के सिद्धान्तोंका विशद रूपसे प्रतिपादन किया। अरुलनन्दीके शिष्यका नाम मरे ज्ञानसम्बन्ध था और मरै ज्ञानसम्बन्धके शिष्य उमापति शिवाचार्य हुए, जिन्होंने शिवप्रकाश नामक बृहद् ग्रन्थकी रचना की। ये चार आचार्य सन्तान आचार्योंके नामसे विख्यात हैं।

भारतके दार्शनिक सिद्धान्तोंमें शैवसिद्धान्त भी एक बड़ा सुन्दर सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तमें 'पति', *पशु' और *पाश' (अर्थात् ईश्वर, जीव और बन्ध) इन तीन नित्य पदार्थोंका निरूपण किया गया है। पतिरूप भगवानको जानकर उनके साथ प्रेम करनेसे ही जीव पाश अर्थात् बन्धनसे मुक्त हो सकता है। परमतत्त्व निर्गुण और सगुण दोनों ही है और प्रेम और दयारूप ही है। सत्-चित्-आनन्द ही उसका स्वरूप है।

विश्वकी आत्मा भी वही है । शिवज्ञानबोधसूत्रोंकी रचना शैवागमके आधारपर हुई है और उसमें ऊपर कही हुई बातोंको ही स्पष्ट एवं युक्तियुक्त ढंगसे तथा हृदयमें पैठनेवाले दृष्टानतोंद्वारा भलीभाँति समझाया गया है। शिवज्ञानबोध नामक मूल संस्कृत ग्रन्थमें बारह अनुष्टुप् श्लोक हैं जो

रौरवागमके अन्तर्गत माने जाते हैं। मेयकन्द्ने इन्हीं श्लोकोंका तामिलभाषामें अनुवाद करके एक वार्तिक भी लिखा है।

पहले सूत्र श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जगतूके कार्यरूप होनेसे उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये, वह कारण भगवान् शिव हैं जो प्रकृतिके परे होते हुए भी उसमें ओतप्रोत भी हैं और कर्मवैचित्र्यके अनुसार इस भेदमयी सृष्टिकी रचना करते हैं। वे अपनी चिच्छक्तिके द्वारा ही यह कार्य करते हैं। ३ से ६ तकके सूत्रोंमें यह प्रतिपादन किया गया है कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे पृथक् है, वह इन सबका राजा है, और मन उसका मन्त्री है जो मलसे आवृत है। सातवें सूत्रमें जीवको ईश्वर और जगत्से भिन्न बताया गया है।

आठवें सूत्रमें एक राजकुमारका दृष्टान्त दिया गया है जो किसी व्याधके घरमें पला था। जबतक उस राजकुमारको यह नहीं बताया जायगा कि तुम अमुक राजाके पुत्र हो, इस व्याधके नहीं, तबतक वह अपने असली स्वरूपको नहीं पहचान सकेगा। उसी प्रकार जीवको जबतक गुरुद्वारा यह उपदेश नहीं मिलता कि तुम वास्तवमें शिव ही हो, तबतक उसे अपने शिवत्वका बोध नहीं होता।

नवें सूत्रमें यह लिखा है कि गुरुके उपदेशसे आत्मा परमात्माके स्वरूपको पहचानकर इस अनित्य एवं दुःखमय संसारका परित्याग कर देता है और उन्हींके स्वरूपका ध्यान करता हुआ उन्हींके चरणकमलोंकी शीतल छायामें शान्ति पाता है। दसवें सूत्रमें यह बताया गया है कि परमात्माके ध्यानसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और आत्मा परमात्माका साक्षात्कार कर उन्हींमें मिल जाता है।

ग्यारहवें सूत्रमें भक्तिको ही परमात्माकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताया गया है और बारहवें सूत्रमें भगवान्के अर्चाविग्रहकी पूजाका उपेदश दिया गया है।

(५) श्रीचिदम्बर स्वामी

इनका जन्म मदुरा नगरीमें “संघम्? कवियोंकी परम्परामें हुआ था। ये एक दिन किसी रेद्दीकुलके बालकोंको पढ़ा रहे थे, उन बालकोंके पिताके गुरु कुमारदेव वहाँ आये; परन्तु चिदम्बर स्वामीको अपनी विद्या और शास्त्रज्ञानका बड़ा अभिमान था, अत: वे कुमारदेवको आते देखकर न तो

अपने आसनसे उठे और न उन्हें अभिवादन ही किया। कुमारदेवने इनसे कुछ वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ पूछा, जिसे ये नहीं बता सके।

इसपर चिदम्बर स्वामी बड़े लज्जित हुए, उन्होंने कुमारदेवके चरणोंपर गिरकर उनसे अपने अविनयके लिये क्षमा माँगी और उसी दिनसे वे उन्हें अपना गुरु मानने लगे।छः महीने बाद कुमारदेव फिर वहाँ आये और इनसे उन्हीं वेदान्तके पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ फिर पूछा। अब तो चिदम्बर स्वामीको गुरुकृपासे उनका अर्थ मालूम हो गया था और गुरुके आदेशसे उन्होंने वेदान्तके कई ग्रन्थोंपर तामिलभाषामें टीकाएँ लिखीं।

एक दिन इन्होंने स्वप्नमें एक मयूरको देखा। मयूर भगवान् सुब्रह्मण्यका वाहन है । इन्हें भगवान्की ओरसे यह आदेश मिला कि तुम तिरुपोरूरके मन्दिरका
जीर्णोद्धार कर उसका पुनर्निर्माण कराओ। बस, फिर क्या था। ये तुरन्त तिरुपोरूरकी ओर चल दिये। पीछेसे चोर इनके घरमें घुसकर इनका सब कुछ चुरा ले गये। परन्तु ज्यों ही वे इनका सामान लेकर घर पहुँचे वे अन्धे हो गये। तब तो उन्हें अपने कर्मपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ, वे दौड़े हुए चिदम्बर स्वामीके पास आये और उनसे गिड़गिड़ाकर क्षमाप्रार्थी करने लगे।

इसपर चिदम्बर स्वामीने उनसे कहा--' यदि तुम अपनी सारी सम्पत्ति इस प्राचीन मन्दिरके जीर्णोद्धारमे लगा दो तो तुम्हारे नेत्रोमे फिरसे ज्योति आ सकती है।' चिदम्बर स्वामीकी आज्ञासे उन्होंने अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण कर दिया और उन्हींके पास आकर सो रहे। दूसरे ही दिन उन्हें अपने नेत्र पुनः प्राप्त हो गये। उसी दिनसे चिदम्बर स्वामीको रोगियोंको रोगमुक्त करनेकी अद्भुत शक्ति प्राप्त हो गयी और उन्होंने भगवान्के आशीर्वादसे कई असाध्य रोगियोंको अच्छा कर दिया।

अब तो उनके पास रुपयोंकी वर्षा होने लगी, जिससे उन्हें अपने जीवनका उद्देश्य पूरा करनेका एक अच्छा साधन प्राप्त हो गया। उन्होंने उस द्रव्यसे मन्दिरको नये ढंगसे बनवाया। उन्होंने तामिल पद्यमें कई धार्मिक ग्रन्थ लिखे, जिनमेंसे प्रधान ग्रन्थोंक नाम "तिरुपोरूर सन्निधि मुरै' और 'वैराग्यशतक' हैं। इस प्रकार भगवानके गुणानुवादमें जीवन व्यतीतकर वे अन्तमें भगवान्के लोकको चले गये।

(६) कचिअप्प शिवाचार्य

इनका जन्म कांची नगरीमें हुआ था। इनके पिता कालथिअप्प शिवाचार्य वहाँके कुमारगोष्ठ नामक मन्दिरके पुजारी थे। पिताके देहान्तके बाद ये भी उसी मन्दिरके पुजारी हो गये । इन्होंने दस हजार सुन्दर पद्योंमें संस्कृतके सन्तं सुशान्तं सततं नमामि कल स्कन्दपुराणका तामिलभाषामें अनुवाद किया। (७) कुमारगुरुपरस्वामी इनका जन्म अहवर तिरुनगरी नामक स्थानमें हुआ था; इनके पिताका नाम षणूमुगशिखामणि कवीय्य था। आचार्य मेयकन्द्की भाँति ये भी पाँच वर्षकी अवस्थातक कुछ न बोले। इनके माता-पिता इन्हें तिरुचन्दूर नामक क्षेत्रमें ले गये।

वहाँ इन्हें भगवान् सुब्रह्मण्यकी कृपा प्राप्त हुई और इन्होंने कन्दरकलिवेन्वा नामक सुन्दर काव्य लिखकर भगवानको सुनाया, जिसमें भगवान् सुब्रह्मण्यका ही गुणानुवाद है। ये राजा तिरुभल नायकके राजत्वकालमें मदुरा गये और वहाँ दरबारमें अपना 'मीनाक्षी अम्मो पिल्लै तमिल' नामक काव्य सुनाया। मीनाक्षीदेवी उस समय स्वयं एक पुजारीकी लड़कीके रूपमें वहाँ उपस्थित थीं और उन्होंने उपहारमें इन्हें एक बहुत सुन्दर रत्नोंका हार भेंट किया।

इसके बाद इन्होंने भगवान् सुब्रह्मण्यकी स्तुतिमें भी वैसा ही सुन्दर काव्य लिखा। इन्होंने चिदम्बरम्में रहकर कोवे और कलम्बकम् नामक ग्रन्थ भी लिखे। इनके अतिरिक्त इन्होंने ननेदि और नीतिनरिं विलक्कं आदि और भी कई ग्रन्थ लिखे। इन्होंने (माशिला मणिदेशिकर् नामक) गुरुसे दीक्षा ग्रहण की, जो उस समय तंजौर जिलेके धर्मपुर मठके अध्यक्ष थे।

इन्होंने गुरुकी आज्ञासे काशीकी यात्रा की, वहाँ इनकी विद्यापर मुग्ध होकर किसी उत्तर प्रान्तके राजाने इन्हें प्रचुर अर्थ दिया, जिससे इन्होंने बनारसमें एक मठ बनवाया। इसके बाद ये अपने गुरुके पास चले आये, परन्तु गुरुने इन्हें बनारसमें ही रहकर शैवधर्मका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। इन्होंने ऐसा ही किया और जीवनभर गुरुकी आज्ञाका पालन कर अन्तमें शिवलोकको चले गये।

उदासीनाचार्य श्रीश्रीचन्द्रजी महाराज

उदासीन-सम्प्रदायके प्रवर्तक भगवान् श्रीश्रीचन्द्रजी महाराजका आविर्भाव सं० १५५१ भाद्रपद शु० ९ को तलवण्डी नामक गाँवमें, जो लाहौरसे ३० कोस पश्चिम है तथा आजकल जिसको ननकाना कहते हैं, क्षत्रियकुलभूषण श्रीनानकदेवजीकी धर्मपत्नी श्रीसुलक्षणादेवीके गर्भसे हुआ था।

जिस समय आप इस पृथ्वीतलपर आविर्भूत हुए, उसी समय आपका शिशु-शरीर जटा-भस्मादिसे विभूषित था और ज्यों-ज्यों वह बड़ा हुआ, त्यों-त्यों आपने जो एक-से-एक अद्भुत चमत्कार दिखलाये, उनको देखसुनकर लोगोंको यह पक्का विश्वास हो गया कि आप कोई अलौकिक महापुरुष हैं, तथा विषयान्ध जीवोंके उद्धारार्थ ही आपका इस मर्त्यलोकमें पधारना हुआ है। यथासमय आपका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हो गया और आप विद्याध्ययनके लिये काश्मीर भेज दिये गये।

वहाँ आपने अल्पकालमें ही वेद-वेदांगोंका विधिवत् अध्ययन कर लिया और जब आप ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करते हुए सकल शास्त्रनिष्णात हो गये, तब अर्थात् सं० १५७५ की आषाढी पूर्णिमाको काश्मीरमें ही आपने सद्गुरु स्वामी श्रीअविनाशिरामजीसे उदासीनसम्प्रदायानुसार दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् कुछ दिनोंतक गुरुदेवकी ही सेवामें रहकर आप उनके उपदेशामृतका पान करते रहे।

जब आपने धर्मोद्धारका समय देखा तब भारतभ्रमणके लिये निकल पड़े, उत्तर भारतसे लेकर दक्षिण भारतके प्राय: समस्त तीर्थोका आपने परिभ्रमण किया और अपने उपदेशों द्वारा धार्मिक जगत्में एक नवीन जागृति फैला दी। फिर अन्य स्थानोंमें भी जाजाकर आपने कितने पाप-परायण जीवोंका उद्धार किया, इसकी कोई गणना नहीं की जा सकती।

कुछ समयके अनन्तर आप फिर काश्मीरकी ओर चले गये और वहाँ जाकर आपने वेद-भाष्योंकी रचना की। तत्पश्चात् आपका पदार्पण पेशावर तथा काबुलकी ओर हुआ। उधरके यत्किंचित् हिन्दुओंका जीवन विधर्मियोंके दबावसे संकटमय था, अतः आपने कई स्थानोंपर अपनी

योगशक्तिके प्रभावसे हिन्दुओंकी रक्षा की। जहाँ-जहाँ आपने हिन्दुओंकी रक्षा की, वहाँ-वहाँपर अबतक आपके स्मारक बने हुए हैं। उसी समय सिंधके

हिन्दुओंपर भी यवनोंका बड़ा भारी अत्याचार हो रहा था। वहाँके ठट्ठा नामक नगरमें यह हालत थी कि हिन्दूलोग मन्दिरोंमें आरती करते समय यवनोंके भयसे घण्टा-शंख भी नहीं बजा पाते थे और खुलेआम पाठ-पूजा तो बंद थी ही।

यह सुनकर आप शीघ्र ही वहाँ पहुँचे और अपने योगबलसे वहाँके राजाको परास्त करके आपने हिन्दुओंको धार्मिक स्वतन्त्रता दिलायी। इसी प्रकार आपने जहाँगीर बादशाहको भी एक बार अपने योगबलका परिचय देकर प्रभावित किया था। और काबुलके वजीर खाँ नामक मुसलमानपर तो आपकी योगशक्तिका प्रभाव जादूकी तरह पड़ा था। वह आपके उपदेशोंके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णका अनन्य भक्त बन गया और 'हे कृष्ण विष्णो मधुकैटभारे ' की ध्वनि लगाने लगा । तात्पर्य यह कि आपने लोकहितके लिये थोड़े नहीं, असंख्य चमत्कार दिखलाये और अपनी कीर्ति-ध्वजाको सारे देश-देशान्तरोंमें फहरा दिया।

स्थानाभावके कारण आपकी अन्य अलौकिक लीलाओंका वर्णन यहाँ नहीं आ सकता और न आपके बहुमूल्य उपदेश ही यहाँ दिये जा सकते हैं । जिन्हें आपके जीवनकी अनन्त घटनाओं तथा आपके दिव्य उपदेशोंको जानना हो उन्हें श्रीचन्द्रप्रकाश, उदासीनधर्मरत्नाकर, उदासीनमंजरी प्रभृति ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये। उदासीन-सम्प्रदायके प्रचारद्वारा सनातनधर्मका दिग्विजय कराते हुए आप १५० वर्षतक इस धराधामपर विद्यमान रहे; परन्तु फिर भी वृद्धावस्था आपके पास फटकीतक नहीं।

आप अपने योगबलसे सदा नौजवान ही बने रहे । जब आपके निर्वाणका अवसर आया तब आप चम्बाकी पार्वत्य गुफाओंमें जाकर तिरोहित हो गये, इसी कारण आपकी निर्वाणतिथिका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ठट्ठा, वारहठ, श्रीनगर, कान्धार और पेशावर-ये पाँच आपके मुख्य निवासस्थान थे। आपके बाद आपके अनेकों शिष्य भी बड़े-बड़े सिद्ध तथा संत हुए और उन्होंने भी विश्वका बड़ा हित किया।*

अष्टछापके संत

श्रीवल्लभाचार्यजीके पीछे उनके पुत्र गोसाई श्रीविट्ठलनाथजी गद्दीपर बैठे। उस समयतक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदोंकी रचना कर चुके थे। दार्शनिक पक्षमें वल्लभाचार्यजीका मत जिस प्रकार शुद्धाद्वैत कहलाता है उसी प्रकार भक्तिपक्षमे वह *पुष्टिमार्ग' कहलाता है। इसकी मान्यता यह है कि केवल ईश्वरके अनुग्रहसे ही, जिसे 'पुष्टि' या 'पोषण' कहते हैं, जीव अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करता है। पुष्टिमार्गमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही इष्टदेवके रूपमें पूजित हुए हैं।

श्रीकृष्णके जिस मधुर रूपको लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह प्रेमोन्मत्त गोपिकाओंसे घिरे हुए गोकुलके श्रीबालकृष्ण हैं--वह हास-विलासके तरंगोंसे परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य समुद्र हैं। उस सार्वभौम प्रेमालम्बनके सम्मुख मनुष्यका हृदय निराले प्रेमलोकमें फूला-फूला फिरता है। ये संतकवि अपने रंगमें मस्त रहनेवाले जीव थे।

हाँ, तो, श्रीवल्लभाचार्यजीके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजीने कृष्णभक्त कवियोंमें आठ सर्वोत्तम कवियोंको चुनकर अष्टछापकी प्रतिष्ठा की। अष्टछापके आठ कवि ये हैं--सूरदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी और चतुर्भुजदास। स्थानाभावके कारण इन आठ महात्माओंका बहुत संक्षेपमें परिचयमात्र यहाँ दिया जा रहा है। साथ ही पाठकोंसे यह प्रार्थना है कि इन संतोंके विस्तृत जीवनचरित्र तथा इनके पदोंका आकलन अवश्य करें। उनके पठन-गायनसे चित्त शुद्ध होगा, हृदय पवित्र होगा और उसमें श्रीकृष्णभक्तिका आविर्भाव होगा। अस्तु।

सूरदासजी

श्रीवल्लभाचार्यके शिष्योंमें प्रधान, सूरसागरके रचयिता, भक्ताग्रगण्य महात्मा सूरदासजीका जन्म रुनकता (रेणुकाक्षेत्र) में-किसी-किसीके मतसे इनका जन्म दिल्लीके पास सीही गाँवमें हुआ था, जो आगरामथुराकी सड़कपर है-संवत् १५४० वि० के लगभग हुआ। "चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' के

अनुसार सूरदासजी सारस्वत ब्राह्मण थे। कोई-कोई इन्हें ब्रह्मभट्ट कुलके मानते हैं और इनके पिताका नाम रामदास था।

सूरदासजी जन्मके अन्धे नहीं थे, पीछे अन्धे हो गये थे। गऊघाटपर आप श्रीवल्लभाचार्यजीके शरणापन्न हुए और गुरुकी आज्ञासे इन्होंने श्रीमद्भागवतकी कथाको पदोंमें गाया। सूरसागरमें प्रधानतया भागवतके दशम स्कन्धकी कथा ही ली गयी है। इसमें सवा लाख पद बताये जाते हैं, यद्यपि इस समय बहुत थोड़े मिलते हैं।

मुसलमानोंके साथ इनके पिताका जो युद्ध हुआ उसमें इनके छः भाई मारे गये। ये इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन ये कुएँमें गिर पड़े और छः दिनतक उसीमें पडे रहे। सातवें दिन भगवान् श्रीकृष्ण इनके सामने प्रकट हुए और इन्हें दृष्टि प्रदानकर उन्होंने अपने रूपका दर्शन कराया। सूरदासने वर माँगा कि जिन नेत्रोंसे मैने आपका रूप देखा उनसे और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। सूरदासजी कुएँसे निकलनेपर फिर ज्यों-के-त्यों अन्थे हो गये और व्रजमें वास करने लगे। वहाँ गोसाईजीने इन्हें अष्टछापमें लिया।

सूरदासजीकी उपासना सख्यभावकी है। यहाँतक कि ये उद्धवके अवतार कहे जाते हैं। सूरदासजी संवत् १६२० के लगभग गोसाई विट्टलनाथजीके सामने पारसोली गाँवमें अन्तिम क्षण श्रीराधाकृष्णके अखण्ड रासमें सदाके लिये लीन हो गये।

सूरसागरमें कृष्णजन्मसे लेकर श्रीकृष्णके मथुरा जानेतककी कथा अत्यन्त विस्तारके साथ पदोंमें गायी गयी है। भिन्न-भिन्न लीलाओंके प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न संत कविने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदोंकी झड़ी-सी बाँध दी है। शृंगार और वात्सल्यका जैसा सरस और निर्मल स्त्रोत सूरसागरमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं दीख पड़ता।

कहते हैं, इनके साथ बराबर एक लेखक रहा करता था। इनके मुँहसे जो भजन निकलते थे उन्हें वह लिखता जाता था। कई अवसरोंपर लेखकके अभावमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उनके लेखकका काम करते थे। एक दिन सूरदासजीने अनुभव किया कि जो बात मेरे मुँहसे निकलती है उसे लेखक पहले ही लिख लेता है--यह कार्य भगवान्के सिवा दूसरा कर नहीं सकता। बस, इन्होंने लेखककी बाँह पकड़ ली; परन्तु हाथ छुड़ा लिया और तुरंत अन्तर्धान हो गये। उसी समय सूरदासजीके मुँहसे यह दोहा निकला-बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानिकै मोहि। हिरदै ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि॥

सूरदासके सभी पद एक-से-एक अनूठे हैं। उनमें डूबनेसे आत्माको वास्तविक सुख, शान्ति और तृप्ति मिलती है । उनके अनेकों पद प्रेमीजनोंके हृदयमें बराबर गूँजते रहते हैं। प्रीतिकी विवशतामें राधा माधवको उलाहना दे रही है-प्रीति करि काहू सुख न लह्यो। प्रीति पतंग करी दीपक सों, आपै प्रान दह्यो॥ अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों, संपति हाथ गह्यो। सारँग प्रीति करी जो नाद सों, सनमुख बान सह्यो ॥ हम जो प्रीति करी माधौ सों, चलत न कछू कह्यो। सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनो, नैननि नीर बह्यो॥

राधा-कृष्णके प्रेमके प्रादुर्भावकी कैसी स्वाभाविक परिस्थितिका चित्र है, यह देखिये धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी। एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥ मोहन करतें धार चलति पय, मोहनि-मुख अति ही छबि बाढ़ी॥ सन्ध्या होनेपर कभी तो गोपियोंको यह स्मरण आता है-एहि बिरियाँ बनते चलि आवते। दूरहिंतें बह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते॥ कभी अपने उजड़े हुए नीरस जीवनके मेलमें न होनेके कारण वे वृन्दावनके हरे-भरे पेड़ोंको कोसती हैंमधुबन! तुम कस रहत हरे ? बिरह-बरियोग स्यामसुंदरके ठाढ़े क्यों न जरे? तुम हौ निलज, लाज नहि तुमको, फिर सिर पुहुप धरे। ससा स्यार और बनके पखेरू, धिक धिक सबन करे कौन काज ठाढ़े रहे बनमें, काहे न उकठि परे?

जब उद्धव बहुत-सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका उपदेश बराबर देते ही चले जाते हैं तब गोपियाँ बीचमें रोककर इस प्रकार पूछती हैंनिर्गुन कौन देसको बासी? मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी। रेख न रूप, बरन जाके नहिं, ताको हमैं बतावत। अपनी कहौ, दरस ऐसेको तुम कबहुँ हौ पावत? मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत।

नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ? तन त्रिभंग करि, नटबर बपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत ? सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत ? नन्ददासजी नन्ददासजी सूरदासजीके प्रायः समाकालीन थे। ये श्रीगोसाईंजीके शिष्य थे। कविताकाल इनका सूरदासजीके गोलोक पधारनेके बाद सं० १६२५ या उसके और आगेतक माना जा सकता है।

नाभाजीके भक्तमालमें इनपर जो छप्पय है उसमें जीवनके सम्बन्धमें इतना ही है-“चन्द्रहास-अग्रज सुहृद, परम प्रेम-पथमें पगे '। गोस्वामी विद्ठलनाथजीके पुत्र गोकुलनाथजीने जो “दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता' लिखी उसमें इनका थोड़ा-सा वृत्त दिया है, जिसके द्वारा यह ठहरता है कि

नन्ददासजी गोस्वामी तुलसीदासजीके भाई थे। गोस्वामीजीका नन्ददासके साथ वृन्दावन जाने और वहाँ “तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेओ हाथ वाली घटनाका भी उस * वार्ता' में विवरण है।

कुछ महानुभावोंने यह सिद्ध किया है कि नन्ददास और तुलसीदासमें कोई सम्बन्ध नहीं था और उस वार्ताको प्रमाणकोटिमें नहीं लिया जा सकता। जो कुछ भी हो, नन्ददासजी तुलसीदासजीके भाई हों या नहीं, परम भक्त अवश्य थे। हमें तो उनके संतचरित्रसे काम है।

नन्ददासजीकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक ' रासपंचाध्यायी ' है, जो रोला छन्दोंमें लिखी गयी है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाका बहुत ही भावपूर्ण वर्णन है। रासपंचाध्यायीके अतिरिक्त इन्होंने भागवत दशम स्कन्ध, रुक्मिणीमंगल, रूपमंजरी, रसमंजरी, विरहमंजरी, रामचिन्तामणिमाला, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई तथा भ्रमरगीत लिखा। इनमें “रासपंचाध्यायी ' और ' भ्रमरगीत' ही प्रसिद्ध हैं । वास्तवमें नन्ददासजी परम भागवत, महान् भावुक और उच्च प्रतिभावान संत कवि थे। इनकी रचना हृदयवेधिनी, मर्मस्पर्शिनी, सरस और सजीव है |

गोपियाँ श्रीकृष्णकी मधुर वंशीका आवाहन सुनकर उनके पास खिंच आयी हैं। इसपर प्रभु उन्हें घर लौट जाने और अपने पति-पुत्रोंकी सेवाका उपदेश करने लगे। यह 'धर्म' का उपदेश गोपियोंके हृदयमें छिपी हुई विरहाग्निको अधिक धधकानेवाला ही हुआ। वे कहती हैं- पारिधिहू तें तुम जु कठिन, सुन हो मोहन पिय। बेनु बजाय, बुलाय मृगी सी मोहि हतीं तिय॥ मात-पिता, पति-बंधु सबै तजि तुम ढिग आई। जानि-बूझि अधरात गहर बन महँ फिरि आई॥ अजहू नहिं कछु बिगर्‍यो रंचक, तुम पै आवौ।

मुरलीको जूठो अधरामृत आय पियावौ॥ जानति हैं हम, तुम जु डरत ब्रजराजदुलारे। कोमल चरन-सरोज, उरोज कठोर हमारे॥ हरैं हरै पिय धरौ हमहुँ तो निपट पियारे। कित अटवीमें अटत गड़त तृन कूर्प अन्यारे॥ * भ्रमरगीत' में उद्धवके ' निर्गुण' उपदेशपर गोपियाँ कहती हैंजौ उनके गुन नाहि, और गुन भये कहाँते। बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहौ, कहाँते॥ वा गुनकी परछाँहरी, माया-दरपन बीच। गुन ते गुन न्यारे भए, अमल बारि जल कीच॥ सखा सुन स्यामके। नंदभवनको भूषन माई ।

जसुदाको लाल, बीर हलधरको, राधारमण परम सुखदाई॥ सिवको धन, संतनको सरबस, महिमा बेद-पुराननि गाई। इंद्रको इंद्र, देव देवनको, ब्रह्मको ब्रह्म अधिक अधिकाई ॥ कालको काल, ईस ईसनको, अतिहि अतुल, तोल्यो

नहिं जाई । नंददासको जीवन गिरधर, गोकुल गाँवको कुँवर कन्हाई ॥ कृष्णदासजी कृष्णदासजी भी श्रीवल्लभाचार्यजीके शिष्य और अष्टछापमें थे। ये जातिके शूद्र थे परन्तु आचार्यजीके बड़े कृपापात्र थे और मन्दिरके प्रधान मुखिया हो गये थे।

चौरासी वैष्णवोंकी वार्तामें इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है। एक बार गोसाईं विट्‌ठलनाथजीसे किसी बातपर अनबन हो जानेके कारण इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इसपर गोसाई विट्‌ठलनाथजीके कृपापात्र महाराज बीरबलने इन्हें कैद कर लिया। पीछे गोसाईंजी इस बातसे बड़े दुःखी हुए और इनको कारागारसे मुक्त कराकर प्रधानके पदपर फिर ज्यों-का-त्यों प्रतिष्ठित कर दिया। कृष्णदासजीने भी राधा-कृष्णके प्रेमको लेकर श्रृंगाररसके बहुत सुन्दर पद गाये हैं। “जुगलमान चरित्र नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ आपका मिलता है। '

भ्रमरगीत' और 'प्रेमतत्त्वनिरूपण' नामके इनके दो और ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। इनका गोलोकवास लगभग संवत् १६६५ वि० में हुआ। आपका एक पद यहाँ दिया जा रहा है। कहते हैं, इसी पदको गाकर कृष्णदासजीने शरीर छोड़ा था। मो मन गिरिधर-छब्रि पै अटक्यो। ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥ सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।

कृष्णदास किये प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥ परमानन्ददासजी परमानन्ददासजीका निवासस्थान कन्नौजमें था और आप कनौजिया ब्राह्मण थे। संवत् १६०६ के लगभग वर्तमान थे। अत्यन्त तन्मयताके साथ आपने बड़ी सरस कविता की है। कहते हैं कि इनके किसी एक पदको सुनकर श्रीवल्लभाचार्यजी कई दिनोंतक तन-बदनकी सुध भूले रहे। इनके फुटकर पद कृष्णभक्तोंके मुँहसे प्रायः सुननेमें आते हैं।

'श्रुवचरित्र,' “दानलीला' तथा इनके पदोंका संग्रह, इस प्रकार तीन पुस्तकें आपकी रचित प्राप्त हुई हैं। कहते हैं, इन्हें ' श्रीनवनीतप्रिया'* जीका इष्ट था और जब ये तल्लीन होकर पद गाया करते तो आपकी गोदमें बैठकर श्रीनवनीतप्रियाजी आपका सुमधुर गीत सुना करते थे। संतोंमें यह बात भी प्रसिद्ध है कि स्वामी परमानन्दको साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य दर्शन हुए।

आप बहुत ही सुन्दर कीर्तन करते और गाते थे। आपके पास भावुक भक्तोंकी बराबर बड़ी भीड़ रहा करती थी। आपकी भक्ति-निष्ठा भक्तोंसे आदर्श मानी

जाती है। यहाँ आपका एक पद दिया जाता है-कहा करौं बैकुंठहि जाय? जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी-ग्वाल, न गाय॥ जहँ नहिं जल जमुनाको निर्मल, और नहीं कदमनकी छाय। परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

कुम्भनदासजी

श्रीकुम्भनदासजी श्रीगोवर्धनके निकट यमुनावत गाँवमें रहते थे। उन दिनों यमुनाजीका प्रवाह इस गाँवके निकट था। उनका खेत पारसोली चन्द्रसरोवरके ऊपर था और वहीं ये खेती करते तथा सदा रहते भी थे। आप परमानन्ददासजीके समकालीन थे। आप पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादाकी इच्छासे कोसों दूर थे। एक बार बादशाहके बुलानेपर इन्हें फतहपुर-सीकरी जाना पड़ा, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ; पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा और इन्होंने खेद-विषादकी अवस्थामें गाया-भगतको कहा सीकरी सों काम? आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम ॥ जिनको मुख देखें दुख उपजत, तिनको करिये परी सलाम । कुंभनदास लाल गिरधर बिनु, और सबै बेकाम॥

आपके अटूट वैराग्यके कई उत्कृष्ट प्रमाण मिलते हैं--एक बार जयपुरके राजा मानसिंहजी आपके दर्शनोंको आये और मोहरोंकी थैलियाँ आपके चरणोंमें रखकर स्वीकार करनेकी प्रार्थना की, और इसके ऊपर आपको कई गाँव भी भेंटमें देने लगे । संत कुम्भनदासने बड़ी सरलतासे कहा, “भाई! यह सब लेकर मैं क्या करूँगा? हमको तो खेती है।

उसमें हमारे लिये पर्याप्त अन्न हो जाता है, और मैं ब्राह्मण तो हूँ नहीं कि दानकी वस्तुएँ लूँ। यदि तुमको देना ही है तो किसी ब्राह्मणको दे दो।' राजाके बहुत अधिक आग्रह करनेपर कि मुझे कोई आज्ञा की जाय, कुम्भनदासजीने कहा कि यदि आप मेरी आज्ञा मानेंगे तो मेरी आज्ञा यही है कि आप कृपाकर फिर कभी यहाँ न पधारें, संतोंको इन प्रलोभनों और आकर्षणोंसे दूर ही रहने दें!

एक बार श्रीगुरुकी आज्ञासे आपको गोवर्धनसे बाहर जाना पड़ा था। गोवर्धन छोड़नेके दूसरे ही दिन आपकी दशा बहुत विचित्र हो गयी। अब न मालूम

पुनः कब श्रीनाथजीके दर्शन होंगे, ऐसा विचारकर आप फूट-फूटकर रोने लगे। उसी समयका आपका यह विरहका पद है, जो भक्तोंके प्राणोंको परमप्रिय है-किते दिन ह्वै गये बिनु देखें। तरुन किसोर रसिक नंदनंदन कछुक उठत मुख रेखें बह सौभाग्य, वह कांति बदनकी, कोटिक चंद बरिसेखें। वह चितवनि, वह हास्य मनोहर, वह नटबर बपु भेखें॥ स्यामसुँदर मिलि सँग खेलनकी आवत जीय अपेखें। कुंभनदास लाल गिरधर बिनु जीवन-जनम अलेखें॥

इनका कोई ग्रन्थ न तो प्रसिद्ध ही है और न अबतक मिला है। फुटकर पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही प्रभुकी बाललीला और प्रेमलीला है। गोपी कहती है-तुम नीकें दुहि जानत गैया। चलिये कुँवर रसिक मनमोहन, लगौ तिहारे पैयाँ॥ तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया। निकटहि है यह खरिक हमारो, नागर लेऊ बलैयाँ॥

देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यो सुँदरैयाँ। कुँभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि गोबरधन रैया॥ चतुर्भुजदासजी श्रीचतुर्भुजदासजी कुम्भनदासजीके पुत्र और गोसाई विट्ठलनाथजीके शिष्य थे। इनके जन्मके सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध है कि इनके पिता श्रीकुम्भनदासजी प्रभु श्रीनाथजीके साथ खेला करते थे। एक दिन कुम्भनदासजीको श्रीगोवर्धननाथजीने चार भुजा धारण करके दर्शन दिये। उसी दिन कुम्भनदासजीके घरमें पुत्र पैदा हो गया।

इसलिये उन्होंने उसका नाम चतुर्भुजदास रखा। यह बात कुम्भनदासजीकी वार्तामें लिखी है। जब चतुर्भुजदास ग्यारह दिनके हुए तो कुम्भनदासजी उन्हें श्रीगोसाईजीके पास ले गये और नाम स्मरण करवाया। जब चतुर्भुजदास ४१ दिनके हुए तो उन्हें श्रीगोसाईंजीसे निवेदन करवाया। इस दिनसे श्रीनाथजीने चतुर्भुजदासको इतनी सामर्थ्य दे दी कि जब इच्छा हो वे बोलने-चालने एवं अलौकिक बातें करने लग जायँ और जब इच्छा हो मुग्ध बालक बन जायँ।

ऐसे भगवदीय थे श्रीचतुर्भुजदासजी। चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके ऐसे अनन्य भक्त थे कि वे और किसीके आगे गाते ही न थे। एक बार पारसोलीमें रास हो रहा था। रासमें खूब गायन हुआ। गोसाईंजीके पुत्र श्रीगोकुलनाथजीने श्रीचतुर्भुजदासजीको आज्ञा की कि आप भी कुछ गाइये। चतुर्भुजदासजी बोले-हमारा गायन सुननेवाले श्रीनाथजी पधारे नहीं हैं, अतः हम किस प्रकार गावें। श्रीगोकुलनाथजी बोले, अभी पधारते ही हैं।

भक्तकी वाणी असत्य न हो, इस हेतु श्रीनाथजी वहाँ पधारे। प्रभुके दर्शन पाकर श्रीचतुर्भुजदासजी आनन्दमग्न होकर गाने लगे-अद्‌भुत नटभेस धरें जमुना तट स्यामसुँदर। गुननिधान गिरिबरधर रास-रंग राचे॥ और फिर प्यारी-ग्रीवा भुज मेली, नृत्यत प्रिया सुजान। ऐसे-ऐसे बहुत-से मनोहर पद श्रीचतुर्भुजदासजीने गाये। फिर रास हुआ और उसमें खूब आनन्द आया। एक दिन श्रीगोसाईजीने चतुर्भुजदासजीको आज्ञा की कि अप्सराकुण्डपर जाकर रामदास भीतरियाको बुला लाओ और फूल लेते आओ।

चतुर्भुजदासजीने रामदास भीतरियाको भेज दिया और आप फूल चुनने लगे। फूल चुनकर जब आ रहे थे तो उसी समय श्रीगोवर्धन पर्वतकी कन्दरासे श्रीनाथजी श्रीस्वामिनीजीसहित पधारे। श्रीचतुर्भुजदासजीने उनका दर्शन किया और यह पद गाया--

गोबरधन-गिरि सघन कंदरा शेन निवास कियो पिय प्यारी । तथा--रजनी राज कियो निकुंज-नगरकी रानी। चतुर्भुजदासजी नित्य श्रीगिरिराजपर बैठकर विरह और हिलगके पद गाते। श्रीनाथजी सदा सन्ध्या समय गौवोंके साथ वहाँ पधारते और इन्हें दर्शन देते। वैशाख सुदी १३ की सन्ध्याको उन्होंने यह पद गाया-श्रीगोबरधनबासी साँवरे लाल! तुम बिन रह्यो न जाय हो। पदकी अन्तिम तुक श्रीनाथजीने पधारते हुए सुनी ।

करुणासे व्याकुल होकर कहने लगे--सदा यहाँ पधारेंगे। चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके ऐसे कृपापात्र थे कि उनके बिना श्रीनाथजी रह नहीं सकते थे! इनके सभी पद एकसे-एक अनूठे हैं! यहाँ इनका एक पद दिया जा रहा है जसोदा! कहा कहाँ हौं बात! तुम्हरे सुतके करतब मो पै कहत कहे नहिं जात॥ भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन-दधि खात। जौ बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहि सकात॥ और अटपटी कहाँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात। दास चतुर्भुज गिरिधर-गुन हौं कहति-कहति सकुचात॥ छीतस्वामी श्रीछीतस्वामी पहले मथुराके एक सुप्रसिद्ध सुसम्पन्न पंडा थे।

राजा बीरबल-ऐसे लोग इनके यजमान थे। पंडा होनेके कारण ये बड़े अक्खड़ और उद्‌दण्ड थे। पीछे गोस्वामी विट्‌टलनाथजीसे दीक्षा लेकर परम शान्त भक्त हो गये और श्रीकृष्णका गुणानुवाद करने लगे। सं० १६१२ के लगभग आपने रचनाएँ कीं। इनके फुटकर पद ही लोगोंके मुँहसे सुने जाते हैं या इधरउधर संगृहीत मिलते हैं ।

इनके पदोंमें शृंगारके अतिरिक्त ब्रजभूमिके प्रति प्रेमव्यंजना भी अच्छी पायी जाती है। हे बिधना! तो सों अँचरा पसारि माँगौं जनम-जनम दीजो याही

ब्रज बसिबो॥ यह आपका ही पद है। इनके पदोंमें सरसता और मधुरता ओतप्रोत है-भोर भएँ नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोबर्धनधारी। 'लटपटि पाग, मरगजी माला, सिथिल अंग, डगमग गति न्यारी ॥

बिनु गुन माल बिराजति उरपर, नखछत द्वैज-चंद अनुहारी। छीतस्वामि जब चितये मो तन, तब हौं निरखि गयो बलिहारी ॥ गोविन्द स्वामी श्रीगोविन्द स्वामी अंतरीके रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विरक्त होकर महावनमें आकर रहने लगे थे। पीछे गोसाई श्रीविट्टलनाथजीके शिष्य हुए, जिन्होंने इनके रचे पदोंसे प्रसन्न होकर इन्हें अष्टछापमें लिया।

इनका रचनाकाल सं० १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये गोवर्धन पर्वतपर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदम्बोंका एक बहुत सुन्दर उपवन लगाया था, जो आजतक गोविन्द स्वामीकी कदमखण्डी' कहलाता है। ये कवि होनेके अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी-कभी इनका गाना सुननेके लिये आया करते थे।

गोविन्द स्वामी गोकुलमें रहते थे पर श्रीयमुनाजीमें पाँव नहीं देते थे। वह श्रीयमुनाजीको साक्षात् श्रीस्वामिनीजी मानते थे। श्रीयमुनाजीका दर्शन करते, दण्डवत् करते, उसका जलपान भी करते, परन्तु पाँव कभी नहीँ धोते। एक दिन कई संतोंने मिलकर इन्हें बलात् यमुनाजीमें नहलाना चाहा। इसपर इन्होने प्रार्थना की--' यह मलमूत्र भरा शरीर माँ यमुनाके योग्य नहीं है । यमुनाजी तो साक्षात् ्रीस्वामिनीजी हैं। अतः इस अधम देहको स्पर्श न करायें। श्रीयमुनाजीमें तो उत्तम सामग्री अर्पण करना चाहिये।' यह सुनकर सब संत चुप हो गये।

कहते हैं, गोविन्द स्वामी प्रभु श्रीनाथजीकी अन्तरंग लीलामें सम्मिलित थे। ये भगवान्के साथ नाना प्रकारके खेल खेला करते थे। कभी आप घोड़ा बनते, कभी उन्हे घोड़ा बनाते और नाना प्रकारसे लाड़ लड़ाते। गोविन्द स्वामी अष्टसखाओंमें थे। इनके आग्रहपर प्रभु भी कभी-कभी गाते और श्रीकिशोरीजी ताल-स्वर देतीं।

इन्हींके शब्दोंमें भगवान्के बालरूपकी सुमधुर झाँकी लीजिये प्रातसमय उठि जसुमति जननी गिरिधरसुतको उबटि न्हवावति। करि सिंगार, बसन-भूषन सजि, फूलन रचि-रचि पाग बनावति॥ छुटे बंद, बागे अति सोभित, बिच-बिच चोव-अरगजा लावति। सूथन लाल फूँदना सोभित, आजुकि छबि कछु कहति न आवति॥ बिबिध कुसुमकी माला उर धरि, श्रीकर मुरली बेंत गहावति। लै दरपन देखें श्रीमुखको, गोबिंद प्रभुचरननि सिर नावति।

शंकरदेव

स्वामी शंकरदेवने आसाम प्रान्तके नौगाँव जिलेमें बटद्रवा ग्राममें १३७१ शकाब्दके कार्तिक मासकी अमावस्या तिथि, गुरुवारको मध्यरात्रिमें जन्म ग्रहण किया। इनकी माताका नाम सत्यवती और पिताका नाम कुसुमम्बर भूँया था । शंकरदेवको लोग शंकरका अवतार मानते थे। इनके अति सुन्दर शरीरके सम्बन्धमें माधवदेवने लिखा है-श्रीमंत शंकर गौरकलेवर, चन्द्र येन आभास। बृहस्पति सम पंडित उत्तम, येन सुर परकास॥

पदा पुष्प सम वदन प्रकाशे, सुंदर ईषत हाँसि। गंभीर बचन मधु येन स्त्रवे, नयन पंकज पासि॥ ये शरीरसे सुन्दर कान्तिके तो थे ही, बड़े हृष्टपुष्ट भी थे। काव्यकी स्फूर्ति इनके अंदर बचपनसे ही थी। आपको देखकर सभी कह उठते, यह कोई देवता है। शंकर जातिके थे कायस्थ, परन्तु शास्त्रोंकी ओर आपकी अभिरुचि बहुत बचपनसे रही। भागवत और गीता आपके प्रिय ग्रन्थ थे। इन्हींका आधार लेकर आपने आसाममें विमल वैष्णवधर्मका प्रचार किया।

आप एक सिद्ध योगी थे। अपने योगबलसे बहुतसे लोकोत्तर कर्म किये। आपको बहुत अच्छी-अच्छी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वायु-स्तम्भन करके सारे शरीरको योगबलसे ऊपर आकाशमें ले जाकर ठहरा देते थे। ऐसे और भी कई अद्भुत कर्म आपने किये। आप कहा करते थे कि ईश्वर-प्राप्ति तर्क किंवा पाण्डित्यके द्वारा नहीं हो सकती। केवल एकान्तभक्तिसे ही ईश्वरको हम पा सकते हैंभाई मुखे बोला राम, हृदय धरा रूप।

एतेके मुकुति पाइबा कहिलो स्वरूप॥ पापसंहारक हरिनाम महाबलि। यार ध्वनि सुनि कम्पि पलाय पाप-कलि॥ भगवान्के नामकी अद्भुत महिमा है। इसमें सभी प्राणियोंका अधिकार है। उन्होंने कहा है-परम निर्मल धर्म हरिनामकीर्तन, त समस्त प्राणीर अधिकार। एतेके से हरिनाम समस्त धर्मेर राजा, एहि सार शास्त्रर विचार ॥ शंकरदेवके प्रधान शिष्य माधवदेव थे।

इन लोगोंने आसाम और बंगालमें बड़े उल्लासके साथ वैष्णवधर्मका प्रचार किया। गाँव-गाँवमें, घर-घरमें कीर्तनमण्डलियाँ बनायीं और भगवन्नामका खूब प्रचार किया। आप आसामी साहित्यके पिता माने जाते हैं।

१२० वर्षकी अवस्थामें एक हरीतकी वृक्षके नीचे समाधि लगाकर शंकरदेव स्वेच्छासे साकेतलोकको पधारे। आज भी घर-घरमें शंकरदेवका नाम सभीको विदित है। इनकी जन्मभूमि “बटद्रवा' आज भी हिन्दुओंका एक प्रधान तीर्थस्थान माना जाता है।

भक्तराज भीखजन

जयपुर राज्यान्तर्गत फतेहपुर नामक स्थानमें भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीका एक मन्दिर है। उसके मुख्य द्वारपर निम्नलिखित दोहे हैंसंख-चक्र सोभित गदा लिये कर कमल बिसाल। बाम रमा, बाहन गरुड, प्रगटे दीनदयाल॥ १॥ पन्दरा सो गुनतीसमें, धरा फाड़ निकलंत। सहर अलोर पठान घर, बहु दिन बास करंत॥ २॥ गोरू भोजक बिप्र कुल, सुनत गयो तेहि दौर। श्रीपति करुणासिन्धुको, ले आयो एहि ठौर॥ ३॥ पन्दरा सो अठासिया, करी प्रभूने महर। लक्ष्मीनाथ पधारिया, फतनापुरिये सहर॥ ४॥ सोला सो भये भीखजन, आचारज कुल केर। अपनो जन प्रभु जानके, दरस दियो मुख फेर॥ ५॥

इन दोहोंमें प्रथम चार दोहोंसे भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीके उस मन्दिरके और अन्तिम पाँचवें दोहेसे भक्तराज भीखजनके इतिहासपर प्रकाश पड़ता है। तात्पर्य यह है कि भक्तराज भीखजनका जन्म सं० १६०० के लगभग एक महाब्राह्मण-कुलमें हुआ था। जब वे कुछ बड़े हुए तब पूर्वजन्मके संस्कारवश उन्हें भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा हो चली वे नित्य ही भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीके उक्त मन्दिरमें जा-जाकर कातरभावसे प्रार्थना करने लगे।

उनका यह नित्यका नियम बन गया कि जबतक वे भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीको मूर्तिका दर्शन नहीं कर लेते थे तबतक भोजन नहीं करते

थे। किन्तु जब फतेहपुरके कुछ सम्भ्रान्त कहे जानेवाले लोगोंने यह देखा तब उन्हें भगवानके मन्दिरमें एक महाब्राह्मणका आना-जाना उचित नहीं जान पड़ा। उन लोगोंने एक दिन भीखजनजीको जबरदस्ती मन्दिरके भीतर जानेसे रोक दिया।

इसपर भीखजनजी क्या करते। कोई चारा न देखकर वे मन्दिरसे बाहर पिछली दीवारकी ओर बैठ गये और उन्होंने यह प्रण कर लिया कि 'जबतक भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजी यहींपर मुझको दर्शन न देंगे, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' इस प्रकार भक्तवर भीखजनको निराहार रहकर भगवानूका ध्यान करते-करते तीन दिन बीत गये। तीसरे दिन भक्तका हठीला भाव देखकर भगवान् शरीलक्ष्मीनाथसे नहीं रहा गया।

वे मन्दिरकी पिछली दीवार फाड़कर भकत भीखजनके सामने आ गये। फिर तो भक्तराज भीखजनने भगवानूको एकटक निहारकर अपनी मनोकामना पूरी की और इस घटनाकी खबर बिजलौकी भाँति सारे फतेहपुरमें फैल गयी। लोग दौड़े और भक्तराज भीखजनके चरणोंमें लोट-लोटकर क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

ऐसे भक्तराज भीखजनकी बनायी हुई भीखबावनी बहुत प्रसिद्ध है । उसमेंका एक छन्द यहाँ दिया जाता है मंजारी कुल मेद रक्त केसर प्रसंगा। नागर बेलि प्रसंग सहत माखी मिलि अंगा॥ कस्तूरी मृगनाभि, कीट पाटहिं कुल सोहै।

मणि विषधर उपजंत, फीम जूटनि जग मोहै॥ पारस वंश पखान है, संख हाड सब कोउ कहै। हरिगुन हित्वै भीखजन, नाहिन कुल कारन चहै॥

संत बीरभान

*साध' अथवा 'साधक' सम्प्रदायके आदि प्रवर्तक संत बीरभानका आविर्भाव-काल की (६९१४) के कथनानुसार १५४३ और विलसनके अनुसार १६५२ माना जाता है। फरकूहर साहब उनका जन्मकाल १६५८ मानते हैं। कबीरकी तरह बीरभानने भी अपने उपदेशोंको साखियोंमें लिखा है और इन

सबका संग्रह 'आदि उपदेश' में उपलब्ध है। साधु-सम्प्रदायमें बारह कठोर व्रत रखे गये हैं, जिनका पालन करना सर्वथा अनिवार्य है। इन नियमोंमें एक यह भी है कि पुरुष हो अथवा स्त्री, एक बार ही विवाह करे। दुबारा विवाह करनेसे पुरुष भी वैसे ही भ्रष्ट हो जाता है जैसे एक स्त्री। उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है। यह मत गंगा और

यमुनाके दोआब तथा मिर्जापुर आदि स्थानोंमें ही अधिक प्रचलित हुआ। 'निर्वाण-वाणी' इस मतका मुख्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थको अन्य मत-सम्प्रदायके लोग न जान जाय, इसलिये यह गुप्त ही रखा जाता है तथा इसी कारण इसे ये लोग छपवाते भी नहीं। एक प्रभुकी पूजा, दया, सन्तोष, मितव्ययिता, मद्य-मांस-निषेध, एक विवाह, अहिंसा, सादे सफेद वस्त्र धारण करना साधमतवालोंका प्रधान नियम है। कबीरको ये लोग अवतारी पुरुष मानते हैं।

*साध' जातियाँ आज कपडेकी छपाईके लिये भारतवर्ष तथा विदेशोंमें विख्यात हैं ।

संत श्रीव्यासदासजी

ओरछा (बुन्देलखण्ड) के सनाढ्य ब्राह्मणकुलमें वि० सं० १५६७ की मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमीके दिन श्रीव्यासजीका जन्म हुआ। बचपनमें आपका नाम "हरिराम' था। आपके पिताका नाम सुखोमनि शर्मा था। तत्कालीन ओरछानरेश महाराज मधुकरशाहके आप राज्यगुरु थे। ये पहले गौर सम्प्रदायके अनुयायी थे, पीछे श्रीहितहरिवंशजीके शिष्य होकर राधावल्लभीय हो गये। इनके वंशज आज भी गौर सम्प्रदायका तिलक धारण करते हैं।

श्रीव्यासजी संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। आपको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। जहाँ जाते शास्त्रार्थ करते। एक बार आपने श्रीहितहरिवंशजीको शास्त्रार्थके लिये ललकारा। श्रीहित प्रभुने बड़ी नम्रतासे कहा-यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो। जहे तहँ बिपति जार-जुबती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥ दवै तुरंगपर जोर चढत हठि परत कौन पै धायौ। कहिधौं कौन अंकपर राखै जो गनिकासुत जायौ॥

जै श्रीहितहरिवंश प्रपंच-वंच सब काल-व्यालको खायौ। यह जिय जानि स्याम-स्यामापद-कमल सँगी सिर नायौ॥

अब तो श्रीव्यासजीका विद्यागर्व चूर-चूर हो गया। आपने श्रीहित प्रभुके पादपद्मोंमें मस्तक रखकर दीक्षाके लिये प्रार्थना की। दीक्षा प्राप्त हुई और एक विरक्त वैष्णवके रूपमें आप श्रीवृन्दावनधाममें सेवाकुंजके समीप एक मन्दिर निर्माण कराकर हितपद्धतिसे सेव्य युगलकिशोरस्वरूप श्रीराधाकृष्णको पधराकर उनका अत्यन्त लाड लड़ाने लगे।

एक दिनकी बात है, इनके यहाँ रासमें युगलस्वरूपका नृत्य हो रहा था। गहरा रंग छा रहा था। इसी समय श्रीराधिकाजीके चरणकमलसे घुँघुरू टूटकर पृथक् हो गया। तुरंत ही आपने भरी सभामें अपना यज्ञोपवीत तोड़कर घुँधुरू गूँथ लिया और उसे श्रीरासेश्वरीजीके चरणोंमें बाँध दिया। दर्शक यह देखकर अकचका गये, परन्तु व्यासजीने बड़ी दृढ़ताके साथ कहा--'बहुत दिनोंसे इसको ढोया था, सो आज अच्छे मौकेपर काम लग गया! इस सूत्रको परम इष्ट श्रीकृष्णप्राणाधिका राधिकाजीके श्रीचरणोंमें अर्पित कर दिया; इससे बढ़कर इसका उपयोग क्या हो सकता था?' ओरछाके महाराज मधुकरशाहने इन्हें लिवा लानेके लिये पहले अपने मन्त्रीको भेजा। बहुत आग्रह करनेपर भी ये नहीं गये। आपने महाराजको लिख भेजारसिक अनन्य हमारी जाति। कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिनसों पाँति॥ गोत गुपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंडि हरिमंदिर भाल। हरिगुन-नाम बेदधुनि सुनियत, मूँज पखावज, कुस करताल ॥ साखा जमुना, हरिलीला षट्कर्म, प्रसाद प्रान, धन रास। सेवा बिधि, निषेध जड़ संगति, बृत्ति सदा बृंदाबनबास॥

स्मृति भागवत, कृष्ण नाम संध्या-तर्पन-गायत्री-जाप। बंसी रिषि, जजमान कल्पतरु, 'ब्यास' न देत असीस-सराप॥ गुरुभक्तिवश स्वयं ओरछानरेश इन्हें लिवा लानेके लिये वृन्दावन आ गये। बहुत कहा-सुना, परन्तु इनका हृदय वृन्दावन छोड़नेके लिये तैयार न था। ये अधीर होकर यह पद गाने लगेबृंदाबनके रूख हमारे मात-पिता सुत-बंध। गुरु गोबिंद साधु गति-मति सुख फूल फलनिको गंध॥ इनहिं पीठि दै अनत डीठि करि सो अंधनमें अंध। ब्यास इनहिं छोडे औ छुड़ावै, ताको परियो कंध॥ तथा— बृंदाबन तजि जे सुख चाहत ते हैं राच्छस-प्रेत। ब्यासदासके उरमें बैठ्यो मोहन कहि-कहि देत॥ इनकी अतुल निष्ठाको देखकर राजासाहबने अपना हठ छोड़ दिया और इनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी।

श्रीव्यासजीकी धर्मपत्नी घरपर ओरछेमें थीं । उन्हें विश्वास था कि राजाके जानेसे पतिदेव अवश्यमेव लौट आवेंगे। परन्तु यहाँ तो नशा कुछ और ही था। वे स्वयं वृन्दावन आयीं और वैष्णवदीक्षा लेकर योगिनी बनकर साधु-संतोंकी सेवामें रहने लगीं। एक बार साधुओंकी पंगतमें उन्होंने पति और अन्य संतोंमें कुछ भेदभाव दर्शाया। इससे श्रीव्यासजीको बड़ी ग्लानि हुई और इन्हें बाहर निकलवा दिया।

अन्तमें साधु-महात्माओंके बड़े कठोर आग्रहपर इन्हें पुनः स्वीकार कर लेनेको तैयार हो गये, परन्तु शर्त यह रखी कि यह अपने सारे आभूषण बेंचकर संतोंका भण्डारा कर दे। वैष्णवदासीने बिना हिचकिचाहटके मान लिया और अपने कुल गहने, जो कहते हैं बाईस हजारके थे, बेंचकर संतोंका बृहद् भण्डारा करा दिया।

ओरछाके परमभक्त महाराजाने श्रीयुगलकिशोरजीको धारण करानेके लिये सुवर्णकी नकसीदार सुन्दर वंशी बनवाकर भेजी। उसे आप बड़े चावसे प्रभुके करमें धारण कराने लगे। कुछ मोटी थी, जिससे प्रभुकी अँगुली किंचित् छिल गयी; रक्त निकल आया। यह देख आपने बंशी नीचे रख दी और तुरत जलार्र वस्त्र प्रभुकी अँगुलीमें बाँध दिया। मनमें बहुत दुःखी हुए, महाप्रसाद नहीं पाया। वंशीको दोष देने लगे। सायंकाल देखते हैं तो प्रभु वंशीको धारण किये हुए हैं। इसी प्रकारकी और भी कई सुन्दर मनोहर लीलाएँ प्रभुने इनके साथ कीं, जिससे यह प्रकट है कि आप प्रभुके कितने प्यारे और प्रभु आपके कितने प्यारे थे।

इनकी रचना परिमाणमें बहुत विस्तृत है और विषयभेदके विचारसे भी अधिकांश कृष्णभक्तोंकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। ये श्रीकृष्णकी बाललीला और श्रृंगारलीलामें लीन रहनेपर भी बीच-बीचमें संसारपर दृष्टि डाला करते थे। गो० तुलसीदासजीके समान ही इन्होंने भी खलों, पाखण्डियों आदिका स्मरण किया है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनोंपर बहुत-से पद और साखियाँ इन्होंने कही हैं।

इन्होंने एक ' रासपंचाध्यायी' भी लिखी है। इनके सभी पद एक-से-एक अनूठे और रसपूर्ण हैं! आज कछु कुंजनमें बरसा-सी। बादल-दलमें देखि सखी री! चमकति है चपला-सी॥ जान्हीं-नान्हीं बूँदन कछु धुरवासे, पवन बहै सुखरासी। मंद-मंद गरजनि-सी सुनियतु, नाचति मोर सभा-सी॥ इंद्रधनुष बगपंगति डोलति, बोलति कोक-कला-सी। इंद्रबधू-छबि छाइ रही मनु गिरिपर अरुन घटा-सी॥ उमगि महीरुह सों महि फूली, भूली मृगमाला-सी। रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी॥*

संत सिंगाजी

रूप नाहीं, रेखा नाहीं, नाहीं है कुल-गोत रे। बिन देहीको साहब मेरो, झिलमिल देखूँ जाते रे॥ संत सिंगाजी निमाड़ (मध्यप्रान्त)-के महान् संत हो गये हैं। आज भी निमाड़में किसीका पशु खो जानेपर सिंगाजीकी मनौती की जाती है। निमाड़की लाखों ग्रामीण जनता आज भी इनके बनाये हुए भजनोंका भक्तिभावसे गानकर रस पाती है। पीपल्याके पासके जंगलमें फिफण्ड नदीके पावन पुलिनपर, जहाँ इन्होंने समाधि ली थी, प्रतिवर्ष आश्विन महीनेमें इनकी पुण्य स्मृतिमे एक विराट् मेला लगता है, जिसमें लाखोंकी भीड़ होती है ।

मध्यप्रान्तमें इससे बड़ा मेला नहीं लगता। सिंगाजीका जन्म रियासत बड़वानी (मध्यभारत) के खजूरी गाँवमें संवत् १५७६ वि० की वैशाख सुदी ११, गुरुवारकों हुआ था। ये जातिके ग्वाले थे। इनके पिताका नाम भीमा और माताका गौरबाई था। जिस समय इनकी माँ अपने घरसे पाँच-छः गज दूर उपले पाथ रही थी इनका जन्म हुआ। जन्मके पाँच-छः साल बाद इनके पिता अपना सब सामान और तीन सौ भैंसे लेकर हरसूद चले आये और वहीं बस गये।

इक्कीस-बाईस सालकी अवस्थामें सिंगाजी भामगढ़ (निमाड़)-के रावसाहबके यहाँ चिट्ठी-पत्री ले जानेके काममें एक रुपया मासिक वेतनपर नियुक्त हुए। रावसाहबका इनपर बड़ा विश्वास था। शैशवावस्थासे ही सिंगाजीका मन संसारकी ओरसे विरक्त था। परन्तु इनके आध्यात्मिक जीवनका श्रीगणेश तो तब होता है जब ये हरसूद-भामगढ़के रास्तेमें घोड़ेपर सवार चपरासीके रूपमें जा रहे थे और रास्तेमें भैंसावा ग्राममें ब्रह्मगीर महाराजके शिष्य मनरंगीरजी गा रहे थे-समुझि लेओ रे मना भाई, अन्त न होय कोई आपणा, यही मायाके फन्देमें तर आन भुलाणा॥

सिंगाजीकी कसी हुई हृदय-वीणा इस मार्मिक गीतकी चोटसे झनझना गयी। सुप्त वैराग्य जाग पड़ा। “अरे! इस कोलाहलमय विराट् संसारमें, जहाँ क्षणभरके लिये भी जीवनके व्यापार बंद नहीं होते, मोह, माया और तृष्णामें

ही आयु बीत जाती है, वहाँ अन्तमें ईश्वरके सिवा कोई भी अपना नहीं होता। उफ! फिर इस गोरखधंधेमें उलझे रहनेसे क्या लाभ?' सिंगाजी तत्क्षण मनरंगीके चरणोंमें गिर पडे और उन्हें अपना गुरु बना लिया।

भामगढ़में आकर रावसाहबकी नौकरी छोड़कर प्रभुके चाकर हुए। रावसाहबने बहुत समझाया, वेतन बढ़ानेका प्रलोभन दिया, परन्तु प्रभुप्रेमकी मदिरामें वह मादकता होती है जो एक बार चढ़ जानेपर जीवनभर नहीं उतरती। सिंगाजीने रावसाहबकी एक न मानी और नौकरी छोड़कर पीपल्याके जंगलोंमें रहने लगे।

इसी समय उन्होंने 'अनहदकी नाद' में आठ सौ भजनोंका निर्माण किया। सिंगाजी निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे। त्यागके धनी और जितेन्द्रिय सिंगाजीका सहज विश्वास था कि हृदयमें सच्चा प्रेम होना चाहिये, प्रभुको बाहर खोजनेकी आवश्यकता नहीं है। जल बिच कमल, कमल बिच कलियाँ, जहँ बासुदेव अबिनासी । घटमें गंगा, घटमें जमुना, वहीं द्वारका कासी॥ घर बस्तू बाहर क्यों ढूँढ़ो, बन-बन फिरा उदासी। कहै जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुराके बासी॥ सिंगाजीके इस लोकसे प्रयाण होनेकी कथा इस प्रकार है कि सिंगाजी जन्माष्टमीके दिन गुरु मनरंगीरजीकी सेवामें थे। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मका विधान रातको बारह बजे होता है।

गुरुजीको नींद आने लगी तो वे सिंगाजीसे यह कहकर सो गये कि 'सिंगा! हमें भगवान्के जन्मके समय जगा देना।' गुरुजी सो गये। भगवान्के जन्मका समय आ गया। सिंगाजीने सोचा-"क्या भगवान् प्रतिवर्ष पैदा होते हैं? यह तो ठीक नहीं प्रतीत होता है। हाँ, आरती-पूजा करना है सो मैं कर दूँ। गुरुजीको क्यों कष्ट दूँ ?' उन्होंने आरती की। जब गुरुजीकी नींद खुली तो सिंगाजीपर बहुत रुष्ट हुए और कहा-' जा दुष्ट! जीतेजी मुँह मत दिखाना।'

सिंगाजीको बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने शरीरत्यागका निश्चय कर लिया और अपने निवासस्थान पीपल्यामें आकर रहने लगे। ग्यारह महीने वहाँ रहकर श्रावण शुक्ला नवमी, संवत् १६१६ वि० में फिफण्ड नदीके किनारे इन्होंने जीवित समाधि ले ली। उन्होंने एक गढ़ा खोदा। एक हाथमें कपूर जलाकर और दूसरे हाथमें माला लेकर सिंगाजी समाधिस्थ हो गये।

गुरु मनरंगीरको जब सिंगाजीके जीवन-त्यागकी बात मालूम हुई तो बहुत दुःखी हुए और अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने कहा-क्रोधानल कहाँसे आयो, दुष्ट मोहि क्रोधानल कहाँसे आयो। मैंने हाथको हीरो गँवायो, दुष्ट मैं आनंदबन जलायो॥

सिंगाजी एक गीतमें लिखते हैं-

मैने तुम्हें कितनी दूर जाना, पर तुम कितने निकट निकले। तेरी-सी रहन रहकर मुझे सामर्थ्य मिल गयी; क्योंकि उस समय मेरी पीठपर मैं तेरे हाथोंकी थपकियाँ गिन रहा था। पर एक कसर है-तुम सोना हो, मैं गहना हूँ। सांसारिकताका टाँका लगाकर ही सोने और सोनेमें भेद किया जा सकता है।

दूसरा एक गीत है-

मेरे स्वामीकी अटारीपर दो दीपक जगमगजगमग कर रहे हैं। अखण्ड स्मृतिका वहाँ पहरा है। झुके हुए मस्तकका फल लेकर मैं उनके द्वारपर चढ़ाने

जाता हूँ; किन्तु भीतरसे कोई कह देता है, ठहरो। अब जब 'ठहरो' सुनते-सुनते देर हो गयी है, तब मेरे नाथ! उस 'ठहरो' की वाणीमें भी तो तुम्हीं हो न? तुम्हारी स्वीकृतिकी अपेक्षा तुम्हारा रोकना कहीं अधिक कोमल और मीठा मालूम होता है।

एक और गीत

जीते रहना मेरी ससुराल है और मरना मेरा मैका है। मेरे महलोंकी खिड़कियोंमेंसे मुझे अपना आराध्य दीख जाता है। परन्तु उसके जिन महलोंपर खड़ा होकर मैं देखता हूँ वहाँसे रत्नपुंजोसे अधिक तेज रखनेवाला मेरा प्रभु दीख जाता है। मेरे मालिकका मैंने कभी रूप नहीं देखा कि उसकी हथेलियोंपर खिंची हुई रेखाएँ कैसी हैं-वे कितनी हैं और कितनी मिट गयी हैं। शरीरकी बाँधमें न आ सकनेवाला मेरा स्वामी ऊपर देखनेवालोंको विश्वासमें दीखता है और नीचे देखनेपर वह घुटनोंके बल रेंगता-सा नजर आता है।*

मोरया गोसावी

ब्रह्मकमंडलु (वर्तमान कन्हा) नदीके तटपर मोरगाँवमें कोई तपस्वी अपनी सहधर्मिणीके साथ रहते थे। उनका नाम वामनभट्ट था और उनकी सहधर्मिणीका नाम उमाबाई। ये हारीतगोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। श्रीगणेशजी

इनके इष्टदेव थे। यहाँ ये शिलोञ्छवृत्तिसे रहते थे। अर्थात् खेतोंमें पड़े हुए दाने बीन-बीनकर इकट्टे करते और उन्हींसे निर्वाह करते थे।

श्रीगणेशजीके प्रसादसे इनके ढलती उम्रमें एक पुत्र हुआ, जिसका नाम इन्होंने “मोरया' रखा। मोरया जब कुछ बड़े हुए तब इन्होंने ही उसे श्रीगणेशोपासनाकी दीक्षा दी। कुछ काल पीछे मोरयाजीकी माताका देहान्त हो गया और उसके कुछ काल बाद उनके पिता भी परलोक सिधार गये।

मृत्युसमयमें माताकी वयस् १०५ वर्ष थी और पिताकी १२५ वर्ष ! तपस्वी माता-पिताके पुत्र भी जन्मतः तपस्वी ही होते हैं। मोरगाँव, थेड़ूर और चिंचवड, इन तीनों स्थानोंमें मोरयाजीने बड़ा तप किया और अन्तमें चिंचवडमें स्थायी होकर रहे | चिंचवडसे दो मील पवना नदीके किनारे एक निर्जन वन है। यहीं मोरया गोसावी (गोस्वामी) ने तप किया था। उस स्थानको देखनेके लिये अभीतक लोग जाते हैं। इक्कीस-इक्कीस दिन केवल दूर्वारसपान करके ये अनुष्ठान करते थे।

एक बार तो ये बयालीस दिनतक बराबर अपने आसनपर बैठे ही रह गये। इस तपोबलसे इन्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। बाघ इनके सामने आकर दयालु बन जाते और साँप निर्विष हो जाते। इन्होंने कितने ही अन्धोंको आँखें दीं, नि:सन्तानोंको सन्तान दिये, सहस्रों संसार-तापदग्ध जीवोंको शान्ति, तुष्टि-पुष्टि दी और अपने पावन चरित्रसे भूप्रदेशको पावन किया।

एक गरीब सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणने इन्हें अपनी कन्या अर्पण की। उससे इनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम चिन्तामणि था। मोरयाजीने अपनी स्त्रीको ब्रह्मविद्या दी और पुत्रको अपनी अनुभवकी सारी सम्पत्ति सौंप दी। पिताके तुल्य ही पुत्र भी हुए। श्रीतुकाराम महाराज इन्हीं चिन्तामणिको ' चिन्तामणि कहते थे। तबसे इस कुलका नाम ही 'देव' हो गया और इस देवकुलमें आगे कई पीढ़ियोंतक दिव्य पुरुष ही जन्म लेते रहे। ये सभी संत थे, इसलिये इनके पावन नाम बड़े आदरके साथ यहाँ लिखते हैं-

(१) मूलपुरुष-मोरया गोसावी

(२) चिन्तामणिदेव

(३) नारायण महाराज बड़े

(४) चिन्तामणि महाराज छोटे

(५) धरणीधर महाराज बड़े

(६) नारायण महाराज छोटे (गबाजी देव)

(७) बाबा महाराज

चिंचवडमें पवना नदीके तटपर इन सातोंकी समाधियाँ एक ही मैदानमें पास-ही-पास हैं। मोरया गोसावी संवत् १६१८ में जीते-जी ही समाधिस्थ हुए।

भक्त परमेष्ठी दर्जी

लगभग चार सौ वर्ष पूर्व दिल्लीमें परमेष्ठी नामका एक दर्जी रहता था। उसका शरीर कुबड़ा और काले रंगका था, पर सद्गुणोंमें वह पूरा था। उसके हृदयमें भगवद्भक्ति भरी हुई थी और हाथमें कारीगरी। वह कसीदेका काम करता था। वह दरिद्र होनेपर भी उदार था। सत्य और अहिंसा उसके जीवनके व्रत थे। वह सबमें भगवान् वासुदेवका दर्शन कर सबसे प्रेम करता था। उसकी स्त्री विमला भी रूप-गुण-सम्पन्ना तथा पतिपरायणा थी।

उसके एक पुत्र और दो कन्याएँ थीं। सभी माता-पिताकी तरह गुणवान् थे। इस तरह परमेष्ठीको समस्त सांसारिक सुख प्राप्त थे, परन्तु वह उनमें आसक्त नहीं था। जब कभी उसे समय मिलता वह भगवान्के श्रवणसुखद पवित्र नामोंका कीर्तन करते-करते स्तम्भित होकर पसीने-पसीने हो जाता और उसके शरीरमें प्रेमे आठों भावोंका उदय हो जाता।

भगवद्भक्त होनेके साथ-ही-साथ वह अपने जातीय धंधेमें भी दिल्लीभरमें एक ही था। इससे शहरके सभी अमीर-उमरा और स्वयं बादशाहतक उससे हर प्रकारके कपड़े सिलवाकर उसे मनचाहा इनाम देते थे।

एक दिनकी बात है-बादशाह अपने सिंहासनपर उसके दोनों ओर रखे हुए गलीचोंपर पैर रखकर बैठा था, परन्तु उसे वे पसंद नहीं आये। उसने दो सुन्दर तकिये तैयार करवानेके लिये सोनेके तारें, हीरे, मानिक तथा मोती जड़वाकर एक बड़ा सुन्दर कपड़ा तैयार करवाया। बादशाहको परमेष्ठीकी ईमानदारी और कारीगरीपर पूर्ण विश्वास था।

उसने परमेष्ठीको बुलवाकर दो सुन्दर तकिये तैयार कर लानेपर उसे मनचाहा इनाम देनेको कहा। परमेष्ठी कपड़ा लेकर घर आया और उसमें इत्रकी सुगन्धभरी रुई भरकर बड़ी निपुणतासे दो तकिये तैयार कर लिये। उसमें जड़े हुए सोनेके तारे और जवाहिरात खिल उठे, हीरे-मानिकोंसे परमेष्ठीका घर जगमगा उठा।

ऐसे तकियोंको उसके घरमें रखनेको स्थान ही कहाँ था। वह तुरंत ही इन्हें बादशाहके यहाँ ले जानेको तैयार हुआ ही था कि सोचने लगा, ' अहा! क्या ऐसे अपूर्व तकिये एक सामान्य मनुष्यके उपभोगमें आनेलायक हैं ? ये तो एकमात्र भगवान् जगन्नाथजीके ही उपभोगमें आनेलायक हैं। हे भगवन्! आप इन्हें स्वीकार कीजिये।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते वह अपनी सारी सुध-बुध भूल गया! दैवयोगसे उसी दिन श्रीनीलाचलधाममें रथयात्राका महोत्सव था और जगन्नाथजीके नीचे बिछाया हुआ वस्त्र फट गया था और सेवकोंको मन्दिरसे दूसरा वस्त्र लानेमें विलम्ब हो गया था।

ध्यानमग्न परमेष्ठी दिल्लीमें बैठे भी यह दृश्य देखकर न रह सका। उसने तुरंत एक तकिया श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया। सर्वसमर्थ जगन्नाथजीने भी परम प्रीतिपूर्वक उसकी भेंट स्वीकार कर ली। थोड़े ही समय बाद जब अचानक परमेष्ठीका ध्यान भंग हुआ तो अपने हाथमें एक ही तकिया देखकर वह अपने भाग्यकी सराहना करने लगा।

इस प्रकार करते-करते थोड़ी देर बाद जब उसे शरीरकी सुधि आयी तो वह सोचने लगा कि मैंने यह कार्य अनधिकार किया है, अब मैं बादशाहको क्या जवाब दूँगा? परन्तु दूसरे ही क्षण उसे विचार हुआ--'छिः, भला उन सर्वलोकमहेश्वर जगन्नाथजीके सामने दिल्लीश्वर हैं ही किस गिनतीमें ? जब भगवान्‌ने स्वयं स्वीकार कर लिया तब इसमें कोई दोष नहीं है।'

इस प्रकार जब परमेष्ठी आनन्द और खेदके हिंडोलेपर झूल रहा था तो बादशाहके सिपाहियोंने उसे तकिये लेकर राजदरबारमें जल्दी-से-जल्दी उपस्थित होनेको कहा । परमेष्ठी एक ही तकिया लेकर बादशाहके सामने पहुँचा। तकियेकी कारीगरी देखकर बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ, परन्तु एक ही

तकिया लानेका कारण पूछा। परमेष्ठीने कहा कि 'जहाँपनाह! यद्यपि मैंने दोनों तकिये तैयार कर लिये थे परन्तु उनमेंसे एक श्रीनीलाचलनाथ जगन्नाथजीने स्वीकार कर लिया है, इसलिये यह एक ही ला सका हूँ।

गरीबपरवर! मैं कभी झूठ नहीं बोलता। श्रीजगन्नाथजीने उसे बडी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया है। अतः आप बड़े भाग्यवान् हैं।' बादशाहको इसपर विश्वास क्यों होने लगा। उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर पहरेदारोंसे कहा--'इस दर्जीको हथकड़ी-बेड़ी डालकर अँधेरी कोठरीमें डाल दो और इसे खाने-पीनेको भी मत दो तथा ताला लगा दो। देखता हूँ कि कौन इसका बाप आकर इसे बचाता है। जो जगन्नाथ मेरा तकिया ले गया है वही इसे आकर बचावेगा और खाना-पीना भी देगा।' बादशाहके मुँहसे इतना सुनते ही पहरेदारोंने परमेष्ठीको जेलखानेमें डाल दिया और बाहरसे ताला लगा दिया।

वहाँ कड़ा पहरा भी बैठा दिया गया। इस विपदवस्थामें वह एकमात्र मधुसूदनका ही ध्यान करने लगा। उसे अन्य किसी बातका खयाल भी नहीं था। ठीक आधी रातके समय भक्तवत्सल भगवानूने पहरेदारोंको मोहनिद्रामें सुलाकर कोठरीके अंदर प्रवेश किया। कोठरीका द्वार खुल गया। परन्तु परमेष्ठीको कुछ भी पता नहीं था, बह तो भगवानूके ध्यानमें तन्मय हो रहा था। भगवान् परमेष्ठीको अनेक तरहसे आश्वासन देकर तथा स्वयं उसके पास जाकर अपना वरद हस्त उसके मस्तकपर बड़े प्यारसे फेरने लगे।

श्रप्रभुकी भक्तवत्सलताका विचार करके भक्त परमेष्ठी आनन्दसागरमें निमग्न हो गया। श्रीप्रभुके अंगस्पर्शसे अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुन्दर और मनोहर हो गया और उसके सब तरहके बन्धन टूट गये।

इधर भगवान् भी परमेष्ठीको कृतार्थ और बन्धनमुक्त करके बादशाहके शयनमन्दिरमें जाकर स्वप्नमें ताड़न करके श्रीनीलाचलधाम चले गये। बादशाह तुरंत ही उठ बैठा और अपने अंगोंपर प्रहारके चिह्न तथा शरीरमें कम्पन देखकर बड़ा आश्चर्यान्वित हुआ। प्रभात होते ही उसने अपने विश्वासी मित्रोंको बुलाकर स्वप्नकी सारी घटना कह सुनायी।

उसके बाद सभीने कैदखानेमें जाकर देखा कि पहरेदार अभी सोये पड़े हैं, कोठरीके सभी दरवाजे खुले हैं, परमेष्ठी बन्धनमुक्त हैं और उसके शरीरसे दिव्य प्रकाश निकल रहा है । इतनेमें ही परमेष्ठीका भी ध्यान टूटा। वह अपने प्रभुको सामने न देखकर बड़ा व्याकुल हुआ और प्रभुका नाम रटने लगा।

परमेष्ठीकी यह दशा देखकर बादशाह क्षमायाचना करता हुआ उसके चरणोंमें गिर पड़ा और बादमें उसे बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके अपने खास हाथीपर बैठाकर बाजे-गाजेके साथ शहरमें घुमाया और बादमें बहुत-सा धन-रत्न देकर घरपर पहुँचा आया। इस मान-सम्मानसे परमेष्ठीको बड़ी लज्जा मालूम हुई और प्रतिष्ठाके भयसे वह अपनी पत्नीसहित दिल्ली शहर छोड़कर अन्यत्र चला गया और भगवान्‌के भजनपूजनमें जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें भगवत्सायुज्यको प्राप्त हो गया।

भक्त कूबा कुम्हार

कूबाजीका जन्म राजपूतानेके एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। ये जातिके कुम्हार थे और इनका पुश्तैनी पेशा मिट्टीके बरतन बनाकर बेचना था। इनकी पत्नी पुरी बड़ी धर्मशीला और पतिपरायणा थी। दोनों पति-पत्नी महीनेभरमें केवल तीस बरतन बनाकर अपनी जीविका चलाते और बाकी समयको भगवान्‌के गुणगान और नामस्मरणमें लगाते।

सत्य, क्षमा, शान्ति और समता आदि दैवी गुण इनमें मूर्तिमान् होकर विराजते थे। सुखदुःखादि भोगोंको कर्मोका फल और मायारचित मानकर ये अपनी स्थितिमें ही सदा सन्तुष्ट रहते थे। इनका जीवन बड़ा पवित्र था। मिट्टीके तीस बरतन बनाकर ये अपनी जीविका भी चलाते और अतिथिसेवा भी करते। इससे इनके घरमें अन्न-वस्त्रकी प्रायः कमी रहा करती थी। परन्तु इन्हें इस बातकी कोई परवा नहीं थी। इनका अन्न इतना पवित्र था कि एक बार इनके घरका अन्न खा लेनेवाले भी भक्त बन जाते।

भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तके द्वारा भक्तिका प्रचार कराना चाहते थे, इसलिये उन्होंने एक लीला रची। एक दिन शामको दो सौ साधुओंकी एक मण्डली भजन-कीर्तन करती हुई कूबाजीके गाँवमें आयी। साधुओंके मुखियाने गाँववालोंसे कहा कि साधु भूखे हैं, कोई उदारचेता हमलोगोंको भोजनका सामान दे दे तो बड़ा उपकार हो। यह सुनकर लोगोंने कूबाजीका

नाम बतला दिया। गाँवमें अनेकों सेठ-साहूकार थे, परन्तु किसी भाग्यवान्का धन ही साधु-संतोंकी सेवामें खर्च होता है।

साधुमण्डलीने कूबाजीके घर पहुँचकर ' सीताराम ' की टेर लगायी। कूबाजीने बाहर आकर साधुमण्डलीको साष्टांग प्रणाम करके बड़े विनम्र भावसे कहा-* आज मेरे अहोभाग्य हैं जो आप संतोंने मुझ अधमपर दया की। कहिये, दासको क्या आज्ञा है?' साधुओंने आशीर्वाद देकर कहा--'साधु भूखे हैं, इनके भोजनका प्रबन्ध कर दो।' कुबाने सबको आदरपूर्वक बैठाया और अपने एक पड़ोसी महाजनके यहाँ जाकर उससे कहा--' मेरे यहाँ दो सौ संत पधारे हैं, आप मुझे उनके लायक भोजनका सामान दे दीजिये और उसके दाम आप जैसे चाहें अदा कर लीजियेगा।'

महाजन कूबाजीकी निर्धनताके साथ-ही-साथ उनकी सत्यवादिता और टेकसे पूर्ण परिचित था। उसने कहा--'मुझे एक कुआँ खुदवाना है, तुम कुआँ खोद देना। अभी दो सौ मनुष्योंके लायक भोजन सामग्री ले जाओ।' कूबाजीने बड़ी प्रसन्नतासे यह शर्त स्वीकार कर ली और सामान लाकर साधुओंको दे दिया। साधुवेषधारी भगवान् अचल भक्तिका आशीर्वाद देकर अपनी मण्डलीसहित चले गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही भक्त कूबाजी अपनी स्त्रीके साथ कुआँ खोदनेके काममें लग गये। कूबाजी खोदते और उनकी पत्नी मिट्टी बाहर फेंकती। इस तरह निरन्तर हरिनाम-ध्वनिके साथ कुआँ खोदते-खोदते अन्तमें एक दिन मीठा जल निकल आया। परन्तु नीचे बालू बहुत अधिक होनेके कारण ऊपरसे कोई सहारा न रहनेसे एक दिन जब कि कूबाजी नीचे उतरकर कुछ काम कर रहे थे कि सारी मिट्टी धँसकर अचानक उनके ऊपर गिर पड़ी।

पुरी तो दूर चली गयी थी, परन्तु कूबाजी दब गये। पुरी रोने लगी। होहल्ला सुनकर महाजन गाँवके कुछ लोगोंके साथ वहाँ आया। गाँवके सभी लोग शोक प्रकट करने लगे पर मिट्टी निकालकर कूबाजीको बचा लेना असम्भव समझकर कुछ सहदय लोग पुरीको समझा-बुझाकर और उसके खाने-पीनेका सामान पहुँचा देनेका वचन देकर उसे उसके घर पहुँचा आये। उस पतित्रताके दुःखका दूसरोंको क्या अनुभव होता। वह बेचारी घरमें बैठी अजस्र अश्रुधारासे अपने शरीरको भिगोने लगी।

इस दुर्घटनाको पूरा एक वर्ष बीत गया! बरसातमें पानीके साथ बहकर आनेवाली मिट्टीसे कुएँका गढ़ा भी भर गया। एक दिन उधरसे कुछ यात्री जा रहे थे, रात हो जानेके कारण उन्होंने वहीं डेरा डाल दिया। रात्रिके समय उन्हें

अचानक करताल, मृदंग और वीणाके साथ जमीनके अंदरसे हरिकीर्तनकी मधुर ध्वनि सुनायी दी। वे आशचर्यमें डूब गये। उस ध्वनिके प्रभावसे बे भी रात्रिभर वहाँ कीर्तन करते रहे। सुबह होते ही उन्होंने गाँबवालोंको यह घटना सुनायी।

पहले तो गाँववालोंको विश्वास ही नहीं हुआ, अन्तमें जब लोगोंने जमीनपर कान रखकर आवाज सुनी तो उनके भी अचरजका पार न रहा। बात-की-बातमें चारों ओर यह खबर फैल गयी। आस-पासके गाँवोंके हजारों नर-नारी उस आवाजको सुनने आये। राजातक भी खबर पहुँची। बह भी अपने मन्त्रियोंसहित घटनास्थलपर आ पहुँचा। राजाने भजनकी ध्वनि सुनकर और गाँववालोंसे एक वर्ष पहलेका इतिहास जानकर सैकड़ों आदमियोंको मिट्टी निकालनेकी आज्ञा दी।

कुछ ही घंटोंमें मिट्टी निकल गयी, कुआँ साफ हो गया। सौभाग्यशाली राजा और वहाँ आये हुए सभी लोग भीतरके मनोरम दृश्यको देखकर चकित हो गये। लोगोंने देखा कि भगवान् श्रीहरि एक दिव्य आसनपर चतुर्भुजरूपसे विराजमान हैं और भक्तवर कूबाजी उनके सामने प्रेमविभोर होकर भगवन्नाम कीर्तन कर रहे हैं और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है। दिव्य बाजे बज रहे हैं, जिनकी मधुर ध्वनिसे सारा आकाश गूँज रहा है।

यह दृश्य देखकर सभीके अन्तःकरणमें श्रद्धा, प्रेम और भक्तिकी बाढ़ आ गयी। राजाने हाथ जोड़कर साष्टांग प्रणाम किया। भगवान्‌की मूर्ति अचानक ही अन्तर्धान हो गयी। राजासहित सभी लोगोंने कूबाजीको प्रणाम किया और उनकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ायी। कूबाजी घर आये। भक्त पतिको पुनः जीवित पाकर पत्नी प्रेमानन्दमें मग्न हो गयी।

थोड़े ही समयमें कूबाजीका कीर्ति-सौरभ चारों तरफ फैल गया। दूरदूरसे लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। राजा तो प्रतिदिन नियमसे उनके दर्शनके लिये आता था। कहते हैं, कूबाजीकी भक्तिके प्रतापसे एक समय अकालके दिनोंमें लोगोंको प्रचुर अन्न मिला था, अनेकों स्त्री-पुरुष इनके संगसे तर गये!

भक्त रघु केवट

जगन्नाथपुरीसे करीब दस कोसपर पिपलीचटी नामक ग्राममें रघु नामका एक केवट रहता था। उसके परिवारमें उसकी वृद्धा माता और युवती पत्नीके

सिवा और कोई नहीं था। रघु रोज सबेरे जाल लेकर नदी जाता और मछलियोंको पकड़कर बाजारमें बेच देता था। जो पैसे मिलते, उनसे खाने-पीनेका सामान लेकर वह घर लौट आता। पूर्वजन्मके संस्कार अच्छे होनेसे, धीवर जातिका होनेपर भी भगवान्‌की तरफ उसका बड़ा आकर्षण था। वह निरन्तर उन अनाथ-नाथ प्रभुका स्मरण करता रहता।

जब वह मछलियोंको जालमें फँसकर तड़पते देखता तो उसका हृदय पसीज जाता, परन्तु जीवन-निर्वाहका अन्य कोई साधन न देखकर वह विवश होकर इन भावोंको अनेक तरहकी दलीलोंसे भुलानेकी चेष्टा करता; फिर भी उसे सन्तोष न होता। उसे एक दिन अपनी इस हिंसक वृत्तिसे बड़ी घृणा हुई, वह पश्चात्ताप करता हुआ एक महात्माके पास गया और उनसे दीक्षा लेकर उसने तुलसीकी माला गलेमें पहन ली और भगवत्स्मरण आदिमें अपना प्रायः सारा समय व्यतीत करने लगा।

इस प्रकार ज्यों-ज्यों उसका अन्तःकरण शुद्ध होता गया उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि सबमें भगवान् विराज रहे हैं। जीवहिंसासे अब उसका मन बहुत हट गया था, परन्तु उदरपूरणार्थ उसे मन मारकर थोड़ी-बहुत हिंसा करनी ही पड़ती थी। उसके हृदयमें पश्चात्तापकी आग जल उठी थी, वह हमेशा भगवान्‌से इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये पश्चात्तापभरे हृदयसे करुण प्रार्थना करता। सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल होता है।

भगवत्कृपासे उसमें दैवी गुणोंका विकास हो गया, अब उसके लिये मछली पकड़नेका काम अत्यन्त दूभर हो गया। धीरे-धीरे उससे यह काम छूट गया। कुछ दिन तो पहलेके संचित अन्नसे उसका गुजारा होता रहा, जब सब अन्न समाप्त हो गया तो अब उपवास-पर-उपवास होने लगे। घरमें त्राहि-त्राहिं मच गयी। अन्तमें एक दिन वह विवश होकर हृदयको वज्रसा कड़ा करके जाल लेकर नदीकी तरफ चला। वह मन-ही-मन दुःखी होता और भगवान्‌से प्रार्थना करता हुआ नदीतटपर पहुँचा। वहाँ उसने नदीमें जाल डाला, एक बड़ी भारी लाल मछली उसमें फँस आयी।

उसे तड़पते देखकर एक बार तो उसके हृदयमें बड़ी वेदना हुई, परन्तु हृदय थामकर वह दोनों हाथोंसे मछलीका मुँह फाड़ने लगा। उसी समय मछलीके अंदरसे रघुको स्पष्ट आवाज सुनायी दी रक्षा कर, नारायण! रक्षा कर।' रघुका मन बदल गया, उसने मछलीको एक बड़े-से कुण्डमें छोड़ दिया। मिलनेसे जितना आनन्द मछलीको हुआ उससे कहाँ अधिक आनन्द और सन्तोष रघुको हुआ।

रघु अब भगवान्से प्रार्थनापूर्वक हठ करने लगा--हे भगवन्! आपने शब्दरूपसे तो दर्शन दे दिया, परन्तु रघु आपका साक्षात् चतुर्भुजरूपमें दर्शन किये बिना इस स्थानसे किसी हालतमें उठनेका नहीं । उसी स्थानपर बैठकर रघु लगातार तीन दिनतक बिना कुछ खाये-पिये 'नारायण' मन्त्रका जप करता रहा । वह नारायणके ध्यानमें तन्मय हो गया। भावके भूखे “नारायण” एक वृद्ध ब्राह्मणके रूपमें रघुके सामने प्रकट होकर उससे नाम, पता तथा इस घोर तपस्याका कारण पूछने लगे।

भगवान्के वचन सुनते ही रघुने आँखें खोलकर ब्राह्मणदेवको सामने खड़े देखा। उसने उनको प्रणाम करके कहा--'ब्राह्मणदेव ! आप मुझे व्यर्थ ही क्यों तंग कर रहे हैं? आप अपने कामसे जाइये। मेरे नाम-धामसे आपको क्या मतलब है ?' रघुके वचन सुनकर ब्राह्मणवेशी भगवान्ने कहा-“भैया! मुझे क्या है, मैं तो चला जाऊँगा; परन्तु इतना तो विचार कर कि कहीं मछलीके अंदरसे भी कभी मनुष्यकी-सी आवाज आ सकती है। तुझे भ्रम हो गया है, तू अपने घर जाकर स्त्री और माताकी खबर ले।' ब्राह्मणके ये वचन सुनकर रघु समझ गया कि दयामय भगवान् ही उसकी परीक्षा ले रहे हैं।

उसने कहा--'हे नाथ! आप वेष बदलकर मुझसे क्यों छल कर रहे हैं? अब प्रकट होइये, इस अधमको और क्यों तरसाते हैं ?' भक्तकी अचल भक्ति देखकर भगवान् रघुसे बोले “बेटा रघु! तेरी एकान्त निष्ठासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैंने ही मछलीमेंसे तुझे “नारायण' शब्द सुनाया था।' इसके बाद रघुकी प्रार्थनापर सन्तुष्ट होकर भगवान्ने दिव्य चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर उसे दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा।

भगवान्के वचन सुनकर उसने कहा'हे भगवन्! आपके साक्षात् दर्शनसे बढ़कर और क्या हो सकता है?' जब भगवान्ने बार-बार उससे वर माँगनेको कहा, तो उसने कहा 'हे नाथ! अब तो केवल यही इच्छा है कि मेरा हृदय निरन्तर आपके ध्यानमें तल्लीन रहे और नेत्र सदा-सर्वदा सर्वत्र आपकी मधुर मूर्तिका दर्शन किया करें। हाँ, एक बात और है-मेरा जीवहिंसाका स्वभाव एकदम बदल जाय। मुझे कभी अपने पेटके लिये जीवहिंसा न करनी पड़े और निरन्तर यह जीभ आपके मधुर नामोंका रटन करती रहे।

बस, यही वरदान दीजिये।' भगवान् ' तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये और भक्त 'हरि, हरि' कहता हुआ तन्मय हो गया। जब उसे अपने शरीरकी सुध आयी और उसने घर जाकर देखा तो उसे मालूम हुआ कि जमींदारने उसकी स्त्री और माताके लिये भोजन-वस्त्र आदिका प्रबन्ध कर दिया है। यह सब प्रभुकी ही प्रेरणा थी। अब रघु हर समय भगवन्नामका कीर्तन करता हुआ

गाँवमें घूमता रहता और गाँवके लोग बिना माँगे ही उसे काफी अन्न-वस्त्रादि दे देते।

गाँवके लड़के उसे पागल समझकर बहुत तंग करने लगे। गाँवके लोग लड्कोंको बहुत समझाते, परन्तु ढीठ लड़के किसीकी भी नहीं मानते। एक दिन जब रघु भीख लेकर अपने गाँवको लौट रहा था तो एक बदमाश लड़केने उसे एक काँटेदार मोटे डंडेसे खूब पीटा। रघु बिना कुछ कहे आगे निकल गया। रघुके थोड़ी दूर जाते ही लोगोंने देखा कि लड़का मर गया है।

अन्तमें सब लोगोंके निश्चयानुसार बालकके माता-पिता उसे रघुके पास ले गये और रघुकी भक्तिके प्रभावसे वह फिर जीवित हो उठा और उसकी मनोवृत्ति सर्वथा पलट गयी।

अब रघुके प्रताप और वचनसिद्धिको जानकर लोग रात-दिन उसे घेरे रहने लगे। इससे रघुके भजनमें बहुत बाधा पड़ने लगी। इसलिये तंग आकर वह एक दिन चुपके-से माता और पत्नीसहित जंगलकी तरफ निकल पड़ा। अब रघुका सारा समय भगवद्भजनमें बीतने लगा।

एक दिन रघुको ऐसा भान हुआ कि श्रीनीलाचलनाथ उससे कुछ खानेको माँग रहे हैं। वह बड़ी प्रसन्नतासे एकान्तमें बैठकर भगवानको भोग निवेदन करने लगा । भगवान् आकर उसके हाथसे बड़े प्रेमसे हँसते-हँसते उसका दिया हुआ भोग पाने लगे।

इसी समय पुरीमें श्रीजगन्नाथजीके भोगमण्डपमें उत्तमोत्तम पक्वान्न तैयार करके भेजे गये थे। भोगमण्डपसे प्रभुका मूलमन्दिर कुछ दूर होनेके कारण भोगमण्डपके दर्पणमें श्रीजगन्नाथजीका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीके भोग लगाया जाता है। उस दिन दर्पणमें भगवानूका प्रतिबिम्ब न देखकर पंडे घबड़ा उठे और उन्होंने राजाके पास जाकर सारी बात कही। यह सुनकर राजाको बड़ा दुःख हुआ और भगवानूसे प्रार्थना करतेकरते ही वह सो गया।

स्वप्नमें उसने देखा कि प्रभु प्रकट होकर उसे आश्वासन देते हुए कह रहे हैं-'मैं इस समय पिपलीचटी नामक ग्राममें रघु केवटकी कुटियामें बैठा भोग पा रहा हूँ। जब मैं नीलाचलधाममें हूँ ही नहीं तो फिर दर्पणमें मेरा प्रतिबिम्ब कैसे पडेगा ? तू किसी तरहका दुःख न कर। भक्तका भाव ही मुझे खींचनेकी प्रबल डोरी है। यदि तू मुझे नीलाचलधाममें बुलाना चाहता है तो मेरे भक्त रघुको पिपलीचटीसे उसकी माता और पत्नी सहित अपने यहाँ

बुला ला।' भगवान् अन्तर्धान हो गये। राजाकी नींद टूटते ही वह अकेला ही पिपलीचटी पहुँचा।

सन्तं सुशान्तं सततं नमामि

उसे नीलाचलक्षेत्रमें चलकर रहनेकी प्रार्थना की। रघु श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञाको टाल न सका । श्रद्धालु भक्त राजा भक्तपरिवारसहित नीलाचलमें पधारे। उसी समय दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ने लगा। अब रघु श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके दक्षिणकी तरफ पुरीनरेशद्वारा बनवाये हुए एक आवश्यक सामग्रीसे पूर्ण गृहमें रहकर अपना भजनकीर्तन, ध्यान आदि करने लगे। अन्तमें तीनों इस असार संसारको छोड़कर परमधामको प्रयाण कर गये।

अप्पय्य

अप्पय्य दीक्षित एक महान् शिवभक्त संत और उच्चकोटिके विद्वान् थे। ये एक साथ ही आलंकारिक, वैयाकरण और दार्शनिक थे । इन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। केवल भारतीय साहित्य ही नहीं, इन्हें विश्वसाहित्याकाशका एक देदीप्यमान नक्षत्र कह सकते हैं। मुगलसम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँका शासनकाल (ईस्वी १५५६ से १६५८ तक) भारतीय साहित्यका स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

इस समयमें अलंकार, नाटक, काव्य एवं दर्शन सभी प्रकारके ग्रन्थोंका खूब विस्तार हुआ। सम्भव है, इस समयकी राजनैतिक सुव्यवस्था ही इसमें कारण हो। अप्पय्य दीक्षित अकबर और जहाँगीरके शासनकालमें हुए थे। इनका जन्म सन् १५५० ई० में हुआ था और मृत्यु ७२ वर्षकी आयुमें सन्

१६२२ में। इनके जीवनमें जिस साहित्यिक प्रतिभाका विकास हुआ उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है।

इनके पितामह आचार्य दीक्षित और पिता रंगराजाध्वरि थे। ऐसे प्रकाण्ड पण्डितोंके वंशधर होनेके कारण उनमें अद्भुत प्रतिभाका विकास होना स्वाभाविक ही था। ये दो भाई थे; इनके छोटे भाईका नाम अच्चान दीक्षित था। अप्पय्य दीक्षितने अपने पितासे ही विद्या प्राप्त की थी। पिता और पितामहके संस्कारानुसार उन्हें भी अद्वैतमतकी ही शिक्षा मिली थी, तथापि वे परम शिवभक्त थे। उनका हृदय भगवान् शंकरके प्रेमसे भरा हुआ था। अतः शैवसिद्धान्तकी स्थापनाके लिये वे ग्रन्थरचना करने लगे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने *शिवतत्त्वविवेक' आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना दीक्षित की। इसी समय उनके समीप नर्मदातीर-निवासी ्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उपस्थित हुए। उन्होंने इन्हें सचेत करते हुए अपने पिताके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिये प्रोत्साहित किया। तब उन्हींकी प्रेरणासे इन्होंने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश नामक ग्रन्थोंकी रचना की।

अप्पय्य दीक्षितके पितामह विजयनगरराज्याधीश्वर कृष्णदेवके आश्रित थे। किन्तु सन् १५६५ ई० में तालौकोटयुद्धके पश्चात् उस राजवंशका अन्त हो गया था। उस समय दीक्षितकी आयु केवल १५ वर्षकी थी। इस राजवंशका अन्त होनेपर एक नवीन वंशका उदय हुआ, जो तृतीय वंशके नामसे विख्यात है। इस वंशके मूलपुरुष रामराज, तिरुमल्लई और वेंकटादि अपने पूर्ववर्ती राजवंशके अन्तिम दो नृपति अच्युतराज और सदाशिवके समय ही बहुत शक्तिमान् हो गये थे।

इनमेंसे रामराज और तिरुमल्लईके साथ महाराज कृष्णको कन्या बेंगला और तिरुमलाम्माका विवाह हुआ था। अच्युतका राजकाल ईस्वी सन् १५३० से १५४२ तक है तथा सदाशिवका १५४२ से १५६७ तक। युद्धमें रामराज और वेंकटादिका देहान्त हो गया था अतः अब तीनों भाइयोंमें केवल तिरुमल्लई ही जीवित था। उसने १५६७ ई० तक सदाशिवको नाममात्रका सम्राट् स्वीकार करते हुए राज्यका प्रबन्ध किया और उसकी हत्या कर स्वयं राजा बन गया। तिरुमल्लकि चार पुत्र थे।

सन् १५७४ में उसकी मृत्यु होनेपर उसका दूसरा पुत्र चिन्नतिम्म या द्वितीय रंग सिंहासनारूढ़ हुआ और उसके पश्चात् सन् १५८५ में सबसे छोटा पुत्र बेंकट या वेंकटपति राज्यका अधिपति हुआ। अप्पय्य दीक्षित इन तीनों नृपतियोंके सभापण्डित थे, उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थोंमें इन राजाओंका

नाम निर्देश किया है। इससे सिद्ध होता है कि अप्पय्य दीक्षितका विजयनगर राज्यमें बहुत सम्मान था।

सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि दीक्षितने अपने गुरुरूपसे इनका वर्णन किया है। कुछ कालतक इन दोनों विद्वानोंने काशीमें निवास किया था। अप्पय्य दीक्षित शिवभक्त थे और भट्रोजि दीक्षित वैष्णव थे तो भी इन दोनोंका सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। वे दोनों ही शास्त्रज्ञ थे, अत: उनकी दृष्टिमें वस्तुतः शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं था।

कुछ काल काशीमें रहकर दीक्षित दक्षिणमें लौट आये। वहाँ अपना मृत्युकाल समीप जानकर उन्होंने चिदम्बरम् जानेकी इच्छा की। और अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीमहादेवजीके दर्शन करते-करते अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। यह उनकी जीवनव्यापिनी साधनाका ही फल था।

संत माधवदास

संत माधवदासका जन्म वि० सं० १६०१ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाको सूरतके सौदागरगंजमें हुआ था। इनके पिताका नाम करवतसिंह और माताका नाम हिरलदेवी था। इनके पूर्वज मेवाड़के केळवाड़ा नामक परगनेके निवासी थे और प्रसिद्ध सीसोदियावंशके सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।

बाल्यावस्थामें माधवदासजीकी मुखाकृति देखकर एक अवधूत महात्माने उनके पितासे कहा था कि यह बालक कोई महान् दिव्यात्मा होगा। इनकी पाँच वर्षकी अवस्थामें ही पिताका देहान्त हो गया। ये बचपनसे ही बड़े उदार थे, घरमेंसे पैसे चुराकर ले जाते और भिक्षुकोंको बाँट देते थे। एक बार एक वृद्ध भिक्षुकने इनके दरवाजेपर अलख जगाया!

ये तुरंत बाहर आये और भिक्षुके कन्धेपर बैठे हुए बालकको उतरवाकर उसका आलिंगन किया और अपने हाथकी सुवर्णमुद्रिका उसे पहना दी। माता हिरलदेवी पुत्रकी यह उदारवृत्ति देखकर बड़ी प्रसन्न हुई।

माताने इन्हें अच्छा विद्याभ्यास कराया था। ये फारसी और उर्दूके बड़े भारी विद्वान् थे। एक राजपूत वीरके लायक शस्त्रास्त्रकी योग्यता भी इन्हें बचपनमें ही प्राप्त हो गयी थी।

युवावस्थामें सूरतके धनाढ्य नगरसेठकी कन्या सजनासे माधवदासजीका प्रेम हो गया था और उसे वे हरण करके ले गये थे, परन्तु एक दिन रातको एक विषधर सर्पके काटनेसे सजनाकी मृत्यु हो गयी। माधवदास उसके वियोगमें पागल-से हो गये।

सजनाके वियोगमें पागलकी तरह भटकते हुए माधवने एक शहरमें पहुँचकर देखा कि कुछ मुसलमान ग्वालोंसे उनकी गायें छीनकर लिये जा रहे हैं। ईदके त्यौहारपर कुर्बानीके लिये अहमदाबादसे कुछ दूरके एक हाकिमकी आज्ञासे वे सैनिक गायें ले जा रहे थे। वे कुल पचास सैनिक थे। वीर माधवदास तलवार लेकर उनपर टूट पडे । सीसोदियावंशके उस वीरने उन यवनोंको मारकर सब गायें छुड़ा लीं और गाँवकी सीमापर रोते हुए ग्वालोंके सुपुर्द कर दीं। पागल माधव फिर इधर-उधर भटकने लगे।

कुछ समय बाद माधव घरपर पहुँचे। माता हिरलदेवी जर्जरित और दुर्बल अवस्थामें शय्यापर पड़ी थीं। बहुत दिनों बाद पुत्रको देखकर माताका हदय प्रेमसे भर आया, परन्तु पुत्रको स्त्रीलम्पर जानकर माताको बड़ा दुःख हुआ। अन्तमें माताने पुत्रको अपना लिया। आखिर माताहीका तो हृदय था!

एक दिन माता और पुत्र घरके आँगनमें बैठे थे। कुछ लोग एक मुर्देको उधरसे श्मशान ले जा रहे थे। सांसारिक व्यवहारसे अपरिचित माधवने मातासे पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं। माने एक सच्ची माँकी तरह उत्तर दिया “बेटा माधव! जहाँ यह जा रहा है तुझे भी एक दिन वहीं जाना पड़ेगा। क्यों वृथा अभिमानमें फूल रहा है? और क्यो विषयोंके पीछे अपने जीवनको नष्ट कर रहा है! यह नाशवान् काया तो कल मिट्रीमें मिल जायगी, जिसके लिये तू न जाने कितने दुष्कर्म कर चुका है।'

माताकी वाणीसे मर्माहत होकर माध रो पड़ा और अधीर होकर कराल कालके गालसे बच निकलनेका मार्ग मातासे पूछने लगा। माताने किसी सद्गुरुकी शरण ही इसका साधन बतलाया। माधव उसी समय ' अलख निरंजन' कहकर सद्गुरुकी खोजमें संसारत्यागी अवधूत बन गया।

सूरतके किलेके बाहर अशोककी छायामें बैठे सद्गुरु समर्थदास नामक एक योगीका माधव शिष्य हो गया। एक बार श्रीसमर्थदासने अपने शिष्योंकी

परीक्षाके लिये उनका सिर माँगा। गुरुभक्त माधवने तुरंत अपना सिर काटकर गुरुदेवके श्रीचरणोंमें रख दिया। योगिराजने उसे पुनः जीवित करके “मस्त माधव' की उपाधिसे विभूषित किया । गुरुके स्वधाम पधारनेपर उस आश्रमका सर्वाधिकार माधवको ही प्राप्त हुआ ।

संत माधवदासजीका अधिक समय तीर्थाटनमें ही बीता। उनके जीवनकी अनेक अलौकिक घटनाएँ सुनी जाती हैं। कुछ घटनाएँ नीचे दी जाती हैं।

(१) दिल्लीकी वेश्या रोशनआराके कोठेके नीचेसे एक दिन संत माधवदासजी जा रहे थे। वेश्याने उन्हें बुलवाकर कामवासना तृप्त करनी चाही। संतने उसे माता कहकर सम्बोधित किया। वेश्याका हृदय तुरंत पलट गया। संतने उपदेशके द्वारा उसके प्रेमको संसारसे हटाकर ईश्वरचरणोंमें लगा दिया। यह घटना वि० सं० १६२१ को है।

(२) चाँदनी चौकमें एक उमरावजादेने संतपर हाथ उठाया। उसका हाथ ऊँचा ही रह गया। अन्तमें संतको प्रणाम करके अपने रास्ते चला गया।

(३) अकबर बादशाहके दरबारी कवि गंग और बीरबलको चाँदनीचौककी धूनीमें एक रक्तरंजित मस्तकको हाथमें लिये एक भीमकाय व्यक्ति दिखलायी पड़ा, वह पुष्पोंका ढेर बनकर धूनीमें समा गया।

(४) काबुलके युद्धमें जाते समय संतने बीरबलको वृन्दावनमें प्रभुभक्तिका उपदेश दिया। काबुल-युद्धमें बीरबलके आहत होकर गिर जानेपर एक भिश्ती उन्हें अपने घर ले गया और वहाँ उसने उनकी खूब सेवाशुश्रूषा की। इसके बाद बीरबलने पुन: संसारमें न जाकर वैराग्य धारण कर लिया और “संत सोहागी' नामसे अलख जगाने लगे।

(५) बीरबलके 'लाल' ने कुल सम्पत्ति राग-रंगमें पूरी कर दी। संत माधवदासजी फतेहपुर-सीकरीमें सन्तं सुशान्तं सततं नमामि न ________-----"----ॅलॅसॅलॅलॉलशॉसशससससशिशशित-बीरबलके महलमें गये और लड़केको अपने साथ लाकर “लाल वैरागी' नाम देकर भगवद्भजनमें लगा दिया।

(६) दिल्लीके शाही कसाईखानेके हाशम नामक जल्लादको मरते समय उपदेश देकर पुनर्जीवन दिया और भगवान्‌की भक्तिमें लगा दिया।

एक बार मुलतानके मुसाफिरखानेमें वहाँके सूबेदारने संत माधवदासपर भ्रमसे किसी अपराधका आरोप करके सिपाहियोंको उनका सिर काटनेकी आज्ञा दी। सिर काट लिया गया, परन्तु संत फिर जीवित हो गये। उन्हें बेड्याँ पहनायी गयीं, परन्तु बेडियाँ भी एक-एक करके तीन बार टूट गयीं! यह सुनकर सूबेदारने दरबारमे उन्हें उपस्थित 'करनेकी आज्ञा दी। दरबारमें संत उपस्थित किये गये, परन्तु वहाँपर भी अनेकों चमत्कार हुए।

जल्लाद ज्यों ही मारने दौड़े उनकी तलवारें दूर जा गिरीं । फाँसीके तख्तेपर चढ़ाये जानेपर तीन बार फाँसी तख्तेसहित टूट गयी। बन्दूकसे मारनेका प्रयत्न करनेपर बन्दूकसे गोलियोंके बदले फूलोंकी वर्षा होने लगी। कसाइयोंके छुरे लेकर टूट पड्नेपर छुरे उनके हाथसे छूटकर दस कदम दूर जा गिरे। तोपके गोलेसे उड़ानेका प्रयत्न करनेपर गोला उछलकर किलेपर उडते हुए हिलाली झंडेपर लगा और उसे नीचे गिरा दिया। अजगरकी गुफामें प्रवेश करानेपर विषधर सर्प संतके प्रभावसे दीन होकर उनकी प्रदक्षिणा करने लगा-यह सब देखकर सूबेदारने संतके चरणोंमें गिरकर क्षमायाचना की और भविष्यमें किसौको न सतानेकी कसम खायी।

(७) काशीके एक विषयलम्पट बणिकको मृत्युशय्यासे उठाकर संतसेवामें लगा दिया।

(८) भड़ोंचसे कुछ दूरीपर एक गाँवमें एक विधवा ब्राह्मणी अपने युवक पुत्रके शवके पास बैठी जोर-जोरसे विलाप कर रही थी। संतने पहले तो उसे बहुत समझाया, अन्तमें न माननेपर उस लड्केको जीवित कर दिया। लड़का माँको रोती छोड़कर अपने जीवनदाताके साथ चल पडा |

वि० सं० १६५२ की आषाढ़ कृष्णा पूर्णिमाके प्रातःकाल संत अपने शिष्योंको उपदेश एवं आश्वासन देते हुए इक्यावन वर्ष साढ़े आठ महीनेकी आयु समाप्त करके इस नश्वर शरीरको त्यागकर अविनाशी परब्रह्म प्रभुके दिव्यस्वरूपमें अवस्थित हो गये। जय हो संतरल माधवदासकी जय हो!

दासो पन्त

श्रीदत्तभक्त दासो पन्तका जन्म बहमनी शाहीराजके नारायणपेठ नामक स्थानमें संवत् १६०८ में हुआ । इनके पिताका नाम दिगम्बर पन्त देशपांडे था और माताका नाम पार्वतीबाई । एक बार दुर्भिक्षके कारण दिगम्बर पन्त देशपांडे मालगुजारी समयपर अदा न कर सके । इससे बेदरके बहमनी शाहने

मालगुजारीके एवजमें इनके पुत्र दासो पन्तको पकड़वा मँगाया और दिगम्बर पन्तपर यह हुक्म तामील कराया कि यदि एक महीनेके अंदर मालगुजारी वसूल न होगी तो लड़का मुसलमान बना लिया जायगा।

उस समय दासो पन्त १७-१८ वर्षके थे। इन्हें बचपनसे ही श्रीदत्त भगवान्‌का इष्ट था। इस संकटकालमें वे श्रीदत्तका ही नाम जपते और सदा उन्हींको पुकार करते थे। भगवानूने भी कोई युक्ति लगाकर मालगुजारी भरपाई करा दी और इन्हें इस महासंकटसे मुक्त किया। तबसे ये भगवान्‌के अनन्य भक्त हो गये। इन्होंने अन्य किसीकी सेवा-चाकरी नहीँ की। भगवानको ही भजते और घर बैठे सद्ग्रन्थ लिखा करते थे। मराठी भाषामें इनके १०० हस्तलिखित ग्रन्थोंका पता लगा है, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं-गीतार्णव, अवधूतराज, ग्रन्थराज, स्थूलगीता, पंचीकरण, अवधूतगीता, दततात्रेयसहस्त्रनामस्तोत्र, षड्गुरुयन्त्र, अत्रिपंचक प्रधान यन्त्र, आगम-निगम, वेदोक्तपूजा, षोडश अवतार-स्तोत्र इत्यादि। इनके अतिरिक्त दत्तात्रेयमाहात्म्य, दशोपनिषद्‌भाष्य आदि कई संस्कृत ग्रन्थ भी हैं।

इनका सबसे बड़ा ग्रन्थ “गीतार्णव' है, जो गीताका सबसे बड़ा भाष्य है। यह भाष्य बिलकुल स्वतन्त्र है, किसी पूर्व भाष्यके आधारपर नहीं। इसमें एक लाख पचीस हजार ओवियाँ हैं । संवत् १६७२ में इनका देहावसान हुआ। श्रीदत्त भगवान्‌की जिस मूर्तिकी ये उपासना करते थे वह मूर्ति अंबाजोगाईमें है; वहीं इनके दो घर हैं, जिनमेंसे एक बड़ा देवगृह और दूसरा छोटा देवगृह कहलाता है। यहीं उनके वंशज रहते हैं।

स्वामी दीनदयालजी

मथुरा जिलेमें हातिया (हतीन) नामक एक गाँव है। यहाँ लाला श्रीचन्द्रजी अग्रवाल निवास करते थे। आपकी धर्मपत्नीका नाम था इन्द्रावलि। जब इन्द्रावलि गर्भवती हुई तो आपको स्वप्न हुआ कि तुम सपरिवार मथुरा चले जाओ, वहाँ तुम्हें पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी। तदनुसार वे मथुरा चले गये और वहाँ चैत्र बदी प्रतिपदा संवत् १६१४ को उनके पुत्र हुआ जिसका नाम रखा गया मथुरामल।

एक बार मथुरामल आँगनमें खेल रहे थे कि अचानक इनका मुँह लाल हो गया। और माथेपर पसीना आ गया। माताने पूछा-बेटा! क्या बात है? पहले तो मथुरामलजीने बात टाल दी, परन्तु माताके अत्यधिक आग्रहके कारण बोले कि एक दिन सेविकाकी नाव डूबी जा रही थी सो उसे मैंने उबारा है। इसीसे पसीना आ गया है तथा उस नावकी कील भी मेरी कमरमें चुभ गयी है। माताने कमर देखी तो वास्तवमें कीलका निशान मिला। उसी दिनसे मथुरामलजी दीनदयाल कहलाने लगे।

संवत् १६४० के लगभग दीनदयालजी अनूपशहरके पास जंगलमें अपने माता-पिताके सहित आकर रहने लगे। आपके नाना प्रकारके अद्‌भुत चमत्कारोंकी बातें अबतक भी लोग बड़े प्रेमसे कहते-सुनते हैं। संवत् १७०२ वि? में स्वामीजीने चोला छोड़ा। मरनेके पहले घरवालोंसे कह गये कि मेरी चितासे एक प्रज्वलित गोला निकलेगा, उसे नि:संकोच पकड़ लेना तथा उसे मन्दिरमें रखकर उसपर समाधि बनवा देना। इससे तुम्हारा वंश सदा फलता-फूलता रहेगा। गोला उछला तो सही, पर डरके मारे सभी भाग गये। पीछे आपके फूलोंको लेकर समाधि बनी जो तबतक विद्‌यमान है। हर धुरहरीके दिन वहाँ भारी मेला लगता है।

श्री श्रीभट्टदेव

प्रभु भट्टदेवने एक संन्यासीके वरदानसे तारादेवीके गर्भमें १४८० शाकाब्दमें कामरूप जिलेके पिंगला (पाट बाउसी) नामक ग्राममें जन्म ग्रहण किया। अल्पकालमें ही इन्होंने पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया । बाल्यावस्थासे ही इन्हें प्रभुकी भक्तिमें अनुराग था। वैष्णवधर्मकी विविध भक्तिमें आपका हृदय पूर्णतः रमता था। आपके द्‌वारा आसाममें वैष्णवधर्म लहलहा उठा। आसामिया भाषामें आपके लिखे चार ग्रन्थ विख्यात हैं-भवितिसार, भक्तिविवेक, शरणसंग्रह और दामोदरव्याख्यान। इन ग्रन्थोंसे असंख्य जीवोंका परम कल्याण हुआ है, होता रहेगा। आपकी 'भक्तिरत्नावली' भक्तोंके प्राणोंका आधार-स्वरूप है।

उनका दैन्यभाव, तल्लीनता, सर्वतोमुखी प्रतिभा और विस्मयजनक पाण्डित्य तथा सम्पन्न ज्ञानभण्डार उनके एक-एक ग्रन्थमें प्रतिबिम्बित है।

प्रभु भट्टदेव ब्राह्म मुहूर्तमें ही शय्या छोड़कर शौचाचार, स्नान, सन्ध्या, गायत्री समाप्त करके उसके पश्चात् हरिकीर्तनप्रसंगमें बैठते थे। हरिप्रसंग समाप्त करनेके पश्चात् भागवतकी व्याख्या होती थी। इस प्रकार मध्याह्न हो जाता और आप मध्याह्नकी पूजामें बैठते। पूजा समाप्त होनेपर आप नित्य अठारहों अध्याय गीताका पाठ विधिपूर्वक करते।

तब भोजन करतेपहले यह देख लेते कि कोई अतिथि-अभ्यागत बिना भोजन किये रह तो नहीं गया है। भोजनोपरान्त पाठशालामें छात्रोंको शिक्षा देते थे। पाठशालाका कार्य समाप्त होनेपर पुनः सायंकालके कृत्यमें लग जाते थे। बड़ा ही सात्त्विक आपका जीवन था। भागवत एवं योगसमाधिके बलपर एवं मुख्यतः भगवत्कृपासे आपको भगवान्के साक्षात् दर्शन हुए थे। संवत् १५६० शाकान्दमें आपने नरलीला समाप्त 'की। आज भी स्मृतिरूपमें “पाट बाउसी' में आपका भग्न मठ है ।

गुरु-शिष्य-संवादके रूपमें आपका निम्नलिखित उपदेश अत्यन्त लोकप्रिय एवं सर्वमान्य हैगुरुदेव! अपार संसार-समुद्रको पार करनेकी कोई नौका भी है? हाँ, है न। वह है प्रभुका युगल चरण। बद्ध कौन है? विषयासक्त। नरक क्या वस्तु ? मनुष्यका पार्थिव शरीर। स्वर्ग क्या? संसारकी तृष्णाका क्षय। मोक्षका साधन? आत्मस्मृति। नरकमें डालनेवाली कौन वस्तु? मोहिनी रमणी। और स्वर्गका मार्ग क्या? अहिंसाप्रीति।

सुखसे कौन सोता है? समाधिनिष्ठ । शत्रु कौन? अपनी इन्द्रियाँ। मित्र कौन? अपनी वशीभूत इन्द्रियाँ। दरिद्र कौन ? अति तृष्णावाला। श्रीमान् कौन? सन्तोषी। सुखका साधन क्या? आशा-निवृत्ति। भवपाश क्या? ममता और अभिमान। मोहिनी मदिरा क्या? मोहिनी नारी। मदान्ध कौन? कामातुर। मृत्यु क्या? अपयशराशि। गुरु कौन? हितोपदेशक। शिष्य कौन? जो गुरुभक्त हो। दीर्घव्याधि क्या? असार संसार। उसकी ओषधि? तत्त्वविचार। नरका भूषण क्या? पवित्र स्वभाव। सदा सेवनीय क्या? गुरुका वचन। परमतीर्थ क्या? शुद्ध सत्त्वज्ञान। हेय वस्तु क्या? कामिनी और कांचन।

ब्रह्मप्राप्तिका साधन? सत्संग, सन्तोष, इन्द्रियनिग्रह, तत्त्वविचार। मोहपाश कैसे कटे ? वैराग्यसे। जीवका ज्वर क्या? हृदयकी दुश्चिन्ता। मूर्ख कौन ? विवेकहीन । मानवका मुख्य कार्य क्या ? विष्णुभक्ति। विद्या कया? बरहमप्राप्तिका साधन। धीर कौन ? जो ललनाके हाव-भाव-कटाक्षसे कदापि मोहित न हो। तत्त्व क्या वस्तु? अद्वितीय शिवज्ञान। उत्तमोत्तम क्या ? सच्चरित्र । सुन्दर कौन? विद्यावान्। लोकमें दुर्लभ वस्तु क्या? सत्संग,

सद्गुरु, सर्वत्याग, आत्मबोध, ब्रह्मविषयक विचार। पशु कौन ? स्वधर्मविहीन। आपातमधुर विषवत् क्या ? स्त्री । अहर्निश चिन्तनीय क्या? सत्य, आत्मतत्त्व एवं संसार।

संतवर श्रीदादूदयालजी

इनका प्राकट्य सं० १६०१ वि० की चैत्र शुक्ला | बहता हुआ एक संदूक देखा। नदीमेंसे उसने संदूकको अष्टमी गुरुवारको अहमदाबादमें लोदीराम ब्राह्मणके घर | निकाल लिया और खोलनेपर देखा कि उसमें एक हुआ। ये नागर ब्राह्मण थे। लोदीरामके कोई सन्तान नहीं | परमज्योतिर्मय छोटा-सा बालक हँसता हुआ लेट रहा थी। एक दिन भगवान्‌की दयासे उसने सावरमती नदीमें | है। उसने उस बालकको घरपर लाकर अपनी दिया। उसकी स्त्री भी उसे भगवान्‌की कृपापूर्ण देन समझकर बड़े प्यारसे पालने लगी। भगवान्‌की मायासे उसके स्तनोंमें दुग्ध भी आ गया।

माता-पिताके लाडप्यारमें पलते हुए दादूजी दूजके चाँदकी तरह दिनोंदिन बढ़ने लगे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें वृद्धरूपसे दर्शन देकर तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। दादूजी विरक्त, ज्ञानी और भक्त हो गये। ये कुछ समय बाद सत्संगके लिये घरसे निकल पडे, परन्तु मातापिताने पीछा करके इन्हें पकड़ लिया और घरपर लाकर बड्नगरमें इनका विवाह कर दिया। परन्तु सांसारिक बन्धन इन्हें बाँध थोड़े ही सकते थे।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें ये फिर घरसे निकल पडे । घूमते-घूमते ये जयपुर-राज्यान्तर्गत साँभर ग्राममें जा पहुँचे। यहाँपर दादूजीने अपनेको छिपाने एवं शरीरयात्राके लिये रुई पीने (धुनियाँ) का काम शुरू कर दिया। परन्तु अग्नि राखमें कहाँतक छिपी रह सकती है। एक दिन बहाँके काजीने इनके किसी व्यवहारसे रुष्ट होकर इन्हें दण्ड दिया। संत-अवज्ञाके फलस्वरूप वह शीघ्र ही दुःख पा-पाकर मर गया।

और भी इनके अनेक अलौकिक चरित्र देखकर लोगोंकी इनमें बड़ी भारी श्रद्धा हो गयी। चारों तरफ इनकी ख्याति फैल गयी। हजारों जिज्ञासु भक्त आ-आकर इनकी सुखद शरण ग्रहण करके कृतार्थ होने लगे। श्रीदादूजीने बारह वर्षतक कठिन तपस्या करके योगकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी। ये निरन्तर लययोग एवं भक्तिरसमें छके रहते थे। इनको वचनसिद्धि भी प्राप्त थी, परन्तु ये करामातको पाप समझते थे। बिना किसी प्रकारकी श्रद्धा-भक्तिके केवल मानप्राप्ति एवं दिखावेके लिये किये गये मूर्तिपूजन, तीर्थयात्रा, तिलक-छाप एवं कथा आदिको ये निष्प्रयोजन बतलाते थे।

अन्तर्मुख रहकर अन्तर्ज्योतिके अभ्यास, स्मरण एवं सहजयोगसे ईश्वरमें लय रहना ही सर्वोपरि साधन मानते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, वैराग्य, तितिक्षा, क्षमा, दया, समता, निरभिमानता एवं आर्जव आदि सात्त्विक गुणोंकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेको ही साधु मानते थे।

इनका उद्देश्य एकमात्र निरंजन निराकार ब्रह्मकी सत्ताका अनुभव करना ही था। इन्होंने अपने मतको कोई सम्प्रदायका रूप नहीं दिया था, किन्तु कुछ तो इनके जीवनकालमें ही और कुछ इनके पीछेसे होते-होते एक

सम्प्रदाय बन ही गया। पहले तो इस सम्प्रदायका कोई नाम न था। पीछेसे शिष्योंने 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' नाम रख लिया। सुन्दरदासजीने भी अपने ग्रन्थमें ' सम्प्रदाय परब्रह्म' का ऐसा उल्लेख किया है। परन्तु जनतामें यह नाम प्रचलित नहीं हुआ। अब यह सम्प्रदाय 'दादूपन्थ' या “दादूसम्प्रदाय' के नामसे प्रसिद्ध है। यों तो दादूजीके हजारों शिष्य थे, परन्तु मुख्यतः गणनामें १५२ शिष्य ही आते हैं। इनमेंसे १०० शिष्य तो विरक्त हो गये और उन्होंने शिष्य एवं मठ आदि नहीं बनाये। बाकीके ५२ शिष्य, शिष्य बनाने एवं स्थान बाँधनेके कारण, थाँभाधारी महंत कहलाये। दादूजी विवाहित थे।

उनके दो पुत्र एवं दो पुत्रियाँ थीं । दादूजीका परमपदप्रयाण नारायणा नामक कस्बेमें हुआ था। यह दादूपन्थियोंका प्रधान स्थान है और इनके प्रधान महंत भी यहीं रहते हैं। यहाँपर कई बड़े-बड़े दर्शनीय स्थान भी बने हुए हैं। दादूजीका सफेद पत्थरका दादूद्वारा भी यहाँ बना हुआ है। बावन महंतोंके स्थानोंमें भी दादूद्वारे बने हुए हैं। दादूपन्थी साधु हिन्दुस्तानके प्रायः सभी शहरों, कस्बों एवं ग्रामोंमें मिलेंगे।

जयपुर राज्यमें एक दादूपन्थी “नागा जमात' बड़ी भारी संख्यामें है। इस जमातके साधु बड़े वीर होते हैं और राज्यसे तनख्वाह लेकर सैनिकका काम

करते हैं। अन्य साधु भगवाँ वस्त्र पहनते हैं, परन्तु नागा साधु सफेद वस्त्र ही धारण करते हैं। दादूपन्थी साधु प्रायः सदाचारी होते हैं। वेदान्तादि शास्त्रोंके अद्‌वितीय विद्‌वान्‌ एवं तत्त्वज्ञानी साधुवर श्रीनिश्चलदासजी महाराज भी इसी सम्प्रदायमें हुए हैं। दादूसम्प्रदाय एक प्रतिष्ठित सम्प्रदाय है और इसमें समय-समयपर ज्ञानी, वीर, गुणी, विद्‌वान्‌ एवं कलाकार संत होते रहे हैं और इस समय भी हैं।

दादूजीके प्रधान ५२ शिष्योंमें ये अति प्रसिद्‌ध हैं-महात्मा गरीबदासजी, बड़े सुन्दरदासजी, रज्जबजी, जगजीवनदासजी, बाबा बनवारीदासजी, चतुर्भुजजी, मोहनदासजी मेवाड़ा, बषनाजी, जैमलजी कछवाहा, जैमलजी चौहान, जनगोपालजी, जग्गाजी, जगन्नाथजी कायस्थ, सुन्दरदासजी बूसर (जिनके सुन्दरविलास आदि ग्रन्थ हैं) इत्यादि।

श्रीदादूदयालजी महाराजने सं० १६६० वि० में नरायणा कस्बेमें परमपदको प्रयाण किया। इनकी गद्‌दी इनके सबसे बड़े पुत्र श्रीगरीबदासजी महाराजको मिली।

संत रज्जब

यह प्रसिद्‌ध महात्मा दादूजीके शिष्य हुए हैं। दादूजीका जन्म-समय विक्रम संवत्‌ १६०१ है। दादूजी जब लगभग ३७ वर्षके थे तब इनका विवाहका समय था। उस समय इनकी अवस्था १७-१८ वर्षकी अवश्य होगी। इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि इनका जन्म-समय विक्रम संवत्‌ १६१८ के लगभग ही होगा। यह जब विवाह करनेके लिये आमेर (जयपुरसे तीन कोस उत्तर, पहले जयपुरराज्यकी राजधानी यही थी) गये, तब दादूजी भी वहीं निवास करते थे। इनकी बारात बड़ी धूम-धामके साथ चली आ रही थी।

जब यह बारात दादूजीके आश्रमके समीप आयी, तब दादूजीने वरको घोडेपर चढ़ा देखकर यह वाक्य कहा रज्जब तैं गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर। आया था हरिभजनकूँ, करे नरकको ठौर॥ इसको सुन रज्जब अपने घोड़ेको रोककर उतर पड़े और नमस्कार कर दादूजीके पास बैठ गये, इस घटनाको देख बारात वहीं ठहर गयी। थोड़ी देरके बाद बारातियोंने कहा--“बस, अब

चलो; देर मत करो। फेरो (भाँवर) का समय निकट आ गया है।' बारातियोंकी यह बात सुन रज्जबने अपना मौर (सेहरा) उतारकर अपने छोटे भाईके सामने रख दिया, और कहा “जाओ, तुम फेरे ले लो; मैं अब विवाह नहीं करूँगा।'

रज्जबकी यह बात सुन सब बाराती बिगड़ गये। उन लोगोंने कहा--इस साधुने इसके ऊपर भुरकी डाल दी है, इसीसे यह नहीं चलता। यह कह वे लोग दादूजीको भी सताने लगे। तब दादूजीने कहा-भाई जाओ, विवाह कर लो; नहीं तो फिर तुम परस्त्रियोंको कुदृष्टिसे देखते फिरोगे। यह सुन रज्जबने कहा-रज्जब घर-घरणी तजै, पर-घरणी न सुहाय। अहि तज अपनी कंचुकी, काकी पहिरै जाय॥ रज्जबका यह वाक्य सुन फिर दादूजीने कुछ नहीं कहा; बारातियोंने बहुत प्रयत्न किया, पर वह नहीं गये और दादूजीके शिष्य होकर दादूजीके साथ ही रहने लगे। यह गुरुजीके बड़े भक्त थे। एक समयकी बात

है, दादूजी अपने पाँच-सात शिष्योंके साथ कहीं चले जा रहे थे। मार्गमें एक नदी आयी; उसमें कीचड़ हो रहा था। उसको देख दादूजीने कहा-संतो; इसमें थोड़ी-थोड़ी दूरपर पाँच-सात पत्थर डाल दो, जिससे पैर कीचड़में नहीं हों और पार चले चलें। यह गुरुआज्ञा सुन और शिष्य तो इधर-उधर पत्थर देखने लगे और रज्जबजी सहसा कीचड़में लंबे पड़ गये और कहा--' हे गुरो! पत्थरोंकी क्या आवश्यकता है?

आप इस शरीरपर पैर रखते हुए पार जाइये, यह शरीर यदि आपके ही काम नहीं आया तो फिर इसका क्या बनेगा ?' गुरुभक्तिविषयक इनकी और भी कथाएँ सुनी जाती हैं और चमत्कार भी सुने जाते हैं, पर लेखवृद्धिके भयसे मैं उनको यहाँ नहीं लिखता। बुद्धि इनकी कैसी थी सो तो इनकी कविता देखनेसे ही पता चलेगा। इनकी कविता 'रज्जबवाणी' नामसे प्रसिद्ध है। इस वाणीकी संख्या १००१३ है। इसके 'साखी ' भागमें २९४ अंग (प्रकरण) हैं, उनमें ५४२८ साखियाँ हैं। “पद' भागमें २१८ भजन हैं। ' अरिल' भागमें ८३ अरिल हैं। उसी प्रकार कवित्त और सवैये दोनों मिलाके १५० हैं। और भी इसमें छोटे-छोटे तेरह ग्रन्थ हैं।

अन्तमें ८९ छप्पय हैं। यह ३९ अंगों (प्रकरणों) में है। देखिये इनकी कविताके कुछ नमूनेसाखी-भजनप्रताप— रज्जब भागैं भजन सुनि, अघ इन्द्री गुण चोर। ज्यों भुजंग चंदन तजैं, तरु-सिर बोले मोर॥ १॥ जन रज्जब रामहिं भजै, पाप रहैं नहिं संग। ज्यों तोपककी त्रास सुन, तरुबर तजैं बिहंग॥ २॥ पालेके पर्वत गलहिँ, देखि सूरकी ताप। ऐसी बिधि अघ ऊतरहिं, जन रज्जब हरिजाप॥ ३॥ गुण-तारे, माया-तिमिर, शीत-श्रम, मन-चंद। रज्जब सुमिरन

सूरसों, सहस पड़े सब मंद॥ ४॥ अरिल-गुरु-अंगसे-शक्ती, सुख अरु शीत जमहिं तन हेम ज्यों,
आतम अंड सुकुंज बँधे बपु बारि यों। सतगुरु सूरज तेज बिरह बैसाख रे,परिहाँ बह नैन नदी पूरि मिलहि सुत-मात रे॥ १॥

संत रज्जब

विरह-अंगसे-शक्ती सुखशशि सीर सुधारस बर्षहीं, पीवत प्राण-पियूष सबहि मन हर्षहीं। मो मन बाजि बिसेस बिरह बपु चाँदियाँ, परिहाँ रज्जब रस विष होय उभय मुख बाँदियाँ॥ २॥ सवैया-भजनप्रतापसे-केलेको नाश भयो फल लागत, कागद नाश भयो जल पाये। पापको नाश भयो पुण्य ऊगत, बीछिन नाश भयो सुत जाये ॥ फूलको नास भयो फल आवत, रैनको नाश भयो दिन आये। हो तैसे ही नाश भए जन रज्जब, जन्मन-मरण जगतपति ध्याये ॥

अज्ञानकसौटी-अंगसे-छायाको छेद छिदै नहिं पक्षीजु, बांबीके मारे क्यों ब्याल मरैगो। काठके काटे कटे न हुताशन, पानीको पीटे क्यों मीन डरैगो॥ हो खोरो है ऊँट रु डामिये गादह, ऐसे अज्ञान क्यों काम सरैगो। कायाकी त्रास न त्रसिये सो मन, रज्जब यूँ न गुमान गिरैगो ॥ जरणा-अंगसे-श्वानहि सठ हठ रटें बहुतेरे, पै कुंजरके कछु कान न आवै।

जंबुक जीव पुकारें अनेरे, पै सिंह न काहू हो स्यालकूँ धाबे ॥ सूरहि सनमुख खेह उड़ावत, तौ व कहा कछु मैल समावे। हो रज्जब राम रटै निशिवासर, मूरख भूख भलैं सचु पावै॥ कुसंग-निन्दाकुसंगसों भंग भयो सबहीको जु, देखहु मान-महातम जाई। गंग-गुमान गयो तबही, जब जायके क्षार समुद्र समाई॥ उदधि उपाधि करी न हरी कछु, रावणसंग शिला जु बँधाई। हो रज्जब रंग रहै न कुसंगति, सोच-बिचार तजौ किन भाई॥ छप्पय-उपदेश-अंगसेदेहिं अमरफल डारि, तजैं पारस-चिन्तामणि।

कामधेनु-तरुकल्प काटि आवै सु कहा बन॥ गुरु-संजीवन छाडि, पाय पोरस सिर काटहिं। ज्ञान-रसायन त्यागि, बीर बहुते बित बाँटहिं॥ चकई चकवे तैं गया, छापसलेमा खोइये। मिनखा देही हरि विमुख, रज्जब हानि सु रोइये॥ यह ग्रन्थ एक बार छप भी गया है, इसको चूड़ीग्राम-निवासी (इलाका खेतड़ी) श्रीमान् शिवनारायणसूरजमल नेमाणीने छपवाकर इसकी एक हजार कापी धर्मार्थ बाँटी थी। हिन्दी भाषामें परमार्थका यह सुन्दर सुभाषित है। इसके अन्तर्गत छप्पयोंकी हालमें एक टीका भी लिखी गयी है, वह अप्रकाशित है।

महात्मा रज्जबजीने ऐसे सुन्दर ग्रन्थकी रचना करके प्राणियोंका बड़ा उपकार किया; पर दुर्भाग्यकी बात है कि जैसा यह ग्रन्थ था वैसा इसका प्रचार नहीं हुआ। दादूजीके शरीरकी लीला समाप्त होनेके बाद रज्जबजी जयपुरके समीप साँगानेर नगरमें रहे। अन्त समयसे कुछ काल पहले बालकवि महात्मा सुन्दरदासजी भी इनके पास आ गये थे और सुन्दरदासजीका देहान्त भी साँगानेरमें ही हुआ था, जहाँ उनकी समाधि है।

एक रोज रज्जबजी अपने शिष्योंके साथ किसी गृहस्थके यहाँ भोजन करने जा रहे थे, मार्गमें उन्हें एक वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसके कपड़े मलिन तथा फटे हुए थे, उसने रज्जबजीसे कहा-महाराज! मैं भूखा हूँ। रज्जबजीने कहा, आ जाओ, भोजन करने ही जा रहे हैं। आगे जब पंगत लगी तब और साधुओंने, जो उस ब्राह्मणसे मलिन कपड़े होनेके कारण घृणा करते थे, उसको पास नहीं बैठाया। वह बेचारा दूर जाकर बैठ गया।

पर रज्जबजी बड़े दयालु और उच्च कोटिके संत थे। उन्होंने विचारा कि जैसे इन लोगोंने उसको दूर बैठाया है, वैसे ही कहीं उसको भोजन भी अच्छी तरह नहीं परोसा गया तो वह बेचारा भूखा ही रह जायगा; इससे उसको मैं अपने पास ले आऊँ। रज्जबजीने उसे हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया, यह बात साधुओंको बुरी लगी। यहाँ तो उन लोगोनें कुछ नहीं कहा, पर मार्गमें कहने लगे, महाराज! इसको पास लाके क्या अपनी गद्दी देनी थी? भोजन तो यह वहीं कर लेता।

तब रज्जबजीने कहा, अच्छी बात। रज्जबजी विचारने लगे-यह लोग अभिमानी हैं, इससे मेरी गद्दीके अधिकारी नहीं; मैं अपनी गद्दी इसीको दूँगा। फिर जब इनके शिष्य इधर-उधर हुए तब उन्होंने गद्दी उसीको दे दी। यह देख उनके शिष्योंने कहा--महाराज, इस दरिद्रको अच्छी गद्दी दी। यह सुनकर रज्जबजीने ऐसा विचार करके कि धनादिसे अभिमान हो जाता है और भजन नहीं होता, अपनी गद्दीको शाप दे दिया कि इसपर बैठनेवाले

दरिद्र ही रहेंगे। इनका देहान्त भी साँगानेरमें ही हुआ। इनकी शिष्यपरम्परा अभीतक चली आ रही है।

संतवर स्वामी सुन्दरदास

'सुन्दरविलास' (सवैया) आदि अनेक उत्तम ग्रन्थोंके रचयिता, भगवद्भक्त, ब्रह्मनिष्ठ, महात्मा स्वामी सुन्दरदासजीको हिन्दी संसारमें कौन नहीं जानता? उनका जीवनचरित्र खोज और अन्वेषणके साथ सम्पादित हुआ है, तदनुसार संक्षेपमें यह पाठकोंके विनोद और हितके अर्थ यहाँ दिया जाता है।

सुन्दरदासजीका जन्म जयपुर राज्यकी पुरानी राजधानी द्यौसा नगरीमें बूसर गोतके खण्डेलवाल वैश्यकुलमें मिती चैत्र शुक्ला नवमीको दोपहरके समय सं० १६५३ वि० में हुआ था। उनके पिताका नाम साह 'चोखा' (अपर नाम परमानन्द) था, माताका नाम 'सती' था जो आँबेरके 'सॉकिया' गोतके एक खण्डेलवाल वैश्यकी पुत्री थी।

राघवदासकृत ' भक्तमाल' और माधवदासकृत "संतगुणसागर' तथा दादूसम्प्रदायकी प्रचलित आख्यायिकासे जाना जाता है कि सुन्दरदासजी दादूदयालजीके वरदानसे चोखा साहूकारके घर उत्पन्न हुए थे। दादूजीके शिष्य 'जग्गाजी' भूलसे आँबेरमें उक्त सती बालिकाको पुत्र होनेका वरदान दे आये। तब उन जग्गाजीको शरीर त्यागकर सतीके गर्भसे उत्पन्न होना पड़ा। जग्गाजी बड़े तपस्वी महात्मा और ग्रन्थकार थे।

उन्हींके अवतार सुन्दरदासजी हुए, ऐसा अलौकिक आख्यान दादूसम्प्रदायमें माना गया है। सो कुछ भी असम्भव नहीं है।संवत् १६५८ में जब दादूजी द्यौसा आये तब चोखा साहूकारने बालक सुन्दरको उनके चरणोंमें अर्पण कर दिया, तभी सुन्दरदासजी दादूजीके शिष्य हो गये।

फिर दादूजीके साथ और 'टहलड़ी' पहाड़ीके स्थानधारी दादू-शिष्य 'जगजीवनजी' की सम्हालमें सुन्दरदासजी नरायणे कस्बेमें आये। यहाँ सं० १६६० में दादूजीका तो परमपद हो गया और सुन्दरदासजी जगजीवनजीके साथ, दादूजीका महोच्छा हो जानेके बाद, टहलड़ी लौट आये। कभी-कभी द्यौसामें (जो टहलड़ीके समीप ही है) ये माता-पिताके दर्शन भी कर आते थे।

सुन्दरदासजीने छोटी ही अवस्थामें निजगुरुसे दीक्षा और आध्यात्मिक उपदेश पा लिया था। पूर्वजन्मके संचित ज्ञानके कारण वे बड़े ही चमत्कारी और होनहार बालक थे। वे बाल-ब्रह्मचारी, बालकवि और बालयोगी थे। इनकी प्रखर प्रतिभा, भगवत्प्रेम और उदीयमान मेधा वा उत्तम स्वभावके कारण ये सबके प्रिय हो गये। जगजीवनजीके सत्संगसे इन्होंने दादूवाणी सीख ली और कुछ कविता भी करने लगे।

ग्यारह वर्षकी अवस्थामें जब ये जगजीवनजीके साथ वार्षिक दाद्दद्वरेके मेलेपर नरायणे आये तब दादूशिष्य पाटवी गरीबदासजीकी अशिष्टतासे क्षुभित हो सुन्दरदासजीने तुरंत ही कविता बनाकर गरीबदासका दर्पदमन कर दिया वह कविता दादूसम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध हैक्या दुनिया अस्तूत करेगी, क्या दुनियाके रूसेसे। साहिब सेती रहो सुरखरू, आतम बखशै ऊसेसे॥ क्या किरपन मूंजीकी माया, नाँव न होय नपूँसेसे। कड़ा बचन जिन्होंने भाष्या, बिल्ली मरे न मूसेसे॥ मानूँ. तो मरजाद रहैगी, नहिं मानूँ तो घूसेसे। जन सुंदर अलमस्त दिवाना, शब्द सुनाया घूसेसे॥

फिर सुन्दरदासजी इस घटनाके अनन्तर जगजीवनजी, प्रसिद्ध दादूशिष्य रज्जबजी आदिके साथ काशी (सं० १६६४ में) चले गये। वहाँ संस्कृत-हिन्दी-व्याकरण, कोश आदिक, फिर षट्शास्त्र, पुराण, वेदान्त (विशेषतः) इत्यादि, बीस वर्षतक पढ़ते रहे। यह अस्सीघाटके पास रहते थे, जहाँ अबतक 'दादूमठ'* नामका पक्का स्थान (वा अस्थल) बना हुआ है । स्वामीजीके रचे हुए 'ज्ञानसमुद्र, ' 'सवैया,' ' सर्वांगयोगप्रदीपिका' आदिके पढ़ने और विचारनेसे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि उन्होंने कितने शास्त्र कैसे-कैसे पण्डितोंसे पढ़े होंगे।

वैसे ही भाषासाहित्यमें उनकी गहरी अभिरुचि थी। भाषाकाव्यके समस्त अंग और बहुत-से रीतिग्रन्थ, छन्द, अलंकार, रस और सर्व प्रकारकी काव्यचातुरीमें इन्हें बहुत बढ़कर योग्यता पराप्त हो गयी थी। सांख्य, योग, वेदान्तके बहुत शास्त्र, उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ठ, शांकरभाष्य इन्होंने भलीभाँति मनन किया था। योगसाधन और महात्माओके सत्संग, गोस्वामी तुलसौदासजीके दर्शन और अनेक प्रसिद्ध महात्माओं, योगियों, ज्ञानियों और पण्डितोके सत्संगसे लाभ उठाया था। स्मरणशक्ति और स्फूर्ति (उपजत) इनकी बहुत प्रबल थी।

काशीसे सुन्दरदासजी कभी-कभी प्रयाग, बिहार, दिल्ली आदिको भी थोडे दिनके लिये सत्संग वा विद्याव्यासंगवश चले जाया करते थे । परन्तु सं० १६८२ में कुछ मित्रों और गुरुभाइयोंके साथ ये काशीसे चले आये । आप दादूद्वारा नरायणा, डीडवाणा इत्यादि अनेक स्थानोंमें होकर राज्य जयपुरके शेखावाटी प्रान्तवर्ती "फतहपुर नामक नगरमें मिती कार्तिक बदी १४ सं० १६८२ को आये। यहाँ अपने वयोवृद्ध गुरुभाई डीडवाणेके महात्मा प्रागदासजीके प्रेमसे ही वे टिक गये । सेवकों और भकतोंने इनके लिये मठ (अस्थल) बनवा दिये।

कुआँ भी निर्माण हो गया। फतहपुरमें बारह वर्षतक बड़े त्याग और बैराग्यके साथ सात संत मिलकर योगाभ्यास और कथा, कीर्तन तथा ध्यानादि करते रहे। वहाँ सुन्दरदासजीकी ख्याति बहुत बढ़ गयी। विद्याबल, योगबल, तपोबल, बुद्धिबल, कविताबल आदि शक्ति और सिद्धिप्राप्तिसे "परचे' आप ही हो जाते थे। फतहपुरका नवाब अलफखाँ इनके सत्संगसे बहुत प्रसन्न था, । उसके बेटे दौलतखाँने तो स्वामीजीकी बड़ी भक्ति की और उसको परचे भी मिले और उसकी रक्षा भी हुई।

दौलतखाँका पुत्र ताहरखाँ बड़ा वीर और साहसी था, जिसे बादशाहने नागोर दिया था; यह भी स्वामीजीकी कृपासे प्रभावित था। स्वामीजी अधिकतर फतहपुरमें ही रहा करते थे। बीच-बीचमें रामत, सत्संग और भ्रमणके लिये आप साँगानेर रज्जबजीके पास, नरायणे दादूद्वारेमें, तथा जहाँ-जहाँ दादूजी गये वा बसे थे-यथा साँभर, आँबेर, कल्याणपुर आदि, और दिल्ली, आगरा, लाहौर, बिहार, गुजरात, मारवाड, मेवाड़,६४३ मालवा आदि--उन सब स्थानों अथवा प्रान्तोंमें देशाटनके लिये जाया करते, जिनका कुछ वर्णन उनके रचे ' देशाटनके सवैया' में है। बनारस वे फिर भी गये ।

और 'ज्ञानसमुद्र ' वहीं सं० १७१० में रचा। उस समय ये ५७ वर्षके पूर्ण अनुभवी एवं ज्ञानी थे। काशीमें पण्डितो, विद्यागुरुओं और ग्रन्थोंके सकाश तथा निज अनुभवके बलसे यह अनुपम ग्रन्थ रचा गया, जिसके जोडेका भाषा-भण्डारमें स्यात् ही कोई ग्रन्थ हो तो हो।

सुन्दरदासजी बहुत मिलनसार, मैत्री रखनेवाले, बड़े सज्जन और सुघड़ पण्डित-प्रेमी थे। इनका अपने बीसों गुरुभाइयों और उनके शिष्यॉसे तो प्रेम! था ही, उनके अतिरिक्त आगरेमें 'समयसार नाटक' आदिके रचयिता कविवर बनारसीदासजी जैनसे, पंजाबके सिक्ख कविवर भाई गुरुदासजीसे, 'विचारमाला' के प्रसिद्ध रचयिता अनाथदासजीसे तथा उक्त नवाब

अलफखाँ उपनाम “जान' कवि तथा उसके बेटे वा पोतो, और अनेक सत्पुरुषोंसे स्वामीजीकी मैत्री थी।रे

स्वामी सुन्दरदासजी शान्तरसके और दर्शनविषयक ग्रन्थोंके अप्रतिम रचनाकार हुए हैं । उनके समस्त ग्रन्थ उनके ही सामने उनकी देख-रेखमें, उनकी वृद्धावस्थामें लिखवाये हुए, संवत् १७४२ के (अढाई सौ वर्ष पूर्वके) स्व० महन्त गंगारामजी फतहपुरवालोंसे हमें प्राप्त हुए थे, और हमारे संग्रहमें सुरक्षित हैं। उसीके आधारपर मूल और फिर टीका आदिके साथ बहुकालिक परिश्रमसे उन्हे “सुन्दरग्रन्थावली' के नामसे हमने सम्पादन किया।

इसे “राजस्थान रिसर्च सोसायटी” कलकत्ता“ ने सुन्दरता स्वामीजीने फारसी शब्दमिश्रित पंजाबी, पूरबी तथा गुजराती भाषाओंमें भी कविताएँ की हैं, जो इस ग्रन्थावलीमें हैं । दीखनेमें प्रायः सीधी-सरल रहनेपर भी इसके अनेक स्थल और विषय ऐसे गहन और रहस्यमय हैं कि बिना स्पष्ट टीकाके साधारण बुद्धिमें आशयका प्रवेश नहीं हो सकता। इसपर 'सुन्दरानन्दी' टीका इसीलिये की गयी। परन्तु 'सुंदर जे हैं आपहिं सुंदर, उनको कहा सिंगार।' स्वामीजी तो स्वयं प्रकाश और उजागर हैं, उनकी महिमा किससे कही जा सकती है। यथा नाम अरु रूप, तथा गुन होत -उजागर।

दादूपन्थहीमें नहीं, बल्कि सारे संतसमाजमें और प्रधानतः निर्गुण भक्तिमय ज्ञानवाले पन्थोमें स्वामी सुन्दरदासजी सूर्यसमान हुए हैं। इनकी महिमामें कहा गया है-संक्राचाय दूसरो, दादूके सुंदर भयो। और-दादू दीनदयालके चेले दोय पचास। कोइ उडगण, कोई इन्दु हैं, दिनकर सुंदरदास॥ स्वामीजीका कविताकाल वि० सं० १६६४ से १७४२ वा अन्त समय १७४६ तक समझना चाहिये। वे बाल्यावस्थाहीसे कविता करने लग गये थे और प्रायः अन्तावस्थातक थोड़ी कविता करते रहे।

स्वामीजीके महात्मापन, साधुश्रेष्ठता, काव्योच्चता, ज्ञानगरिष्ठताकी ख्याति उनके जीवनकालमें ही बहुत हो चुकी थी। उनसे बहुतोंने ज्ञान, भक्ति, योग और काव्य सीखा था। उनके ग्रन्थोंकी नकलें उन्हीं दिनों लोग कर ले जाया करते थे। परमपद हो जानेके पीछे तो उनकी और भी अधिक कीर्ति प्रसारित होती चली गयी और हो रही है। और अब उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ उत्तम रीति और रूपसे मुद्रित वा प्रकाशित हो जानेसे उनको साहित्य और संत-संसारमें और भी अधिकतासे लोग जानने-पहचानने लगेंगे।

स्वामी सुन्दरदासजीका परमपदगमन उनके अपने स्थानमें साँगानेरमें मिती कार्तिक शुक्ला अष्टमी बृहस्पतिवारके तीसरे पहर, वि० सं० १७४६ में, कुछ रोगग्रस्त होने और अपने परम मित्र श्रद्धेय स्वामी रज्जबजीके परलोकवासके दुःखद असह्य समाचारोंके चित्तपर प्रहारसे, हुआ था। स्वामीजी तिरानवे वर्षके होकर शरीरत्यागी हुए थे। आपहीने कहा है-सात बरस सौमें घटैं, इतने दिनकी देह। सुंदर न्यारो आतमा,* देह खेहकी खेह॥ शिलालेखमें लिखा है-संबत सतरा सौ छींयाला । कातिग सुदि अष्टमी उजियाला॥ तीजै पहर बृहस्पतिवार । सुंदर मिलिया सुंदर सार॥

साँगानेरके श्मशानमें चबूतरा और छत्री, चरणपादुका और उक्त लेख खुदा हुआ था, जिन्हें किसी दुष्ट पापी साधुने परस्परके द्वेषसे तोड़कर फेंक दिया। परन्तु इससे पूर्व उनका नाप और चित्र ले लिया गया था, इससे नकल सुरक्षित रह गयी। टोडेके पास मोरगाँवमें भी स्थान और चरणपादुका और उक्त लेख पत्थरमें खुदे हुए हैं। उक्त संवत्-मिती ईसवी ता० ११ अक्टूबर सन् १६८६ के अनुसार है। स्वामी सुन्दरदासजीके पाँच प्रधान शिष्य थे। इनमें नारायणदासजीसे फतहपुरका प्रधान थाँभा (स्थान-अस्थलमठ) चला था।

उनके अपने जा रहनेसे वा शिष्योंके निवाससे रियासत जयपुर, जोधपुर, बीकानेर वा अंग्रेजी इलाकोंमें बीस-पचीस स्थान हैं । शेखाजीकी छत्रीके भी महन्त फतहपुरिया सुन्दरदासोत ही हैं। ये चँवर और चोबदार भी रखते हैं। फतहपुरके प्रधान थाँभेके महन्त गंगारामजी बड़े ही योग्य और साक्षर तेजस्वी साधु थे और इस लेखकसे उनका प्रेमस्नेह था। उन्हींको असीम कृपासे 'सुन्दरग्रन्थावली' का उत्तम और शुद्ध सम्पादन हो पाया था। अब उनके प्रधान शिष्योंमें सेवानन्ददासजी और ठण्डीरामजी हैं।

सुन्दरदासजीकी आकृति-प्रकृतिमें “यथानाम तथा गुण' थे। सुढार अंग, दीर्घ काय, गौर वर्ण, तेजस्वी मुख, विशाल सिर और ललाट, गम्भीर मधुर मन्द मुसकान, दयामय प्रीतिपूर्ण दृष्टि, शान्त और ध्यानमग्न इत्यादि गुण-सम्पन्न थे।

स्वामीजीके कई स्मारक चिह्न द्यौसा, साँगानेर, फतहपुर आदिमें हैं। जिनको विस्तृत जीवन-चरित्र जानना हो वे "सुन्दरग्रन्थावली" के आदिमें पढ़ें।

ज्यम्बकराज

भेरव नामक एक कर्मनिष्ठ यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इन्होंने वंशवृद्धिके लिये तुलजापुरकी भवानी देवीका अनुष्ठान किया। भवानी देवी प्रसन्न हुई और नवं रात्रिको प्रकट हुई। देवीने तीन फल भैरवजीके हाथपर रखे और कहा-इन्हें खा लो, इससे तुम्हारे तीन पुत्र होंगे; इन तीनोंमें जो बीचका फल है इससे तुम्हारे जो पुत्र होगा उसके हाथपर त्रिशूलकी रेखाएँ होंगी।

भैरवजीके यथासमय तीन पुत्र हुए--नृसिंह, त्र्यम्बक और कौडिन्य। त्र्यम्बकके हाथपर सचमुच त्रिशूलकी तीन रेखाएँ थीं। भैरवजी इनपर कभी गुस्सा नहीं होते थे, इनकी कोई बात टालते भी नहीं थे। इन्हें उन्होंने खड़ी-पाटी भी नहीं दी, फिर विद्या कहाँ? इनका उपनयन तो हुआ, पर विवाह करानेके फेरमें इनके पिता नहीं पडे ।

इन्होने त्र्यम्बकके हाथका त्रिशूल इनकी माँ अम्बावतीको दिखाकर कहा कि यह कोई महायोगी है। ज्यम्बकराज जब कुछ बड़े हुए तब स्वयं इन्होंने अपनी इच्छासे ही कुछ अध्ययन किया। कुछ काल पीछे इनके पिताकी मृत्यु हो गयी। त्र्यम्बकराजने अपने बड़े भाई नृसिंहसे उपदेश ग्रहण किया। कमलाकर नामक किसी सत्पुरुषने भी इन्हें प्रबोध कराया। बहुतोंका संग किया, पर कहीं इनका चित्त नहीं ठहरा। तब इन्होंने भगवती चण्डीकी उपासना की । सोलहवीं रातको एक पंचवर्षीया कुमारी प्रकट हुई। उसने कहा-सप्तशृंगीपर जाओ, वहाँ महामाया रहती हैं और इसलिये श्रीसिद्धेश भी वहीं विराजते हैं। त्रयम्बक सप्तश्रृंगीपर गये और ध्यान लगाकर बैठ गये।

तीसरी रातमें अम्बा प्रसन्न हुईं। त्यम्बकराजने उनसे ब्रह्मज्ञान माँगा। करुणामयी भवानीने अपना कर कपोलमें स्पर्श किया, और एक चमत्कार हुआ । द्विजवेषमें श्रीसिद्धेश्वर भी प्रकट हुए। उन्होंने त्यम्बकराजको पाँच वचन बताये, उन्हींमें सारा ब्रह्मज्ञान बता दिया; पीछे एक अद्भुत प्रकाश दिखाया जिसके सम्बन्धमें त्र्यम्बकराज अपने ग्रन्थमें कहते हैं कि 'वह प्रकाश अभीतक मेरी दृष्टिके सामने सारी सृष्टिमें है, उससे मेरे मनसहित सारी इन्दरियाँ सदाके लिये निर्मल सुखपात्र बन गयीं मैंने अनुष्ठान किया भवानीका, पर भवानीके साथ करुणालय शूलपाणि भी प्रसन्न हुए।

मेरे लिये जगत् और मैं सब ब्रह्मानन्दसे भर गया। इसी ब्रह्यानन्दका जगत्को बोध करानेके लिये जगदम्बाने मुझे आज्ञा दी।' ग्रन्थ लिखा। इसमें

मुख्यतः 3» की उपासना बतायी गयी है और उसके साथ योगमार्ग भी दर्शाया गया है। ग्रन्थ संवत् १६२९ में लिखना आरम्भ हुआ और संवत् १६३७ में समाप्त हुआ। इस ग्रन्थमें ' सिद्धेशमतसम्प्रदाय' नामका एक सम्प्रदाय ही चल निकला।

गोस्वामी मिले। कुछ काल पीछे उनके बालमित्र कृष्णाजी पन्त भी आ मिले। ये तीनों गोदावरीतीरपर कई वर्षोतक विहार करते रहे। इसी समय श्रीरमावल्लभदासने "दशकनिर्धार' नामसे एक ग्रन्थ लिखकर श्रीकृष्णलीला वर्णन की । इसके पश्चात् रमावल्लभदास वाईक्षेत्रमें गये। वहाँ नृसिंह अप्पा, गोविन्द वांकडा, राघवदास, उमावल्लभदास आदि कई भक्त मिले। इस भव्तमण्डलीमें रहते हुए रमावल्लभदासजीने श्रीशंकराचार्यकी ' वाक्यवृत्ति' पर एक मराठी टीका लिखी।

इसके पश्चात् श्रीरमावल्लभदास अपने शिष्यों, मित्रों और घरवालों (धर्मपत्नी और चार पुत्रो)-के साथ दक्षिण कर्णाटक गये। महाशिवरात्रिके अवसरपर ये गोकर्ण नामक अति प्राचीन शिवक्षेत्रमें थे। जब ये समुद्रमें प्रातःस्नान कर रहे थे उसी समय लक्ष्मीबाई नामकी एक युवती कुलीन स्त्री भी वहाँ स्नान कर रही थी। उसके एक कानका सोनेका फूल टपसे हाथपर गिरके जलमें गिरा और नीचेकी बालूमें मिलकर न जाने कहाँ चला गया! वह बेचारी रोने लगी।

रमावल्लभदासजीने उससे पूछा, क्यों रो रही है? उसने कहा कि 'कानका फूल चला गया! फूलकी कोई बात नहीं, ऐसे फूल और भी बन सकते हैं; पर ऐसे महापर्वके अवसरपर मेरे सौभाग्यका अलंकार गिर जाय, इसी अशुभपर मैं रो रही हूँ।' रमावल्लभदासजीने कहा-' रोती क्यों हो? तुम्हारा अलंकार तो तुम्हारे ही पास है!' उसने कहा, "मेरे पास कहाँ?' वह तो जलमें गिरकर चला गया!" रमावल्लभदासजीने कहा-नहीं बेटी, वह तेरे कानमें है; जरा देख तो सही ।

लक्ष्मीबाईने कानमें हाथ लगाया तो सचमुच ही कर्णफूल मौजूद था उसके आश्चर्यका कोई पारावार न रहा! उसने जाना कि यह इन्हीं महात्माकी करामात है, उसने इन्हें दण्डवत् किया और घरके लोगोंको इनके दर्शन करानेके लिये आग्रहपूर्वक इन्हें कारवार जिलेमें कुमठा बन्दरसे चार मील दूर मल्लापुर गाँवमें अपने घर ले गयी। कुछ दिन वहीं इनका निवास हुआ। लक्ष्मीबाई और उनके पति नारायण अप्पाने इनसे द्वादशाक्षर मन्त्र और श्रीकृष्णोपासनाकी दीक्षा ली।

इसके बाद जो जन्माष्टमी आयी उसका उत्सव स्वयं रमावल्लभदासजीने इनसे कराया। उसका पन्द्रह दिनका कार्यक्रम था तबसे यह उत्सव वहाँ उसी प्रकारसे आजतक होता चला आता है। रमावल्लभदासजीके कई मठ कर्णाटक प्रान्तमें हैं और वहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा अभीतक प्रचलित है । ' श्रीकृष्ण-जयन्तीब्रतोत्सव-भजन' नामक पुस्तकमें श्रीरमावल्लभदासद्वारा निर्धारित श्रीकृष्णजन्मोत्सवपद्धति दी हुई है, उसमें उनके अनेक भजन भी हैं।

इस जन्मत्रतोत्सव और 'वाक्यवृत्ति' की प्राकृतटीका और 'दशक-निर्धार' नामक श्रीकृष्ण-जन्माध्यायके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और हैं-एक श्रीमद्भगवद्गीताकी "चमत्कारी टीका' और दूसरा गुरुवली । गीताकी यह “चमत्कारी टीका' संवत् १६८५ में लिखी गयी। यह टीका बड़ी सरस, सुसंगत और सुबोध है और इसमें पहले ९ वें अध्यायसे १८ वें अध्यायतक और फिर पहले अध्यायसे आठवें अध्यायतककी टीका है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक अध्यायमें जितने विषय आये हैं, उतने वर्ग इन्होने प्रत्येक अध्यायमें कायम किये हैं। उदाहरणार्थ, नवें अध्यायमें १३ वर्ग हैं।

समर्थ गुरु रामदास स्वामी

भगवान् श्रीसूर्यनारायणके वरदानसे सूर्याजी पन्तकी धर्मपत्नी रेणकाबाईके गर्भसे सं १६६२ मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को प्रथम पुत्रका जन्म हुआ, जिसका नाम गंगाधर रखा गया, जिसने अपनी वयसके ९ वें वर्षमें ही श्रीहनुमानूजीके मन्दिरमें ग्यारह दिनतक मारुतिकवचका पाठ करके श्रीहनुमानूजीको प्रसन्न कर लिया और जिसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी दर्शन देकर अनुगृहीत किया। ये ही गंगाधरजी आगे चलकर ' श्रेष्ठ या 'रामीरामदास' के नामसे प्रसिद्ध हुए। इनके जन्मके तीन वर्ष बाद संवत् १६६५ की चैत्र शुक्ला नवमीके दिन, ठीक श्रीरामजन्मके समय, रेणकाबाईने उस महापुरुषको जन्म दिया जिसे संसार समर्थ गुरु रामदास स्वामीके नामसे जानता है।

इनका नाम पिताने नारायण रखा। नारायण जब पाँच वर्षके थे, तब उनका उपनयनसंस्कार हुआ। बचपनमें ये बड़े ऊधमी थे; पेड़ोंपर चढ़ना, एक डारसे दूसरी डारपर या एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदना, पहाड़ोंपर तेजीसे चढ़ना-उतरना, उछलना-कूदना-फाँदना ये ही सब इनके खेल थे। लिखना पढ़ना और हिसाब लगाना तथा नित्यका ब्रह्मकर्म भी इन्होंने बहुत जल्द सीख लिया। सूर्यदेवको ये नित्य दो हजार नमस्कार किया करते थे।

आठ वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने भी श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न किया और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन पाये। श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं इन्हें दीक्षा दी और इनका नाम रामदास रखा। जब ये बारह वर्षके हुए तब इनके विवाहकी तैयारी हुई। विवाहमण्डपमें वर-वधूके बीच अन्तःपट डालकर ब्राह्मणलोग मंगलाचरणके श्लोक बोलने लगे। पहले मंगलाचरणके पीछे सब लोग जब 'शुभलग्न सावधान' बोले तब रामदासजी सचमुच ही सावधान होकर वहाँसे ऐसे भागे कि बारह वर्षतक फिर घरके लोगोंको पता ही न लगा कि वे कहाँ गये। वहाँसे तीन कोसपर गोदावरी नदी है, उसे तैरकर रामदासजीने पार किया और किनारे-किनारे पैदल चलकर वे नासिक-पंचवटी पहुँचे ।

पंचवटीमें इन्हें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके फिर दर्शन हुए। उस अवसरपर रामदासजीने एक 'करुणादशक' द्वारा बड़ी करुणापूर्ण वाणीमें प्रभुकी विनय की। तत्पश्चात् नासिकके समीप टाफली ग्राममें जाकर, जहाँ गोदा और नन्दिनीका संगम हुआ है, एक गुफामें रामदासजी रहने लगे। वहाँ इन्होंने त्रयोदशाक्षर राममन्त्रका पुरश्चरण आरम्भ किया। दैनिक नियमोंका पालन करनेके पश्चात् दिन या रातको जब जो समय मिलता, उसमें ये रामायण, वेद-वेदान्त, उपनिषद्‌गीता, भागवत आदि ग्रन्थ देखा करते थे।

इस प्रकार वहाँ तप करते हुए इन्हें तीन वर्ष हो गये। एक दिन रामदासजी संगमपर ब्रह्मयज्ञ कर रहे थे और उधरसे एक विधवा स्त्रीने आकर इन्हें प्रणाम किया । इसपर ' अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव' ऐसा आशीर्वाद श्रीरामदासजीके मुँहसे निकला, जिसे सुनकर स्त्रीने पूछा “इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें ?' बात यह थी कि उस स्त्रीके पतिकी मृत्यु हो गयी थी और वह उसके साथ सती होने जा रही थी। सती होने जानेके पूर्व सत्पुरुषोंको प्रणाम करनेकी जो विधि है, उसके अनुसार वह इन्हें तपस्वी महात्मा जानकर प्रणाम करने आयी थी। रामदासजीने कहा--' अच्छा, प्रेतको यहाँ ले आओ।' प्रेतके सामने आते ही रामदासजीने श्रीरामनाम लेकर उसपर तीर्थोदक छिड़का।

तुरंत वह मृत शरीर ' राम राम' उच्चारण करता हुआ जीवित हो उठा। इस प्रकार जो पुनर्जीवित हुए, उनका नाम गिरिधर पन्त था और उनको वह सती स्त्री अन्नपूर्णाबाई थी। अनपूर्णासे फिर रामदासजीने कहा--' मैंने तुझे पहले आठ पुत्रोंका आशीर्वाद दिया था, अब श्रीरामकृपासे दो का और देता हूँ।' इस आशीर्वादके अनुसार उस ब्राह्मणदम्पतीको दस पुत्र हुए और उन्होंने प्रथम पुत्र श्रीरामदासजीके चरणोंमें अर्पण किया। वही समर्पित पुत्र उद्धव गोसावीके नामसे प्रख्यात हुआ। अस्तु, उस स्थानपर सं० १६८९ में जब पुरश्चरण समाप्त हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने समर्थ गुरु रामदासजीको दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि 'अब तुम सब तीर्थोंकी यात्रा करके कृष्णा नदीके तटपर रहो।'

तदनुसार श्रीसमर्थ रामदासजी तीर्थयात्राको चले। सबसे पहले श्रीसमर्थ काशी गये। वहाँसे अयोध्या जाकर श्रीराममन्दिरमें अपने परमाराध्यके दर्शन किये। तत्पश्चात् गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका होकर श्रीनगर, बदरीनारायण और केदारेश्वर गये। वहाँसे पर्वतशिखरपर ध्यान लगाये बैठे हुए श्रीशवेतमारुतिके दर्शन करने गये, जहाँ चार महीने ठहरे और श्रीश्वेतमारुतिने इन्हें प्रसाद-स्वरूप टोप, मेखला, वल्कल, भगवें वस्त्र, जपमाला, पादुका और कुबडी दी । यहाँसे उत्तर मानसकी यात्रा करके जगन्नाथपुरी और पूर्वी समुद्रके किनारेसे होकर दक्षिण समुद्रके तटपर श्रीरामेश्वर सेतुबन्धन तथा लंकाके दर्शन कर गोकर्ण, महाबलेश्वर, शेषाचल, शैलमल्लिकार्जुन, पंचमहालिंग, किष्किन्धा, पम्पा सरोवर, ऋष्यमूक पर्वत, करवीरक्षेत्र, परशुरामक्षेत्र, पण्ढरपुर, भीमाशंकर और त्र्यम्बकेश्वर होते हुए श्रीसमर्थ रामदास पंचवटी लौटे।

इस प्रकार जब तीर्थयात्रा समाप्त हो गयी, तब समर्थ गोदावरीकी परिक्रमा करने निकले । रास्तेमें एक दिन इन्होंने पैठणमें कीर्तन किया और एक अद्भुत चमत्कार दिखलाया, जिससे वहाँके लोगोंने इन्हें पहचान लिया और कहा कि ' आप तो निश्चिन्त होकर तीर्थोंमे घूम रहे हैं, परन्तु घरमें आपकी माता आपके लिये तड़प रही हैं। आपके विरहमें रो-रोकर उन्होंने नेत्रोंकी ज्योति खो दी है।' यह सुनकर रामदासजी महाराज तुरंत ही माताके दर्शनार्थ जाम्बगाँव गये ।

द्वारपरसे आवाज दी “जय जय रघुवीर समर्थ!' श्रेष्ठजीकी धर्मपत्नी यह सुनकर भिक्षा लेकर आयीं, पर समर्थने कहा--' यह भिक्षा माँगनेवाला कोई वैरागी नहीं है ।' तबतक मारती” आवाज सुनी और पूछा--'कौन मेरा बेटा नारायण समर्थने कहा--'हाँ, माताजी, मैं ही हूँ।' और यह कहकर उन्होंने माताके समीप पहुँचकर उनके चरणोंमें मस्तक रख दिया। चौबीस

वर्षके दीर्घकालके बाद माता और पुत्रका मिलन हुआ था। समर्थने माताके नेत्रोंपप अपना हाथ फेरा, जिससे खोयी हुई नेत्रज्योति माताको फिर प्राप्त हो गयी।

इसके बाद समर्थने माताको 'कपिलगीता सुनायी और उनसे आज्ञा लेकर गोदावरीकी परिक्रमाका रास्ता लिया। सप्तगोदावरीसंगमकी सव्य परिक्रमा करके, सीधे त्र्यम्बकेश्वर और त्र्यम्बकेश्वरसे पंचवटी पहुँचकर श्रौरामचन्द्रजीका दर्शन करनेके पश्चात् समर्थ टाफलीमें आये, जहाँ वे उद्धवसे मिले। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि तीर्थयात्राके प्रसंगसे श्रीसमर्थ जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ इन्होंने अपने मठ स्थापित किये और प्रत्येक मठमें एक-एक अधिकारी शिष्यकी नियुक्ति की।

इस तरह बारह वर्ष तपस्या और बारह वर्ष तीर्थयात्रा करके श्रीसमर्थ सं० १७०१ के वैशाख मासमें श्रीरामचन्द्रजीके आज्ञानुसार कृष्णानदीके तटपर आये। वहाँ माहुली क्षेत्रमें श्रीसमर्थ जब रहने लगे तब बड़ेबड़े संतलोग इनसे मिलनेके लिये आने लगे। बड़गाँवके जयराम स्वामी, निगडीके रंगनाथ स्वामी, ब्रह्मनालके आनन्दमूर्ति स्वामी, भागानगरके केशव स्वामी और स्वयं श्रीसमर्थ, ये पाँचों मिलकर दास-पंचायतन कहाते थे। यहीं श्रीतुकारामजी महाराज और चिंचवडके देव श्रीसमर्थसे मिलने आये। कुछ काल बाद श्रीसमर्थ माहुलीसे कृष्णा और कोपनाके ' प्रीतिसंगम' पर कन्हाड स्थानमें आये और वहाँसे पाँच मीलपर शाहपुरके समीप पर्वतकौ एक गुफामें रहने लगे।

शाहपुरमें श्रीसमर्थने “प्रतापमारुतिमन्दिर' की की और तत्पश्चात् बहाँसे चलकर चाफल खोरेमें आये, जहाँके सूबेदारने इनसे दीक्षा ली। वहाँसे घूमते-घूमते श्रीसमर्थ कन्हाड पहुँचे और फिर वहाँसे मिरज होते हुए कोल्हापुर गये। कोल्हापुरके सूबेदार पाराजी पन्त बर्वेने इनसे दीक्षा ली और उनकी बहिन रखुमाबाईने भी अपने अम्बाजी और दत्तात्रेय नामक दो पुत्रोंके साथ अपनेको श्रीसमर्थ-चरणोंमें समर्पित कर दिया।

सं० १७०२ से श्रीसमर्थ रामनवमीका उत्सव करने लगे। सबसे पहला उत्सव मसूरमें बड़े धूमधामके साथ सम्पन्न हुआ। उसके बाद प्रतिवर्ष अन्यान्य स्थानोंमें

क्रमशः श्रीसमर्थ-सम्प्रदायानुसार नव चैतन्यके साथ श्रीरामजयन्त्युत्सव मनाया जाने लगा। उन्हीं दिनों महाराष्ट्रमे श्रीशिवाजी महाराज हिन्दूधर्मराज्यकी संस्थापना करनेके उद्योगमें लगे हुए थे। श्रीसमर्थ

रामदास स्वामीकी सत्कीर्ति सुनकर श्रीशिवाजीका मन उनकी ओर दौड़ गया और उन्होंने इनको गुरुरूपमें वरण कर लिया। सं० १७०६ में चाफलके समीप शिंगणवाडीमें श्रीसमर्थने उन्हें शिष्यरूपमें ग्रहण किया और श्रीरामचन्द्रके त्रयोदशाक्षर मन्त्रका उपदेश दिया।

संवत् १७०७ में श्रीसमर्थ परलीमें आकर रहने लगे, वह तभीसे सज्जनगढ़ कहलाने लगा और जहाँ अन्य अनेक साधु-संतोंके अतिरिक्त सुभीतेका स्थान होनेके कारण श्रीशिवाजी महाराज बार-बार इनके दर्शनार्थ आने लगे। सं० १७१२ में जब शिवाजी महाराज सातारेमें थे तब श्रीसमर्थ करंज गाँवसे चलकर भिक्षा माँगते हुए राजद्वारपर पहुँचे। महाराजने इन्हें साष्टांग प्रणाम करके एक पत्र लिखकर इनकी झोलीमें डाल दिया, जिसमें यह लिखा था कि ' आजतक मैंने जो कुछ अर्जित किया है, वह सब स्वामीके चरणोंमें समर्पित है।'

दूसरे दिन श्रीशिवाजी महाराज स्वामीके साथ झोली लटकाकर भिक्षा भी माँगने लगे, परन्तु जब श्रीसमर्थने उन्हें समझाया कि ' राज्य करना ही तुम्हारा धर्म है' तब श्रीशिवाजी महाराजने अपने हाथमें फिर शासनसूत्र ले लिया और स्वामीके मन्त्रणानुसार राजकार्य सम्हालने लगे।

श्रीसमर्थ जब तंजावर गये थे, तब वहाँके एक अन्धे कारीगरको आँखें देकर इन्होंने श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान्की चार मूर्तियाँ बनानेका काम सौंपा था। वे मूर्तियाँ सं० १७३८ फाल्गुन कृ० ५ को सज्जनगढ़ पहुँचीं। उन्हें देखकर श्रीसमर्थको परम सन्तोष हुआ। इन्होंने उसी दिन चार मूर्तियोंकी विधिपूर्वक स्थापना की। उनकी पूजा-अर्चा होने लगी। फिर माघ कृ० ९ के दिन सबसे कह-सुनकर श्रीसमर्थने महाप्रयाणकी तैयारी की। श्रीराममूर्तिके सामने आसन लगाकर बैठ गये।

उनके प्रयाणकालीन उद्गारोंको सुनकर आक्काउद्धवादि शिष्य घबराये। इसपर श्रीसमर्थने कहा कि * आजतक जो अध्यात्म श्रवण करते रहे, क्या उसका यही फल है ?' शिष्योंने कहा--' स्वामी ! आप सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटके वासी हैं; पर आपके प्रत्यक्ष और सम्भाषणका लाभ अब नहीं मिलेगा।' यह सुनकर श्रीसमर्थने शिष्योंके मस्तकपर हाथ रखकर कहा ' आत्माराम, ' “दासबोध' इन दो ग्रन्थोंका सेवन करनेवाले भक्त कभी दुःखी न होंगे।

तत्पश्चात् इक्कीस बार ' हर-हर' शब्दका उच्चारण करके श्रीसमर्थने ज्यों ही श्रीरामनाम लिया त्यों ही उनके मुखसे एक ज्योति निकलकर श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्तिमें समा गयी!

श्रीसमर्थके प्रसिद्ध ग्रन्थोंक नाम ये हैं--दासबोध, मनोबोध, करुणाष्टक, पुराना दासबोध, आत्माराम, रामायण, ओवी चौदह शतक, स्फुट ओवियाँ, षड्पु, पंचीकरण योग, चतुर्थ मान, मानपंचक, पंचमान, स्फुट।

रण ला प्रकरण और स्फुट श्लोक । श्रीसमर्थद्वारा स्थापित जो सुप्रसिद्ध ग्यारह मारुति हैं, उनके स्थान ये हैं-शाहपुर, मसूर, चाफलमें दो स्थान, डंब्रज, शिरसप्त, मन पाडलें, वारगाँव, माजगाँव शिंगणवाडी और बाहें। ॥ श्रीसमर्थके मठस्थानोंके नाम ये हैं--जांब, चाफल सज्जनगढ़, टाफली, तंजावर, डोमगाँव, मन पाडले, मिरज, राशिबड़े, पण्ढरपुर, प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, बद्रीकेदार, रामेश्वर, गंगासागर आदि।

श्रीतुकाराम चैतन्य

श्रीतुकारामजीका जन्म दक्षिणके देहू नामक ग्राममें, भगवद्भक्तोंके एक पवित्र कुलमें, संवत् १६६५ में हुआ था। इनके माता-पिताका नाम कनकाबाई और बोलोजी था। तेरह वर्षकी अवस्थामें इनका विवाह हो गया। वधूका नाम रखुमाई रखा गया। पर विवाहके बाद मालूम हुआ कि बहूको दमेकी बीमारी है। इसलिये माता-पिताने तुरन्त ही इनका दूसरा विवाह कर दिया। दूसरी बहूका नाम पड़ा जिजाई।

श्रीतुकारामजीके दो और भाई थे, बड़ेका नाम था सावजी और छोटेका नाम था कान्हजी। बोलोजी जब वृद्ध हुए तब उन्होंने अपनी घर-गृहस्थी और अपना काम-काज अपने बड़े पुत्रको सौंपना चाहा; पर वे विरक्त थे, अत: तुकारामजीके ऊपर ही सारा भार आ पड़ा। उस समय इनकी अवस्था १७ वर्षकी थी। ये बड़ी दक्षताके साथ काम सम्हालने लगे। चार वर्षतक सिलसिला ठीक चला।

इसके बाद तुकारामजीपर संकट-पर-संकट आने लगे। सबसे पहले माता-पिताने साथ छोड़ा, जिससे ये अनाथ हो गये। उसके बाद बड़े भाई सावजीकी स्त्रीका देहान्त हो गया, जिसके कारण मानो सावजीका सारा प्रपंचपाश कट गया और वे पूर्ण विरक्त होकर तीर्थयात्रा करने चले गये तथा उधर ही अपना जीवन बिता दिया।

बड़े भाईका छत्र सिरपर न होनेसे तुकारामजीके कष्ट और भी बढ़ गये। घर-गृहस्थीके कामोंसे अब इनका भी मन उचटने लगा। इनकी इस उदासीनवृत्तिसे लाभ उठाकर इनके जो कर्जदार थे, वे नादेहन्द हो गये और जो पावनेदार थे, वे तकाजा करने लगे। पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी। परिवार बड़ा था-दो स्त्रियाँ थीं, एक बच्चा था, छोटा भाई था और बहने थीं।

इतने प्राणियोंको कमाकर खिलानेवाले अकेले तुकाराम थे, जिनका मन-पंछी इस प्रपंच-पिंजरसे उड़कर भागना चाहता था। इनकी जो दूकान थी, उससे लाभके बदले नुकसान ही होने लगा और ये और भी दूसरोंके कर्जदार बन गये। दीवाला निकलने की नौबत आ गयी। एक बार आत्मीयोंने सहायता देकर इनकी बात रखी। दोएक बार ससुरने भी इनकी सहायता की; परन्तु इनके उखड़े पैर फिर नहीं जमे! पारिवारिक सौख्य भी इहं नहींके बराबर था-पहली स्त्री तो इनकी बड़ी सौम्य थी, पर दूसरी रात-दिन किच-किच लगाये रहती थी। घरमें यह दशा और बाहर पावनेदारोंका तकाजा! आखिर दीवाला निकल ही गया। तुकारामकी सारी साख धूलमें मिल गयी।

इनका दिल टूट गया। फिर भी एक बार हिम्मत करके मिर्चा खरीदकर उसे बेंचनेके लिये ये कोंकड गये। परन्तु वहाँ भी लोगोंने इन्हें खूब ठगा। जो कुछ दाम वसूल हुए थे, उन्हें भी एक धूर्तने पीतलके कडेको, जिसपर सोनेका मुलम्मामात्र चढ़ा था, सोना बतलाकर, उसके बदलेमें ले लिया और चम्पत हो गया। उसके बाद एक बार जिजाईने नामसे रुकका लिखकर इन्हें दो सौ रुपया दिला, जिसका इन्होंने नमक खरीदा और ढाई सौ रुपये परन्तु ज्यों ही उसे लेकर चले कि रास्तेमें एक मिला।

उसे देखकर इन्हें दया आ गयी और संब क उसे देकर निश्चिन्त हो गये। उन्हीं दिनों पूना प्रान्त में भयंकर अकाल पड़ा। अन्न-पानीके बिना सहस्रों मनुष्योंने तड़प-तड़पकर प्राण त्याग दिये। इसके बाद तुकारामजीकी ज्येष्ठ पत्नी मर गयी। और स्त्रीके पीछे इनका बेटा भी चल बसा। दुःख और शोककी हद हो गयी। दुःखके इस प्रचण्ड दावानलसे तुकाराम वैराग्यकंचन

होकर ही निकल सके। अब इन्होंने योगक्षेमका सारा भार भगवानूपर रखकर भगवद्भजन करनेका निश्चय कर लिया।

घरमें जो कुछ रुक्के रखे हुए थे, उनमेंसे आधे तो इन्होंने अपने छोटे भाईको दे दिये और कहा-देखो, बहुतोंके यहाँ रकम पड़ी हुई है। इन रुक्कॉसे तुम चाहे वसूल करो या जो कुछ। तुम्हारी जीविका तुम्हारे हाथमें है।' इसके बाद तुकारामजी बाकी आधे रुक्कोंको अपने वैराग्यमें बाधक समझा और उन्हें इन्द्रायणीके दहमें फेंक दिया। कि अब इन्हें किसीकी चिन्ता नहीं रही; ये भगवद्भजनमें, कीर्तनमें या कहीं एकान्त ध्यानमें ही प्रायः रहने लगे ।

प्रातर्विधिसे निवृत्त होकर ये विट्ठल भगवानूके मन्दिरमें जाते और वहाँ पूजा-पाठ तथा सेवा करते, वहाँसे फिर इन्द्रायणीके उस पार कभी भामनाथ पर्वतपर और कभी गोण्डा या भाण्डारा पर्वतपर चढ़कर वहीं एकान्तस्थलमें ज्ञानेश्वरी या एकनाथी भागवतका पारायण करते और फिर दिनभर नामस्मरण करते रहते। सन्ध्या होनेपर गाँवमें लौटकर हरिकीर्तन सुनते, जिसमें लगभग आधीरात बीत जाती।

इसी समय इनके घरका ही, श्रीविश्वम्भर बाबाका बनवाया हुआ श्रीविट्ठलमन्दिर बहुत जीर्ण-शीर्ण हो गया था। उसकी इन्होंने अपने हाथोंसे मरम्मत की। इस प्रकारकी कठिन साधनाओंके फलस्वरूप श्रीतुकारामजीकी चित्तवृत्ति अखण्ड नामस्मरणमें लीन होने लगी। भगवत्कृपासे कीर्तन करते समय इनके मुखसे अभंग वाणी निकलने लगी।

बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मण और साधु-संत इनकी प्रकाण्ड ज्ञानमयी कविताओंको इनके मुखसे स्फुरित होते देखकर इनके चरणोंमें नत होने लगे। किन्तु पूनेसे नौ मील दूर बाघोली नामक स्थानमें जो एक वेद-वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित तथा कर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते थे, उनको श्रीतुकारामजीकी यह बात ठीक न जँची। तुकाराम-जैसे शूद्र जातिवालेके मुखसे श्रुत्यर्थबोधक मराठी अभंग निकले और आब्राह्मण सब वर्णोंके लोग उसे संत जानकर मानें तथा पूजें, यह उन्हें जरा भी पसंद नहीं आया। उन्होंने देहके हाकिमसे तुकारामजीको देहू छोड़कर कहीं चले जानेकी आज्ञा दिलायी। इसपर तुकारामजी पं० रामेश्वर भट्टके पास गये और उनसे बोले-'मेरे मुखसे जो ये अभंग निकलते हैं, सो भगवान् पाण्डुरंगकी आज्ञासे ही निकलते हैं।

आप ब्राह्मण हैं, ईश्वर हैं, आपकी आज्ञा है तो मैं अभंग बनाना छोड़ दूँगा; पर जो अभंग बन चुके हैं और लिखे रखे हैं, उनका क्या करूँ?' भट्टजीने कहा--'उन्हें नदीमें डुबा दो।' ब्राह्मणकी आज्ञा शिरोधार्य कर तुकारामजीने

देहू लौटकर ऐसा ही किया। अभंगकी सारी बहियाँ इन्द्रायणीकी दहमें डुबा दी गयीं। पर विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा तुकारामजीके भगवत्प्रेमोद्गार निषिद्ध माने जायं, इससे तुकारामजीके हृदयमें बड़ी चोट लगी। उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया और विट्ठलमन्दिरके सामने एक शिलापर धरना देकर बैठ गये कि या तो भगवान् ही मिलेंगे या इस जीवनका ही अन्त होगा।

इस प्रकार हठीले भक्त तुकाराम श्रीपाण्डुरंगके साक्षात् दर्शनकी लालसा लगाये, उस शिलापर बिना कुछ खाये-पिये तेरह दिन और तेरह रात पड़े रहे। अन्तमें भक्तपराधीन भगवानका आसन हिला तुकारामजीके हृदयमें तो वे थे ही, अब वे बालवेश धारण करके तुकारामजीके समक्ष प्रकट हो गये। तुकारामजी उनके चरणोंमें गिर पडे । भगवानूने उन्हें दोनों हाथोंसे उठाकर छातीसे लगा लिया। तत्पश्चात् भगवानूने तुकारामजीको बतला दिया कि मैंने तुम्हारे अभंगोंकी बहियोंको इन्द्रायणीके दहमें सुरक्षित रखा था, आज उन्हें तुम्हारे भक्तोंको दे आया हूँ। और यह कहकर भगवान् फिर तुकारामजीके हृदयमें अन्तर्धान हो गये।

इस सगुण साक्षात्कारके पश्चात् तुकारामजी महाराजका शरीर पन्द्रह वर्षतक इस भूतलपर रहा और जबतक रहा तबतक इनके मुखसे सतत अमृतवाग्धाराकी वर्षा होती रही। इनके स्वानुभवसिद्ध उपदेशोंको सुनसुनकर लोग कृतार्थ हो जाते थे। सब प्रकारके लोग इनके पास आते थे और सभीको ये अधिकारानुसार उपदेश देते तथा साधन बतलाते थे। जिस समय इनद्रायणीमें अभंगोंकी बहियाँ डुबा दी गयीं, उसके कई दिन बाद वे ही पण्डित रामेश्वर भट्ट पूनेमें श्रीनागनाथजीका दर्शन करने जा रहे थे। रास्तेमें वे अनगढ़शाह और औलियाकी बावलीमें नहानेके लिये उतरे। नहाकर जो ऊपर आये तो एकाएक उनके सारे शरीरमें भयावह जलन पैदा हो गयी। वे रोने-पीटने और चिल्लाने लगे।

शिष्योंने बहुत दवा-आदि की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें जब ज्ञानेश्वर महाराजने स्वप्नमें उन्हें तुकारामजीकी शरणमें जानेके लिये कहा तब वे दौड़कर श्रीतुकारामजीकी शरण गये। इस प्रकार रामेश्वर भट्ट-जैसे प्रकाण्ड पण्डित, कर्मनिष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण भी तुकारामजीको भगवान् मानकर उनका शिष्य होनेमें अपना कल्याण और गौरव मानने लगे। फिर भी श्रीतुकारामजी पण्डित रामेश्वर भट्टको देवता जानकर प्रणाम करते थे और उन्हें प्रणाम करनेसे रोकते थे।

श्रीतुकारामजी महाराजके सिद्ध उपदेशके अधिकारी बहुत लोग थे। छत्रपति शिवाजी महाराज श्रीतुकारामजीको अपना गुरु बनाना चाहते थे; पर उनके

नियत गुरु समर्थ गुरु रामदास स्वामी हैं, यह अन्तर्दृष्टसे जानकर तुकारामजीने उन्हें उन्हींकी शरणमें जानेका उपदेश दिया। फिर भी शिवाजी महाराज इनकी हरिकथाएँ बराबर सुना करते थे।श्रीतुकाराम महाराजके जीवनमें लोगोंने अनेकों चमत्कार भी देखे ।

स्थानाभावके कारण उनके चमत्कारोंका उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता। सं० १७०६ चैत्र कूळ २ के दिन प्रातःकाल श्रीतुकारामजी महाराज इस लोकसे चले गये। उनका मृत-शरीर किसीने नहीं देखा, व्ह मृत हुआ भी नहीं। भगवान् स्वयं उन्हें सदेह विमानमें बैठाकर अपने वैकुण्ठधाममें ले गये। इस प्रकार वैकुण्ठधाम सिधारनेके बाद भी श्रीतुकारामजी महाराज कई बार भगवद्भक्तोंके सामने प्रकट हुए। देहू और लोहगाँवमें तुकारामजी महाराजके अनेक स्मारक हैं; परन्तु ये स्मारक तो जड़ हैं, उनका जीता-जागता और सबसे बड़ा स्मारक अभंग-समुदाय है।

उनकी यह अभंग-वाणी जगत्की अमूल्य और अमर आध्यात्मिक सम्पत्ति है। यह श्रीतुकारामजी महाराजकी वांगमयी मूर्ति है।*

श्रीवामन पण्डित

श्रीवामन पण्डित समर्थ श्रीरामदास स्वामीके समकालीन थे। ये ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, इनका उपनाम शेष था। इनका जन्म बीजापुरमें हुआ और विद्याध्ययन काशीमें। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। बहुत शीघ्र ही ये अनेक शास्त्रोंमें पारंगत हो गये। ' कर्मतत्त्व ', "नामसुधा', 'ब्रह्यस्तुति', "समश्लोकी गीताटीका', ' भर्तृहरिके तीन शतक', ' अनुभूतिलेश', 'सिद्धान्तविजय', ' श्रुतिकल्पलता ', "निगमसार' आदि अनेक ग्रन्थ इन्होंने लिखे। श्रीमद्भगवद्गीतापर इनका "यथार्थदीपिका' नामक टीकात्मक ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है।

इसमें अनेक प्रकारके अयथार्थ मतोंका खण्डन करके वामन पण्डितने भगवद्गचनोंका यथार्थ अभिप्राय व्यक्त किया है । ये जैसे महापण्डित थे वैसे ही परम पारमार्थिक भी थे। इनका पारमार्थिक अधिकार महान् जानकर लोग इन्हें "वामन स्वामी' कहते थे। श्रृति-स्मृति और पुराणोंके सिद्धान्त

वामन पण्डितने इतने सुलभ करके समझाये हैं कि कोई बालक भी समझ ले।

उस समयके सुप्रसिद्ध विद्वान् गागाभट्टने इनकी बड़ी स्तुति की है। कवि गोरोपन्तने एक आरयमें श्रीकृष्णद्वैपायनको गीताका सचिव, शंकर और मधुसूदनको योगी, ज्ञानेश्वरको प्रतिनिधि और वामन पण्डितको गीताका युवराज कहा है। वामन पण्डितके विषयमें हंस अपने निबन्धमें कहते हैं“वामन पण्डित आग्रगण्य दीखते हैं । कारण, आत्मज्ञान, वैराग्य और भक्तिमें इनका अधिकार बहुत बड़ा था; संस्कृतभाषाभिज्ञता और शास्त्राध्ययनमें तो इनके जोड़का कोई दूसरा ग्रन्थकार ही नहीं दीख पडता ।'

विश्वात्मयोगकी सिद्धिके लिये इन्होंने अखिल भरतखण्डकी यात्रा की। क्षणभरके लिये भी इनकी समदृष्टि विचलित नहीं हुई, विशवकल्याण ही इनका महाव्रत था। संतोंका ये बड़ा आदर करते थे, सबसे विनययुक्त व्यवहार करते और सदा भगवच्चरणोंमें लीन रहते थे। संवत् १७५२ में ये इस लोकसे सिधार गये। इनकी समाधि सातारा जिलेमें कृष्णा नदीके तटपर भोंगाँवमें है।

कुछ वर्ष पूर्व संत श्रीरामचन्द्र शंकर टक्की उर्फ टाकी महाराजने इस समाधिका जीर्णोद्धार किया । यहाँ प्रतिवर्ष इनकी पुण्यतिथिका उत्सव हुआ करता है।

निजानन्दाचार्य

जड़ जीवोंको जगानेके लिये तथा जगतूमें भगवान्का सन्देश पहुँचानेके लिये समय-समयपर संतोंका आविर्भाव होता है। माहेश्वर-तन्त्रमें लिखा है--
दिव्यब्रह्मपुरस्येह ब्रह्माद्वैतस्य वासनाः।तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रिया॥मरुद्देशे कुले शुद्धे नृरूपं सा धरिष्यति।चन्द्रनामा पुमाँल्लोके हरिष्यत्यशुभां गतिम्॥

शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि दिव्य ब्रह्मधामकी ब्रह्मद्वैतवासनाएँ इस नश्वर जगत्में आकर प्रकट होंगी। उनमें श्यामा नामकी कोई शक्ति

मारवाड़के किसी उत्तम कुलमें नरतनु धारणकर 'देवचन्द्र' नामसे सकल जीवोंका संतापहरण करेगी। उपर्युक्त कथन देवचन्द्र महाराज (निजानन्दाचार्य)-के विषयमें अक्षरश: घटता है।

वि० सं० १६३८ में उमरकोट (मारवाड) में मत्त महेताकी धर्मपत्नी कुँवरबाईके उदरसे देवचन्द्रजीका जन्म हुआ। बचपनसे ही आपमें देवत्वके कई गुण दिखायी देने लगे। मन्दिरोंमें जब आप जाते तो मूर्तियोंमें आपको साक्षात् भगवान्‌के दर्शन होते। एक बार आप जंगलमें अकेले निकल गये और वहाँ आपके सामने सैकड़ों भूत-प्रेत नाचने लगे। आपने उनपर अभिमन्त्रित जल छिड़का, जिससे वे सब प्रेतयोनिसे मुक्त हो गये प्रतिमाएँ रूप धारणकर आपसे बोलतीं।

आपकी अलौकिक शक्ति देखकर आपके माता-पिता भी आपको दिव्यस्वरूप समझने लगे। सात वर्षकी अवस्थामें ही ब्रह्मजिज्ञासासे आपने कच्छ देश जानेका निश्चय कर लिया। वहाँ जाकर संतसमागमद्वारा आपने बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। कई बार भगवानने प्रकटरूपमें आपको आदेश किया।

एक दिन आप ध्यानमें व्रज पहुँच गये। वहाँपर आपको माता यशोदाके दर्शन हुए। माँने आपको देखते ही अपनी छातीसे लगा लिया। देवचन्द्रजीने पूछा, माँ! श्रीकृष्णजी कहाँ हैं? यशोदाजीने कहा--'वे तो अभी वनको गाय चराने ग्वालबालोंके साथ गये हैं।' आप भी वनको चलने लगे। माता यशोदाने इनके अंगोछेमें कुछ मिठाइयाँ बाँध दीं। और कहा कि 'दोनों जने कलेऊ कर लेना।' वनमें जाकर ये भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें पहुँचे और वहाँ भगवान्‌के साथ कलेऊ करने लगे। इतनेमें ही ध्यान टूट गया-देखते हैं कि मिठाई हाथमें मौजूद है।

२४ वर्षकी अवस्थामें आप जामनगर आये। यहाँ १४ वर्षतक एकनिष्ठासे भागवतका श्रवण, मनन, निदिध्यासन किया। अन्तमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने साक्षात् दर्शन देकर इन्हें तारकमन्त्रकी दीक्षा दी।

आपका सिद्धान्त स्वलीलाद्वैत ब्रह्म था। उसकी प्राप्ति ये अनन्य प्रेमलक्षण भक्तिद्वारा मानते थे। आपके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय परनामी या प्रणामी धर्मके नामसे प्रसिद्ध है। इस मतके लाखों अनुयायी हैं। देवचन्द्रजी ही निजानन्दाचार्यके नामसे प्रख्यात हुए। जामनगर (काठियावाड़) में आपके द्वारा स्थापित धर्मपीठ *श्रीनवतनपुरी ' के नामसे प्रख्यात है। प्रतिवर्ष आश्विन कृष्णा १४ के दिन वहाँ बहुत भारी मेला लगता है। ७५ वर्षकी अवस्थामें आपकी स्वेच्छामृत्यु हुई। आप अपने सम्प्रदायमें

अवतारकोटिके संत माने जाते हैं। आपके बाद आपके पवित्र मार्गको श्रीप्राणनाथ प्रभुजीने उन्नत

और दिगन्तव्यापी बनाया । यही प्राणनाथ बुन्देलखण्डकेसरी महाराज छत्रशालजीके धर्मगुरु थे।

प्राणनाथ

प्राणनाथकी जन्मभूमि काठियावाड़ है। आपका जन्म क्षत्रियवंशमें हुआ था। ये ' धामी सम्प्रदाय' के आदि प्रवर्तक हैं। ये ईसाई और मुसलिम तथा यहूदी संतमहात्माओंसे खूब मिलते थे और सम्भवतः यही कारण है कि इनकी कृतियोंमें कुरान, बाइबिल और यहूदी साहित्यकी पुट मिलती है। गुजरात, सिंध और महाराष्ट्रमे भ्रमणकर अन्तमें ये बुन्देलखण्डके पन्ना स्टेटमें आकर रहने लगे। वहीं महाराज छत्रशाल (१७३२ में) इनके शिष्य बने।

प्राणनाथ जहाँ भी गये बहींकी भाषामें भजन रचने लगे। इनके शिष्य 'प्राणनाथी' कहलाते हैं और ये बहुत ही उदार होते हैं। साधनाके क्षेत्रमें ये हिन्दू-मुसलमानका भेदभाव स्वीकार नहीं करते। जीवनभर प्राणनाथ हिन्दूमुसलिम-एकताका आध्यात्मिक आधार दृढ़ करते रहे। प्रेम, भक्ति और सेवा यही इनकी साधनाका आधार था। इनके अनुयायियोंमें हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। वे भगवानको 'धाम' कहते हैं, इसलिये यह सम्प्रदाय “धामी' नामसे प्रख्यात है। प्राणनाथियोंका प्रमुख धर्मग्रन्थ 'कुलजम शरीफ' है, जिसमें हिन्दी, उर्दू, गुजराती और सिंधी भाषाओंमें भजन हैं।

फारसी अक्षरोंमें लिखी हुई 'कुलजम शरीफ' की एक प्रति लखनऊके आसफुद्दौला लाइब्रेरीमें है। पन्नामें भी, जो “ धामियों' का केन्द्रस्थान है, इसकी एक खण्डित प्रति है, जिसे वे 'कुलजम स्वरूप' कहते हैं। “कुलजम शरीफ' का अर्थ है 'मोक्षमार्ग'। प्रगट बानी, ब्रह्मबानी, बीस गिरोहियोंका बाप, बीस गिरोहियोंकी हकीकत, कीर्तन, प्रेमहेली, तारतम्य, राजविनोद नामक और ग्रन्थ भी प्राणनाथने रचे। ये पुस्तकें अभीतक अप्रकाशित ही हैं। पद्य लिखनेका प्राणनाथको इतना अच्छा अभ्यास था कि अन्तमें वे सब

कुछ पद्यमें ही बोलने लगे थे। ये विवाहित थे और इनकी धर्मपत्नी इन्द्रावती भी एक कवयित्री थीं।

पति-पत्नीने मिलकर “पदावली' की रचना की। महाराज छत्रशालके भतीजे पंचमसिंह तथा जीवनमस्ताने इनके बहुत श्रद्धालु भक्त थे; उन्होंने भी प्रेम, भक्ति, कर्त्तव्य आदि विषयोंपर चौपदे लिखे हैं। जीवनमस्तानेने “पंचक दोहे' भी लिखे। प्राणनाथका मार्ग प्रेममार्ग था। इसमें जाति, सम्प्रदायका भेदभाव नहीं था। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभीके लिये उसमें पूरा-पूरा स्थान था । प्राणनाथ कभी-कभी प्रेमावेशमें अपनेको मेहदी, मसीहा तथा कल्कि-अवतारतक कह देते थे।

राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाको इन्होंने बड़े ही भावपूर्ण शब्दोंमें बड़ी तल्लीनताके साथ गाया। प्रेम ही भगवान् है, भगवानको पानेके लिये प्रेमके सिवा कोई मार्ग है ही नहीं-ऐसा ये मानते थे। मांस, मदिरा तथा जाति-पाँति के घोर विरोधी थे। सदाचार, सेवा, दया और परोपकार, यही इनके सम्प्रदायके आधारस्तम्भ हैं।

बीरू साहब

निर्गुणप्रेमी संतोंमें बीरू साहबका नाम उनके अटूट वैराग्य और अपार प्रेमके लिये अमर है। संसारके विषयोंसे वैराग्य और प्रभुचरणोंमें अपार प्रेम--यही उनके जीवनकी ज्योति थी। आप दिल्लीकी प्रसिद्ध संतशिखामणि श्रीबावरी साहिबाके प्रमुख शिष्य थे। बावरीके परधामगमनके पश्चात् बीरू साहब देहलीमें उनके स्थानपर सत्संग करते-कराते रहे। आपकी विरक्ति, प्रेम और मस्ती अजीब थी। इनके पदोंमेंजो आज बहुत कम प्राप्त हो रहे हैं-इनके अनमोल अनुभवकी कई रहस्यपूर्ण बातें प्रकट होती हैं। आपके जन्म और प्रयाणका सन्-संवत् ठीक-ठीक नहीं मिलता।

परन्तु इतना तो अनुमानसे कहा जा सकता है कि आप तीन सौ वर्ष पूर्व हुए और देहलीमें तथा उसके आस-पास अपने धर्मका उपदेश करते रहे। यारी साहब आपके पट्टशिष्य थे। मनुष्य प्रभुसे क्या प्रतिज्ञा करके आया था और क्या करनेमें बझ गया, इस बातकी ओर ध्यान दिलाते हुए बीरू साहब लिखते हैंहंसा रे बाझल मोर याहि घराँ, करबो मैं कवनि उपाय। मोतिया

चुगन हंसा आयल हो, सो तो रहल भुलाय॥ झीलरको बकुला भयो है, कर्म कीट धरि खाय। सतगुरु सत्य दया कियो, भवबन्धन ते लियो छुड़ाय॥

यह संसार सकल है अंधा, मोह मया लपटाय। “बीरू' भक्ति हंसा भयो सुखसागर चल्यो है नहाय॥ क्या उपाय करू, मेरा हंस जो मोती चुगनेके लिये आया था, बावलीका बगुला होकर कर्मकीटको खा रहा है, अपना स्वरूप भूल गया है। यह सारा संसार अन्धा होकर मोह-मायामें लिपटा हुआ है। गुरुदेवकी कृपासे आज मेरी आँखें खुलीं और भक्ति-प्रीतिका प्रसाद पाया।

मेरा हंस आज सुखके समुद्रमें नहा रहा है। सुरतियोगमें ध्यान, ध्याता और ध्येय जब एकाकार हो जाते हैं तो संतोंको भिन्न-भिन्न रूप और शब्दका हृदयगुहामें साक्षात्कार होता है। उस रूप और शब्दमें जब चित्त जाता है तो फिर वहाँसे लौटना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव हो जाता है। संतोंकी यह अनुभूति ही उनके प्राणोंका आधार है।

बीरू लिखते हैंआली रूप लागीलो आछे मने। हियरा मध्य मोहनि मूरति राखिलो यतने॥ दरस परस मोहन मूरति देखिलो सपने॥ कोटि ब्रह्मा जाको पार न पावैं सुर-नर-मुनि को गने। बीरू भक्तकेरा मन स्थिर नाहीं, मैं पापी भजिबो को मने॥ हृदयके भीतर मोहिनी मूर्ति विराज रही है, इसे यलसे रखे रहो; सुरत वहाँसे फिसलने न दो। 'उसे' देखो, उसका स्पर्श प्राप्त करो, हिलो-मिलो। करोड़ों ब्रह्मा जब उसका पार नहीं पा सकते तो और देवताओं, मनुष्यों और मुनियोंकी कौन कहे ?

बीरूका मन स्थिर नहीं तब मैं पापी भगवानको कैसे भजूँ। त्रिकुटीमें ध्यानकी एकाग्रता प्राप्त होते ही कैसी सुन्दर अनुभूति होती है, इसका चित्र नीचेके पदमें देखियेत्रिकुटीके नीर-तीर बाँसुरी बजावैं लाल, भाल लाल से सबै सुरंग-रूप-चातुरी। यमुना ते और गंग अनहद सुरतान संग, फेरि देखु जग मगको छोड़ देवै कादरी॥ बायू प्रचंड चंड बंकनाल मेरुदंड अनहदको छोडि दे आगे चलु बावरी।

ॐकार धार बास, इनहुँका है बिनास, खसमको साथ करु, चीन्ह ले तू नाहरी॥ जन बिरु सतगुरु शबद रिकाब धरु चल शूर जीत मैदान घर आवरी॥ हद-अनहद सबको लाँधकर अपने प्रियतम पतिको पहचानो और उनके साथ हो लो। बीरू साहबके, बस,ये ही तीन छन्द प्राप्त हैं।

बुल्ला साहब

To what other end was man created, destined, called, invited, drawn, ravished, if not for the conjugal embraces and kisses of God ?

(—Fray Juan De Los Angeles) मनुष्य संसारमें क्यों आया? भगवान्‌ने उसे भेजा ही क्यों? इस दुःखमय--जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिरूप दोषोंसे भरे संसारमें मनुष्यको भगवान्‌ने किस उद्‌देश्यसे भेजा? भगवान्‌से निकला हुआ मनुष्य भगवानको पाये बिना शान्त कैसे हो सकता है। हम भगवान्‌से ही निकले हैं और हमारी जीवन-गंगा भगवान्‌को ही पाकर तृप्त हो सकती है। भगवान्‌में हम मिलेंगे ही-यह तो ध्रुव सत्य है।

आवश्यकता केवल इस बातकी है कि हम जीवनके प्रतिपलमें अपने परम प्रियतम प्रभुके स्पर्श, मिलन, आलिंगनका आनन्द पाते रहें। भगवान्‌के प्रणय-आलिंगनमें बँध जानेके लिये ही, उसके उन्मद दिव्य चुम्बनको अपने प्राणोंके प्राणमें प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यका संसारमें आना हुआ है। सभी संत बार-बार हमें यही स्मरण कराते हैं।

मिलनके इस आनन्दको, प्रियतमके प्रगाढ़ आलिंगनके रसको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन संतोंने जो बतलाया है उसमें मुख्य है हरिस्मरण! एक पल भी प्रभुका विस्मरण न हो। एक क्षणके लिये भी 'वे' न बिसरें। और यह स्मरण जितना ही प्रगाढ, जितना ही प्रेमपूर्ण और अनन्य होगा, प्रभुका प्रेम उतना ही अधिक हमें प्राप्त होगा। प्रभुका विस्मरण ही मृत्यु है। प्रभुका स्मरण ही जीवन है।

विपदो तैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः। विपद्‌विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्तियाँ सच्ची विपत्ति नहीं हैं और न सम्पत्ति ही सच्ची सम्पत्ति है। भगवानका विस्मरण ही विपत्ति है और नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।'

संतोंने अपने जीवन और उपदेशके द्‌वारा हमें बार-बार यही समझाया है। ऐसे संत भगवान्‌के सन्देशको जगत्‌के प्राणियोंतक पहुँचानेके लिये समयसमयपर

आते हैं। बुल्ला साहब भी ऐसे ही आत्मदर्शी, अनुभवी संतांमें हैं। इनके जीवन और इनकी वाणीमें भगवान्के प्रेमका आनन्द और तज्जन्य विह्वलताका प्रगाढ रस मिलता है।

बुल्ला साहबके जीवनके सम्बन्धमें जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उससे इतना ही पता चलता है कि ये यारी साहबके चेले थे। और इस परम्परामें इनके बाद जगजीवन साहब और गुलाल साहब इनके शिष्य हुए। इनका असली नाम बुलाकीराम था। ये जातिके कुनबी थे। गाजीपुर जिलेके भुरकुड़ा गाँवमें इन्होंने अपना सत्संग स्थापित किया।

इनकी महासमाधिके अनन्तर गुलाल साहब और भीखा साहब भी वहीं सत्संग कराते रहे। वहाँ इन तीनों महात्माओंकी समाधियाँ अबतक हैं। बुल्ला साहबके जन्मकी निश्चित तिथि नहीं मिलती। अनुमानसे यह कहा जा सकता है कि विक्रमी १८ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें वे हुए।

बुल्ला साहब एक प्रकारसे निरक्षर थे। दरिद्र कुलमें उत्पन्न होनेके कारण और कुछ भी शिक्षा-दी न होनेके कारण भी इन्हें शारीरिक परिश्रम करके अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ये गुलाल साहबके यहाँ नौकर थे और हल चलानेका काम करते थे। कभीकभी ऐसा होता था कि ये बैलोंको हाँककर खेतमें ले जा रहे हैं और बीचमें ही भगवान्का स्मरण हो आया ।

हल आदि रख दिया। बैलोंको छोड़ दिया और भजनमें लग गये। इनके कार्यसे मालिकको सन्तोष नहीं था। कभी-कभी हल चलाते समय भी जब भगवान्का प्रगाढ स्मरण हो आता तो इनके लिये कार्य करना कठिन हो जाता। ये ध्यानमें बैठ जाते और घंटों इसी दशामें बैठे रहते। अपनी लापरवाहीपर इन्हें मालिककी झिड़कियाँ भी खानी पड़तीं, परन्तु ये विवश थे। सरूर आनेपर अपनेको सँभालना कठिन हो जाता है। जिसे प्रभु अपनी ओर खींच लेना चाहता है उसे संसारके अन्य सभी कार्योंके लिये बेकार कर देता है।

एक दिनको बात है, बुल्ला साहब हल चलाने गये थे। वहाँ भगवानूके स्मरणकी दिव्य धारा उमड़ पड़ी। हलको खेतमें छोड़कर वे मेड्पर बैठकर भगवानूका ध्यान करने लगे। ध्यानमें यह अनुभव हो रहा था कि श्रीभगवान् उनके घर पधारे हुए हैं, उनकी पूजा-अर्चा हो रही है। शंख, घड़ियाल, डफ, झाँझ, मृदंग बज रहे हैं। भगवानूकी आरती की जा रही है भगवान् मन्द-मन्द मुसका रहे हैं और उनके मस्तकपर हाथ फेर रहे हैं।

तदुपरान्त श्रीभगवान्के शुभागमनके उपलक्ष्यमें बुल्ला एक बहुत बड़ा भण्डारा करा रहे हैं। भिन्न-भिन्न देशोंसे संत-महात्मा पधारे हुए हैं। ध्यानमें ही बुल्लाने देखा कि छप्पनों प्रकारके व्यंजन परोसे जा चुके हैं। अन्तमें वे हाथमें दही लेकर परोसने चले हैं। यह सब कुछ ध्यानमें ही हो रहा था। इतनेमें गुलाल साहब वहाँ आ पहुँचे और अपने हरवाहेकी नमकहरामी देखकर क्रोधमें आगबबूला हो गये। उन्होंने कसकर बुल्ला साहबको एक लात मारी।

बुल्ला साहब एकबारगी चौंक उठे और उनके हाथसे दही छलक पड़ा। अब तो गुलाल साहबके आश्‍्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा। वे हक्के-बक्के हो गये। उन्होंने बुल्ला साहबके हाथमें पहले दही नहीं देखा था। ध्यान टूट जानेपर बुल्ला साहबने बड़ी दीनताके साथ गुलाल साह बसे निवेदन किया कि 'मेरा अपराध क्षमा करें, मैं साधुओंकी सेवामें लग गया था। और भोजन परोस चुका था, केवल दही बाकी था, उसे परोस ही रहा था कि आपके हिला देनेसे वह गिर गया।' अब गुलाल साहबकी आँखें खुलीं और उन्हें अपनी करनीपर बड़ा पछतावा हुआ।

वे बुल्ला साहबके चरणोंमें गिरकर बुक्का फाड्फाड्कर रोने लगे। उन्होंने अपने 'हरवाहे' को ही अपना गुरुदेव बनाया। बुल्ला साहब नामस्मरणके बहुत बड़े प्रेमी थे। साईंके नामका आधार लेकर ही साधक प्रभुसे परिचय प्राप्त कर सकता है। नामके बिना प्रभुका दर्शन, स्पर्श और मिलन प्राप्त नहीं हो सकता। नाम ही साधनाका बहुत बड़ा सहारा है। यह नाम हृदय-गुफामें अखण्डरूपसे उच्चरित होता रहता है। आवश्यकता इस बातकी है कि साधक अपनी हदयगुफामें प्रवेशकर, नामकी धुनमें अपने मन, चित्त, प्राणको लय करे। नामके सिवा साधकके लिये आश्रय ही क्या है?

साईके नामकी बलि जावाँ। सुमिरत नाम बहुत सुख पायो, अंत कतहु नहिं ठाँव। वह पुरुष धन्य है जिसने प्रियतमका परिचय पा लिया और उसके प्रेमको प्राप्त करनेके लिये जो संसारके सारे सम्बन्ध, सारे राग-अनुरागको तिनकेके समान तोड़कर एकाग्र, एकनिष्ठ भावसे प्रभुके पथमें चल पड़ता है। जिसे रात-दिन प्रियतमसे मिलनेकी ही लौ लगी रहती है और जगत्की कोई भी वस्तु मोहमें नहीं फाँस सकती। धन कुलवती जिन जानल आपन नाह। जेकरे हेतू ये जग छोड़्यो, सो दहु कैसन बाट।

रैन-दिवस लव लाइ रहो है, हदय निहारत बाट ॥ सच्चे भक्तको संसारके सभी विषयोंके प्रति सर्वथा विरक्त होना पड़ता है। ऐसा हुए बिना मन, वचन और कर्मसे प्रभुकी भक्ति हो नहीं सकती। साधक संसारके लिये लँगडा हो

जाय, उस ओर कदम बढ़ाये ही नहीं जिधर जगत्‌के विषयोंके बाजार लगे हुए हैं। साधक लुंजा हो जाय-उन विषयोंकी ओर उसके हाथ बढ़े ही नहीं।

साधक बहरा हो जाय-संसारके विषयोंकी कोई बात वह सुने ही नहीं। साधक अन्धा हो जाय-जगत्के कोई प्रलोभन उसकी आँखोंका विषय बने ही नहीं। भक्तिके खेलमें शरीरका दान देना पड़ता है। सारे गर्व और गुमानको छोड़कर अपनेको सर्वभावसे प्रभुके चरणोंमें निवेदित कर दे। साची भगति गुपालकी मेरो मन माना। मनसा-वाचा-कर्मना सुनु संत सुजाना॥ लँगरा-लुंजा है रहो, बहिरा अरु काना। राम नामसे खेल है, दीजै तन दाना॥

भक्ति हेतु गृह छोड़िये, तजि गर्ब-गुमाना। जन बुल्ला पायो बाक है, सुमिरो भगवाना॥ भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति होनेपर हृदयमें सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। यह प्रीति ही साधनाकी आत्मा है। प्रीति उत्पन्न हो जानेपर फिर अन्य किसी साधनका सहारा नहीं लेना पड्ता। प्रीति ही प्रभुका साक्षात्कार कराती है। प्रीतिकी प्रगाढावस्थामें ही साधक प्रभुकी वंशीध्वनि सुनता है और नेत्रॉसे उसके अपरूप रूपका दर्शन करता है। भावके बिना भक्ति हो नहीं सकती। और भावसे ही प्रीतिका उदय होता है।

भगवान् जाति-पाँति नहीं पूछते-ऊँच-नीच नहीं देखते। जो भी उनका प्ररीतिपूर्वक भजन करता है उसे वे अपना लेते हैंहे मन करु गोविंदसे प्रीत। स्त्रवन सुनि लै नाद प्रभुको, नैन दरसन पेख। अचल अमर अलेख प्रभुजी, देख ही कोउ भेख॥ भाव सँग तू भक्ति करि लै, प्रेमसे लवलीन। सुरतिसे तू बेड़ बाँधो, मुलुक तीनों छीन॥ अधम अधीन अजाति बुल्ला, नाममें लवलीन। अर्थ-धर्म अरु काम-मोछहि आपने पद दीन॥ सभी सच्चे संतोंकी भाँति बुल्ला साहबने भी प्रियमिलनकी शुभ घडीको बड़े उल्लासके साथ स्मरण किया है।

आली आजुकी रैन प्रीति मन भावै।

गाय-बजावत, हँसत-हँसावत, सब रस लै जु मनावै॥

जीवनकी सफलता संतोंने इसीमें मानी है कि यहाँ

आकर एक पलके लिये भी पियका बिछोह न हो। प्राणोंको प्रियतमका आलिंगन-चुम्बन प्राप्त होता रहे। परम प्रियतमके आलिंगनको जिसने प्राप्त कर लिया वह सदाके लिये निहाल हो गया। यह आध्यात्मिक परिणय ही

संत-साधनाका चरम लक्ष्य है और उसीकी ओर संकेत करके बुल्ला साहब कहते हैं-

जिवन हमार सुफल भो हो, सइयाँ सुतल समीप।

एक पलक नहिं बिछुरे हो, साईं मोर जिहीत।

पुलकि-पुलकि रति मानल हो, जानल परतीत॥

"सुरत शब्द' के अभ्यासमें बुल्ला साहबको

अद्भुत सफलता प्राप्त हुई थी। उनके उपदेश बड़े ही अनुभवपूर्ण और अनमोल हैं। उनमेंसे कुछ साखियाँ यहाँ दी जाती हैं-

आठ पहर, चौंसठ घरी जन बुल्ला धर ध्यान।

नहिं जानो, कौनी घरी आइ मिलैं भगवान॥

आठ पहर, चौंसठ घरी भरो पियाला प्रेम।

बुल्ला कहै बिचारिकै, इहै हमारो नेम॥

जग आये, जग जागिये, पगिये हरिके नाम।

बुल्ला कहै बिचारिकै, छोड़ि देहु तन-धाम॥

बोलत-डोलत, हँसि-खेलत, आपुहि करत कलोल।

अरज करों, बिन दामहीं बुल्लहिं लीजै मोल॥

ना वह टूटे, ना वह फूटे, ना कबहीं कुम्हिलाय।

सर्ब-कला-गुन-आगरो, मोपै बरनि न जाय॥

सतनामी सम्प्रदायके संस्थापक

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना नाम और रूप खोकर समुद्रमें मिलकर अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विज्ञजन अविद्याकृत नाम और रूपसे विमुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है। जगजीवन साहब ऐसे ही भगवत्प्राप्त संत थे। इनके जीवनकालके विषयमें कई प्रकारके मत हैं । सतनामी पन्थवाले इनका जन्म माघ सुदी सप्तमी मंगलवार संवत् १७२७, और मृत्युतिथि वैशाख बदी सप्तमी मंगलवार संवत् १८१७ बतलाते हैं। बाराबंकी (अवध) जिलेके सरहदा गाँवमें इनका जन्म हुआ था।

ये चन्देल क्षत्रिय थे। ये जन्मभर गृहस्थ ही रहे। अपने जिलेके कोटवा गाँवमें ये सत्संग करते-कराते रहे। भीखापन्थी इन्हें अपने पन्थका संत मानते हैं, परन्तु सतनामियोंका कथन है कि भीखापन्थसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं था और उनका कहना यह भी है कि इनके गुरु विश्वेश्वरपुरी महाराज थे। इनके अनुयायियोंकी बाहरी पहचान यह है कि वे दाहिनी कलाईपर सफेद और काला धागा बाँधते हैं और महंतगण दोनों हाथोमें धागा बाँधते हैं तथा चन्द्राकार टोपी पहनते हैं और आबनूसकी सुमिरिनी धारण करते हैं।

इनके उपदेशोंमें इनका अनुभव कूट-कूटकर भरा है। इनके रचे हुए सिद्धान्त-ग्रन्थोमें 'ज्ञानप्रकाश', "महाप्रलय' और "प्रथम ग्रन्थ प्रमुख हैं।संसार दुःखरूप है। जबतक इसका अनुभव हमें नहीं हो पाता तबतक हम प्रभुके मिलनका आनन्द कैसा होता है, कैसे समझ सकते हैं। संसारमें यावत् जीव जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिके चवकरमें पड़े हैं और इससे छुटकारा होते नहीं दीखता। कोई भी संसारमें ऐसा नहीं मिला जो दु:खसे मुक्त हो। एक-न-एक दुःख सभीको लगा हुआ है। पुत्र है तो धन नहीं, धन है तो पुत्र धन और पुत्र है तो स्वस्थ शरीर नहीं, और यदि तीनों हैं तो धनके नाश, शरीरके क्षीण होने और ढ़लक पड़नेका, तथा पुत्रकी बीमारी और मृत्युका भय चारों ओरसे घेरे हुए हैं-इसीलिये जगजीवन साहब कहते ई पपिहा जाइ पुकारेउ, पंछिन आगे रोय। तीनि लोक फिरि आयेऊँ, बिनु दुख लख्यो न कोय॥

प्रियतमको ढूँढ़नेके लिये जोगिन होकर संसारमें निकला, कानोंमें कुण्डल पहन लिया, जनम सिरा गया परन्तु पियका पता न लगा-जोगिन ह्वै जग

ढूँढेऊँ, पहिर्यों कुंडल कान। पियका अंत न पायेऊँ, खोजत जनम सिरान॥ नैनोंमें प्रभुकी मूरति छायी हुई है। चाँद-सूरज दोनों देख चुका हूँ, परन्तु कोई भी उस अपरूप रूपके समान नहीं ठहरता-बैठि मैं रहेउँ पिया सँग, नैननि सुरति निहारि। चाँद सुरज दोउ देखेउँ, नहिं उनकी अनुहारि॥

प्रभुका हाथ भक्तके मस्तकपर सदा है ही। एक क्षण भी प्रभु हमें बिसारता नहीं। एक क्षणके लिये भी वह हमसे अलग नहीं होतासदा सहाई दासपर, मनहिं बिसारे नाहिं। "जगजीवन' साची कहै, कबहू न्यारे नाहिं॥ इसलिये जगजीवन साहबका यह उपदेश चिरस्मरणीय है-संत समरथतें राखि मन, करिय जगतको काम। *जगजीवन' यह मंत्र है, सदा सुक्ख-बिसराम॥ प्रभुमें मन रखकर संसारका काम करिये।

यही मूलमन्त्र संसारमें सुख और शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेके लिये जगजीवन साहब बतलाते हैं। सतनामी सम्प्रदायमें नित्य सबेरै उठकर नित्यकर्मोसे निवृत्त होकर पूजा-पाठ और धूप करनेका नियम है। मुख्यरूपसे गुरुमन्त्रका जप तथा बीजमन्त्रका अजपा जाप हर समय करनेका नियम है। सतनामी लोग *अघविनाश' को वेदके समान पूज्य मानते हैं। इस सम्प्रदायके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

१-परमात्मा एक है, उसका रूप-रंग-आकार कुछ नहीं है।

२-अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये ईश्वर नाना रूपॉमें अवतार लेता है।

३-भगवत्प्राप्तिका सबसे सरल मार्ग है भक्ति तथा प्रेमसे युक्त होकर ईश्वरका मनसे स्मरण करना।

४-सभी संत-महात्मा-जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त 'किया--वन्दनीय हैं।

५-सरल रहन-सहन और अजपा जापसे ही ईश्वरका ज्ञान प्राप्त होता है । जगजीवन साहबके शिष्यम प्रमुख चार हुए-दूलनदास, गोसाईंदास, देवीदास और खेमदास। ये चार पावाके नामसे प्रसिद्ध हैं। जगजीवन साहबने ८० वर्षकी आयुमें वैशाख सुदी ७ संवत्‌ १८१७ में अपनी इहलीला समाप्त की।

गुलाल

'लोक-परलोककी लाज-भयको मिटाकर परमात्मपथमें पागलकी तरह अग्रसर होनेवाले संतोंमें-जिन्होंने प्रभुके दर्शन-स्पर्शन, मिलन-आलिंगनका आनन्द पाया है-गाजीपुरके गुलाल साहबका नाम बहुत आदरसे लिया जाता है। इनकी वाणीमें इनका प्रेमपूरित हृदय उमड़ पड़ा है और स्थान-स्थानपर वह परम गुह्य प्रेम, जिसे संत अपने हृदयके मन्दिरमें बहुत छिपाकर रखते हैं, अनायास प्रकट हो गया है। अनुभव ही संतमार्गका दीप-स्तम्भ है । अपने जीवनको जगत्के प्रपंचोंसे हटाकर परमात्माके पथमें प्रवाहित करनेवाले संतोंमें गुलाल साहबका नाम अमर है।

प्राय: सभी संतोंकी भाँति गुलाल साहबने भी अपने जीवनकी कोई भी बात अपने पदों और वाणियोंमें प्रकट नहीं की है। भारतीय संतोंकी यही विशेषता है। वे जीवनकी घटनाओं और क्रम-विकासकी ओर दृष्टि नहीं डालते। इस क्षणभंगुर, नित्य बनने-मिटनेवाले शरीरकी क्या कथा लिखी जाय? इसमें लिखनेयोग्य बात है ही क्या? जन्मा, दुःख भोगे, अभावकी पीडा सही, अपनोंका विछोह झेला और फिर एक दिन सहसा आँखें मुँद गयीं। कायाकी कहानी कौन लिखने बैठे ?

इसका महत्त्व ही क्या है? इस तन-धनकी कौन बड़ाई? देखत नैनों मिट्टीमें मिल जाई॥ अपने खातर महल बनाया। आपहि जाकर जंगल हाइ जले जैसे लकड़ीकी मोली। बाल जले जैसी घासकी पोली॥ कहत कबीर सुनो मेरे गुनिया आप मुये पीछे डूब गयी दुनिया॥ गुलाल साहब जातिके क्षत्रिय, बुल्ला साहबके गुरुमुख शिष्य, जगजीवन साहबके गुरुभाई और भीखा सोया॥

भीखा साहब

साहबके गुरु थे। यह जगजीवन साहबके समकालीन थे और इसी आधारपर इनके जीवनका समय विक्रमी संवत् १७५०-१८०० माना जाता है। ये

पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परन्तु थे बहुत ही मजी हुई बुद्धिके। किसानीका काम करते थे। अपने घर इन्होंने बुलाकीराम-जो पीछे जाकर बुल्ला साहब कहलाये-को हरवाहा रख छोड़ा था। बुल्ला साहब भजनानन्दी जीव थे। जब उन्हें भजनका ध्यान होता तो कितना भी आवश्यक कार्य कोई क्यों न हो, वे उसे ताकपर रख देते थे। जैसा बुल्ला साहबकी जीवनीमें लिखा जा चुका है, एक दिन वे हल चलाने खेतमें हल-बैल लेकर पहुँचे।

वहीं ध्यानमें बैठकर वे साधुओंका भण्डारा कराने लगे। इतनेमें ही इनके मालिक गुलाल साहब पहुँचे, उन्होंने अपने नौकरको 'बेकार' बैठे देख क्रोधसे उसकी पीठपर कसकर लात जमा दी। इतनेमें क्या देखते हैं कि बुलाकीरामके हाथसे दही छलक पड़ा। गुलाल साहब बड़े आश्चर्यमें पड़ गये । अन्तमें जब बुलाकीरामने सारा हाल सुनाया तो वे उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे और उन्हें गुरुरूपमें वरण कर लिया।

गाजीपुर जिलेके बसहरि तालुकामें अपने गुरुधाम भुरकुड़ा ग्राममें गुलाल साहब अपने गुरुदेवका सत्संग करते रहे और उनकी महासमाधिके अनन्तर वे और भगवत्प्रेमी भकतोंको सत्संग कराया करते और उपदेश दिया करते थे। हि गुलाल साहबके पदों और साखियोंमें दो बातें बहुत स्पष्टरूपमें आती हैं। प्रभुके प्रति उनका अटुट अनुराग और जगतूके झमेलोंसे वैराग्य। वास्तवमें ये एक ही वस्तुके दो नाम हैं। जगतूसे विरक्ति हुए बिना प्रभुचरणोंमें अनुराग कहाँसे होगा और जिसे उन चरणोंकी चाट लग गयी उसके लिये संसारके सारे रस फीके हो जाते हैं।

मनुष्य संसारमें ऐसा रचा-पचा हुआ है कि उसे एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता जिसमें वह सोच सके कि वह कहाँसे आया, क्यों आया और यहाँ आकर उसे क्या कर्त्तव्य है । इसीलिये संतोंने मनुष्यको बार-बार चिताया है-तुम जात न जान गँवारा हो। को तुम आहु, कहाँ तें आये, झूठो करत पसारा हो॥ माटीके बुँद पिंडकै रचना, तामें प्रान पियारा हो। लोभ-लहरिमें मोहकी धारा, सिरजनहार बिसारा हो॥ संसारके सारे दुःख, अभाव, कष्ट, विपत्तियोंका एकमात्र कारण नारायणका विस्मरण ही है। मनुष्य अपने बनानेवाले, पोसनेवालेको ही भूल बैठा है।

यही सारी विपत्तिका मूल है। इसी हेतु गुलाल साहब अपने मनको समझा रहे हैं कि हे मन! संसारमें क्या भूलाभूला फिरता है, अपने जन्मदाता हरिका स्मरण कर। हरि ही हमारी पूँजी है, हरि ही हमारा एकमात्र धन हैहे मन! रात-दिन अपने परमधनके संचयमें लगे रहो। आठों पहर उसे वैसे ही देखते

रहो जैसे माँ अपने अबोध शिशुकी सँभाल रखती है-राम मारे पुँजिया, राम मोर धना।

निस-बासर लागल रहु मना॥ आठ पहर तहँ सुरति निहारी। जस बालक पालै महतारी॥ गुलाल साहबने डंकेकी चोट कहा है कि चाहे लाख योग-याग, तप किये जायँ, यदि भगवानका भजन न हुआ तो सब किया-कराया व्यर्थ है। सुर-नर-नाग-मनुष-औतार, बिनु हरिभजन न पावहि पार। भगवान्के चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होनेकी एकमात्र विधि है उसके सुमधुर नामकी रटन। नामसे भगवान्के चरणोंमें प्रेम उदय होता है और जगत्के विषयोंसे विराग होता है।

यही नाम-जप श्रीगुरुमुखसे प्राप्त होता है तब इसमें अद्भुत शक्ति, अद्भुत प्रकाश रहता है और वह नाम भक्तके हृदयको प्रकाशसे जगमग कर देता है राम राम राम राम जेकरे जिय आवै। ्रेमपूर्व दृढ़ बिराग सोई यह पावै॥ सतगुरु जब दियो प्रसाद, प्रीत हूँ लगावै। तन-मन न्योछावरि वारि चरनमें समावै॥ साधनमार्गमें जो दो विकट घाटियाँ हैं और जिनसे बचनेके लिये संतोंने बार-बार हमें चिताया है, वे हैंकामिनी और कांचन। इसके विषयमें संतोंमें दो मत नहीं हैं। सभीने एक स्वरसे यही कहा है। गुलाल साहबने कितने सुन्दर शब्दोंमें अपने अनुभवका आधार लेकर साधनमार्गकी कठिनाइयाँ और उन्हें हल करनेके उपाय बतलाये हैंसंतो, नारिसों प्रीति न लावै।

प्रीति जो लावै आपु ठगावै मूल, बहुत को गावै॥ गुरुको बचन हृदयमें लावै, पाँचौ इन्द्र जारै। मनहिं जीति, माया बस करिकै, काम-क्रोधको मारै॥ लोभ-मोह-ममताको त्यागै, तृस्ना जीभ निवारै। सील-संतोष सो आसन माड़ै, निसुदिन शब्द बिचारै॥ जीव दया करि आपु सँभारै, साध-सँगति चित लावै। कह गुलाल सतगुरु बलिहारी बहुरि न भवजल आवै॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, तृष्णा आदिपर विजय प्राप्त करना आरम्भमें कठिन प्रतीत होता है; परन्तु साधक ज्यों-ज्यों अपनेको प्रभुचरणोंमें समर्पित करता जाता है त्यों-त्यों उसकी सारी कठिनाइयाँ दूर होती जाती हैं।

भक्तका सारा भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और भक्त सारे दुर्गुणोंसे मुक्त होकर प्रभुचरणोंका एकान्त अनुरागी हो जाता है। वह अब अपने प्रत्येक श्वासमें हरिका ही गीत सुनता है-उसकी आँखें हरिका ही रूप देखती हैं, उसके कान हरिकी ही वाणी सुनते हैं और उसके प्राण हरिके ही रसमें छके रहते हैंजीव पीव महें, पीव जीव महँ, बानी बोलत सोई। सोइ सभन महँ, हम सबहन महँ, बूझत बिरला कोई॥ प्रभुकी अकारण, अहैतुकी अनुकम्पा और

प्यार तथा अपनी विषयासक्ति तथा दुर्बलताओंपर जब साधककी दृष्टि जाती है तो वह कट-सा जाता है।

वह अनाथकी तरह प्रभुके चरणोंको पकड़कर रोता है-हौं अनाथ चरनन लपटानो। पंथ और दिस सूझत नाहीं, छोड़ो तो फिरौं भुलानो॥ जासु चरन सुर-नर-मुनि सेवहिं, कहा बरनि मुख करौं बयानो। हों तो पतित, तुम पतितपावन, गति-औगति एको नहिं जानो॥ भगवान्के मार्गमें चलनेवाला कभी निराश होकर लौट नहीं सकता, उसे कभी निराश होना ही नहीं पड़ता। आरम्भमें आशा-निराशाका घोर द्वन्द्व अवश्य चलता है, परन्तु यह तभीतक है जबतक समर्पण पूरा नहीं हुआ।

समर्पण हो जानेपर, सर्वांगीण आत्मार्पण हो चुकनेपर साधकका हाथ भगवान्के हाथमें होता है। उसे वह पगपगपर सँभालते रहते हैं और कभी च्युत नहीं होने देते। भगवानका आश्रय, भगवान्की भक्ति, भगवान्की प्रीतिका प्रसाद पाकर गुलाल साहब गा उठे मेरो मन प्रभुसों लागल हो।

जागल प्रेम मन पागल हो॥ घड़ि-घड़ि पल-पल जोति मिलो रहै,काम-क्रोध-मद त्यागल हो। अगम-अगोचर सत्त निरंजन बाजन अनहद बाजल हो।एक-एककर अपना सब कुछ हरिचरणोंमें निवेदित करना होगा। मन, चित्त, प्राण, बुद्धि सब कुछ श्रीचरणोंमें समर्पित करना होगा-

प्रभुको तन-मन-धन सब दीजै। शैन-दिवस चित अनत न जावै, नाम पदारथ पीजै॥ जबतें प्रीत लगी चरनन सों जग-संगत नहिं कीजै। दीनदयाल कृपाल दयानिधि, जौ आपन करि लीजै॥ यह समर्पण, यह निवेदन, साधकका प्रभुमें लय हो जाना साधनाकी चरम स्थिति है। इसके अनन्तर साधककी स्थितिका वर्णन करना कठिन ही नहीँ अपितु असम्भव है।

महात्मा दूलनदासजी

राम नाम दुइ अच्छरै, टैं निरन्तर कोय। *दूलन' दीपक बरि उठे, मन प्रतीति जो होय॥नामके प्रेमी, सरलताकी मूर्त्ति, दया और विनयके स्वरूप महात्मा दूलनदासजी जगजीवन साहबके गुरुमुख चेले थे और भारतीय संत-परम्परामें इनके जीवनका वृत्तान्त भी प्रामणिकरूपमें नहीं मिलता। यह जगजीवन साहबके शिष्य थे। सत्तनामियोंकी मान्यता यह है कि दूलनदासका जन्म वि० सं० १७१७ में हुआ। मिश्रबन्धुओंने तो इनका रचना-काल संवत् १८७० माना है, परन्तु सत्तनामियोंकी मान्यताके अनुसार इनका काल बहुत पहले ठहरता है। पूरी ११८ वर्षकी आयु भोगनेके अनन्तर आश्विन बदी ५ रविवार सं० १८३५ को आपने इहलीला संवरण की।

लखनऊ जिलेके समेसी गाँवमें सोमवंशी क्षत्रियकुलमें एक बहुत सम्पन्न जमींदार रायसिंहके घर दूलनका जन्म हुआ। सरहदा गाँवमें इन्होंने जगजीवन साहबसे उपदेश ग्रहण किया और बहुत समयतक उनके सत्संगमें कोटवामें बने रहे। भ्रमविनाश, शब्दावली, दोहावली, मंगलगीत, शिवजीकी प्रार्थना आदि ग्रन्थ आपने लिखे। अपने जीवनके अन्तिम भागमें ये रायबरेलीमें धर्मे नामक गाँवमें सत्संग-साधन करते रहे। इनके सम्प्रदायका नियम यही है कि गृहस्थधर्ममें ही सदाचार और पवित्रताके साथ जीवन व्यतीत करते हुए चित्तको भगवान्के चरणोंमें अर्पित करना चाहिये। ये लोग बाह्य त्यागको, या 'वेश' को बहुत आवश्यक नहीं मानते।

इनके गुरु जगजीवन साहब भी आजीवन गृहस्थ ही रहे। इस सम्बन्धमें दूलनदासकी यह बात स्मरण रखनेयोग्य है दया-धरम हिरदेमें राखहु, घरमें रहहु उदासी। आनकै जिव आपन करि जानहु, तब मिलिहें अबिनासी॥ दूलनदासकी बानी तथा साखियोंको पूर्ण मनोयोगके साथ पढ़नेसे यह पता चलता है कि वे “नाम' के बहुत बड़े प्रेमी थे।

डंकेकी चोट उन्होंने कहा है कि नामका आश्रय ही निर्द्र आश्रय है, और इसके सिवा अन्य सभी मार्ग साधकको उलझानेवाले हैंरहु तोइँ राम राम रट लाई। जाइ रटहु तुम नाम अछर दुइ, जौने बिधि रटि जाई॥ राम-राम तुम रटहु निरंतर, खोजु न जतन उपाई। जानि परत मोहिं भजन-पंथकी, यहौ अरूझनि भाई॥ उस नाम-जपकी सहज रीति सुनिये कोइ बिरला याहि बिधि नाम कहै। मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै॥ होठ न डोलै, जीभ न बोले, सूरत धरनि दिढ़ाइ गहै। दिन औ रात रहै सुधि लागी, यह माला, यह सुमिरन है॥ नामका महत्त्व बतलाते हुए दूलनदासने बड़े ही भावपूर्ण शब्दोंमें

गजके उद्धार, मीराके विषपान तथा द्रौपदीके चीरहरणकी लीलाओंको गाया है ।

गाते-गाते वे थकते ही नहीं। नाम-ऐसे अमृतको छोड़कर मानव मोह-विषको पी रहा है-अछत नाम-पियूष पासहिं, मोह-माहुर पिया। उस 'राम' का परिचय दूलनदासके शब्दोंमें ही सुनिये जनम दीन्ह है रामजी, राम करत प्रतिपाल। राम-राम रट लाब रे, रामहिं दीनदयाल हो॥

मात-पिता-गुरु रामजी, रामहिं जिन बिसराव। रहो भरोसे रामके, तैं रामहिंसे चितचाव हो॥ घर-बन निसुदिन रामजी, भक्तनके रखवार। दुखिया दूलनदासको रे राम लगइहैं पार हो॥ दीनता ही संतोंकी सहेली है । वह दीनता जगत्की दीनता नहीं, प्रभुचरणोंकी असीम अनुकम्पा और अपनी अपात्रताको देखते हुए चित्तमें उपजी हुई समर्पणकी भूमिकारूप दीनता है। यह दैन्य ही समर्पणका श्रीगणेश करता है और इसीके सहारे भक्त भगवान्के चरणोंमें जुड़ता है।

दूलनदासकी दीनता देखिये, उन्होंने इसमें अपना हृदय उँडेल दिया है। अपथ पंथ न सूझ इत-उत, प्रबल पाँचो चोर। भजन केहि बिधि करौं साईं! चलत नाहीं जोर॥ नात लाइ दुरात काहे, पतित जनकी दौर। बचन अवधि-अधार मेरे, आसरा नहिं और॥ हेरिये करि कृपा जन तन, ललित लोचन कोर। दास दूलन सरन आयो, राम बंदीछोर॥ “काम-क्रोधादि पाँचों चोर इतने प्रबल हैं कि मुझे पथभ्रष्ट किये डालते हैं, हे प्रभु! इस दयनीय दशामें तुम्हारा भजन करूँ तो कैसे, मेरा एक भी जोर नहीं चलता। नाता लगाकर फिर दूर क्यों हटा रहे हो? पतितोंके तुम्हीं तो एकमात्र आश्रय हो।

तुम्हारी विरद ही मेरा एकमात्र आसरा है। एक बार अपने जनपर कृपादृष्टिसे देखो। मैं तुम्हारी शरण हूँ, तुम्हारे सिवा मेरे बन्धनको कौन काटे ?' नामरसका चसका जिसे एक बार लग जाता है उससे वह कभी छूटता ही नहीं-उसका मन, चित्त, प्राण, आत्मा सभी कुछ प्रियतमके नाममें ही आप्लावित रहता है-नाम सनेही बावरे, दृग भरि-भरि आवत नीर हो। रस-मतवाले रसमसे, यहि लागी लगन गँभीर हो॥ सखि इश्क-पियासे आशिकाँ, तजि दौलत-दुनिया-भीर हो। सखि दूलन कासे कहै, यह अटपति प्रेमकी पीर हो॥

दुनियाके सारे झमेले अपने-आप मिट गये। मैंने समझ-बूझकर फकीरीका रास्ता लिया है। हरिके चरणोंकी रजको नैनोंका अंजन बना लिया; अब तो

सारा जगत् राममय हो गया! दुनियाँ दुचिताई भूलि गई, हम समुझि गरीबी राह लई। चरना-रज अंजन नैन दई, जन दूलन देखत राममई॥

साईंसे 'परिचय' हो जानेपर, जब मन उनके मिलनके रसमें डूबने लगता है तो संसारकी सारी भूखप्यास सदाके लिये मिट जाती है। वह रूपरसके सागरमें डुबकी लगाकर नैनोंसे हरिका रस पीने लगता है। साधककी यह मधुर स्थिति कितनी गोपनीय है! सखिया इक पैठो जल भीतर, रटत पियास-पियास हो। मुख नहिं पिये, चिरुआ नहिं पीयै, नैनन पियत हुलास हो॥

परम प्रियतम “राम” की प्रीति प्राप्त करनेके लिये दूलनदासने श्रीहनुमानूजीका स्मरण किया है। संतसाधनामें अवश्य ही यह बात अनोखी है! सुमिरौं मैं रामदूत हनुमान! समरथ लायक जनसुखदायक, कर मुसकिल आसान॥ रहौ असंक भरोस तुम्हारे, निसुदिन साँझ-बिहान। दूलनदासके परम हितू तुम, पवनतनय बलवान॥ अपनी अनुभवभरी साखियोंमें दूलनदासने नामकी महिमाको बड़े ही अनुपम ढंगसे गाया है।

इन साखियोंका चित्तपर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। वे सभी एक-से-एक अनमोल हैं। विशवासके साथ, मनको मारकर नामकी साधनामें प्रवृत्त करनेकी प्रेरणा इन साखियोंमें ओत-प्रोत है । उनका उद्देश्य किसी प्रकारका “उपदेश” नहीं है, वे तो संतहृदयकी मधुर स्निग्ध अनुभूतिमात्र हैंसुनत चिकार पिपीलकी, ताहि रटहु मन माहिं। दुलनदास बिस्वास भजु, साहिब बहिरा नाहिं॥ चितवन नीची, ऊँच मन, नामहिं जिकिर लगाय। दूलन सूझै परम पद, अंधकार मिटि जाय॥

दूलन केवल नाम लिय, तिन भेंटेउ जगदीस। तन-मन छाकेउ दरस-रस, थाकेउ पाँच-पचीस॥ जो चांटीकी भी पुकार सुनता है उस प्रभुका विश्वास कर भजन करो। वह तुम्हारी प्रार्थना अवश्यमेव सुनेगा। दृष्टिको नीची करके, मनको ऊँचा करके नाममें लग जाओ। परम पदकी प्राप्ति होगी, अन्धकार सदाके लिये मिट जायगा। जिसने केवल नामका ही आश्रय ले लिया इससे उसे भगवान्‌के दर्शन प्राप्त हो गये। और जब दर्शन-स्पर्शनका रस मिल गया तो वृत्तियाँ अपनेआप स्थिर हो गयीं! 'फकीरकी परिभाषा दूलनदासजी यों करते हैंदुलन भरोसे नामके, तन तकिया धरि धीर। रहै गरीब यतीम होइ, तिनका कहो फकीर॥
नामका भरोसा करके, शरीरको दृढ़ताके साथ संयममें रखे। संसारमें अनाथ अनाश्रित यतीम (मातृपितृ-विहीन) बालककी तरह रहे-संसारमें किसीका भी आश्रय न ले, किसीका आसरा न करे। फकीर उसीको कहते हैं।

दूलनदासजीके उपदेश कितने अनमोल और अनुभवपूर्ण हैं, यह पढ़ते ही झलकने लगता है।

भीखा साहब

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः। स्फुरद्दीपश्चन्द्र विरतिवनितासङ्गमुदितः सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥ = भर्तृहरि लोक-परलोकके सारे सुख, वैभव, विलास और मोहको ठुकराकर परमार्थपथके पथिक जब अपनी अलमस्तीमें कोई अपने अनुभवकी बात हमें सुनाते हैं तो एक बार हमारे हृदयमें सनसनी पैदा हो जाती है।

चे अपने अनुभव कहने बैठते नहीं। आनन्दका ज्वार उमड़कर उन्हें गानेके लिये विवश कर देता है। वे गा उठते हैं, क्योंकि गाये बिना वे रह नहीं सकते। संग्रह और परिग्रहके चक्करमें पड़ा हुआ मनुष्य उनकी अलमस्ती, उनके फक्कड़पनको क्या समझे। संत तो राजाओंका राजा, बादशाहोंका बादशाह है, शाहंशाह है। दुनियाके शाहंशाह उसके शतरंजकी मुहरें हैं। फक्कड़पन, अलमस्ती, बेहोशी और लापरवाही ही उसकी सम्पत्ति है। पृथ्वी ही उसकी सुन्दर सुकोमल शय्या है।

जहाँ जीमें आया, सो रहा। सिरके नीचे अपनी बाँहका कोमल उपधान, मुलायम तकिया लगा लिया। और चँदोवा? चँदोवा भी उसका कितना सुन्दर हैनीला-नीला आकाश, जिसमें नक्षत्रों-तारोंके छोटे-छोटे सुन्दर जगमगाते हुए लट्टू लटक रहे हैं। मन्द-मन्द समीरण पंखा झल रहा है। चन्द्रमा उसके विशाल आँगन--जो सीमाहीन है-जिसके ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी है-में प्रकाशकी स्निग्ध कोमल किरणें बिखेर रहा है। और विरक्ति-वनिता संगमें आनन्दकी नव-नव लहरें उत्पन्न कर रही है। किस अलमस्तीमें साहब संत मस्त सो रहा है-बेचारे बादशाह इस सुखको क्या जानें।

भीखा साहब ऐसे ही अलमस्त फकोरोंमें हैं। लगभग दो सौ पचास वर्ष हुए आजमगढ़ जिलेके खानपुर बोहना नामके गाँवमें भीखाका जन्म हुआ।

इनका नाम भीखानन्द था। ये जातिके चौबे ब्राह्मण थे। बहुत बचपनसे ही भीखाका चित्त जगत्के विषयोंसे उचट गया था। उन्हें संसारकी सभी चीजें जन्म-मृत्युके बन्धनमें बँधी हुई, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंसे भरी हुई प्रतीत होने लगीं। गाँवमें जो कोई साधु-संत आ जाता, भीखा उसीके पास लगे रहते थे और बहुत थोड़ी उम्र होते हुए भी भगवान् क्या हैं, कैसे मिलते हैं; संसारमें इतना दुःख क्यों है, इससे छूटनेका क्या उपाय है इत्यादि पूछा करते थे।

यह देखकर उनके घरवाले घबड़ाये। परन्तु जिसपर प्रभु अनुग्रह करता है उसके सारे संकटोंको दूर करके, सारी विघ्न-बाधाओंको मिटाकर उसे सदाके लिये 'अपना' कर लेता है। भीखाके साथ भी यही बात हुई। माता-पिता तथा अन्य ' शुभचिन्तक स्वजन इनके विवाहकी बात सोचने लगे, जिसमें लड़का राहपर आ जाय। परन्तु भीखाके चित्तमें तो कोई और ही समाया हुआ था। पूरे बारह वर्षकी भी अवस्था न होने पायी थी कि भीखा घरसे “गुरु' की खोजमें निकल पड़े। काशीके विषयमें उन्होंने बहुत कुछ सुन रखा था।

वे काशी पहुँचे, परन्तु उन्हे मार्गदर्शक कोई मिला नहीं। निराश होकर वे लौट रहे थे कि रास्तेमें गाजीपुरके गुलालदास बाबाके विषयमें उन्होंने सुना। वे दर्शनोंको गये और प्रथम दर्शनें ही बहुत अधिक प्रभावित हुए। गुरुकी महिमा गाते हुए भीखा साहबने इस घटनाका विवरण दिया है-बीत बारह बरस, उपजी रामनाम सों प्रीति। निपट लागी चटपटी, मानो चारिउपन गयो बीति॥ नहिं खान-पान सोहात, तेहि छिन बहुत तन दुर्बल हुआ । घर-ग्राम लाग्यो बिषम धन, मानो सकल हारो है जुआ॥

x x x x इक ध्रुपद बहुत बिचित्र सूनत भोग पूछेउ है कहाँ। नियरे भुरकुड़ा ग्राम जाके सब्द आये हैं तहाँ॥ चोप लागी बहुत, जायके चरनपर सिर नाइया। पूछेउ कहा कहि दियो आदरसहित मोहिं बैसाइया॥ गुरुभाव बूझि मगन भयो, मानो जन्मकौ फल पाइया। लखि प्रीति दरद दयाल दरवे आपनो अपनाइया॥

श्रीगुरुचरणोंके आश्रयमें आकर भीखाको बड़ी शान्ति मिली। पन्द्रह-सोलह वर्षतक-जबतक उनके श्रीगुरुदेव गुलाल साहबका शरीर पृथ्वीपर रहा-भीखाने गुरुको बड़ी सेवा की और उनके सत्संगमें वे बहुत नियमितरूपसे निष्ठा और लगनके साथ उपस्थित रहते थे। गुलाल साहबकी इनपर अपार कृपा थी, उन्होंने संतमार्गकी साधनाका सारा रहस्य इन्हें पूरे विस्तारके साथ बतलाया।

गुलाल साहबकी महासमाधिके अनन्तर भीखा साहब गुरुपरम्पराके अनुसार चौबीस-पचीस वर्षतक सत्संग कराते रहे और लोगोंको परमार्थपथमें प्रेरित करते रहे। जबसे भीखा साहब भुरकुड़ामें आये तबसे कभी वहाँसे बाहर गये ही नहीं। लगभग पचास वर्षकी अवस्थामें विक्रम संवत् १८२० में इन्होंने परम समाधि ली। भुरकुड़ेमें इनकी, इनके गुरु गुलाल साहबकी तथा दादागुरु श्रीबुल्ला साहबकी समाधियाँ अबतक हैं और विजयदशमीपर वहाँ मेला लगता है। गाजीपुर और बलिये जिलेमें अब भी इनके पन्थके लोग हैं तथा इनका नाम बहुत श्रद्धा और आदरसे लेते हैं। इनके ग्रन्थोंमें रामजहाज' बहुत प्रसिद्ध है।

भीखा साहबके सम्बन्धमें बहुत-सी अलौकिक और चमत्कारपूर्ण बातें सुननेको मिलती हैं। एक बार काशीके प्रसिद्ध औघड़ बाबा कीनाराम अघोरी इनके स्थानपर गये और पीनेको मदिरा माँगी? वहाँ मदिरा कहाँ मिलती ? कीनारामने ऐसा चमत्कार दिखलाया कि भीखा साहबके स्थानपर जहाँ-जहाँ पानी था सब मदिरा हो गया, परन्तु भीखा साहबने अपने प्रभावसे शीघ्र ही

पुनः सब मदिराको पानी बना दिया। और भी ऐसी कई प्रचलित दन्तकथाएँ हैं । मृत्युके मुखमें दौड़ता हुआ मनुष्य गफलतमें जीवन नष्ट कर रहा है, इसे देख संतोंको मार्मिक दुःख होता है और प्राय: सभी संतोंने हमें सावधान किया है-उठो, जागो, अपने लक्ष्यको न भूलोया जगमें रहना दिन चारी, तातें हरि-चरनन चित वारी॥ सिरपर काल सदा सर साधे, अवसर परे तुरत ही मारी॥ भीखा केवल नाम भजे बिनु, प्रापति कष्ट नरक भारी॥ सावधानी ही साधना है, संसारमें सारवस्तु केवल हरिस्मरण है और शेष सभी कुछ निःसार है-यही संतोंने बार-बार हमें चिताया है।

संसारके खेल-तमाशेमें हम इतने मशगूल हैं कि हमें अपने 'पिता' का ध्यान भी नहीं आता-हमरी रुचि जग खेल खेलौना, बालक साज सँवारे। पिता अनादि अनख नहिं मानहिं, राखत रहहिं दुलारे॥ चौरासी लाख योनियोंमें भरमता-भटकता हुआ जीव मनुष्यका शरीर पाकर यदि नहीं सँभला तो फिर इसका आना व्यर्थ गया और फिर यह उसी चौरासीके चक्करमें जा पड़ेगा। रामके चरणोंमें प्रीति न हुई तो जीवन व्यर्थ ही गया।

संसारके सारे संग्रह-परिग्रह, कुटुम्ब-कबीला, महल-अटारी आँखें मुँद जानेपर क्या काम आवेंगी? भीखा समझाते हैंरामसों करु प्रीति हे मन, रामसों करु प्रीति। राम बिन कोउ काम न आवै, अंत ढहो जिमि भीति॥ बूझि-बिचारि देखु जिय, अपनो हरि बिन नहिं कोउ हीति। गुरु गुलालके चरन-कमल रज धरु भीखा! उर चीति॥ साधन-पथमें एकमात्र प्रभुकी अनुकम्पाका आश्रय

करके ही साधक आगे बढ़ सकता है। अपनी साधनाका शंबल इस मार्गमें क्या सहायक होगा? साधकका ध्यान सदा-चाहे वह कितनी भी भारी विपत्तिमें क्यों न हो-प्रभुके चरण-कमलोंमें रहना चाहिये। एकान्तनिष्ठा ही इस मार्गकी सारी बाधाओंको दूर करके हमें अग्रसर करती है। साधन-मार्गका यही रहस्य है-सदैव अखण्डरूपसे श्रीहरिचरणोंका आश्रय लिये रहना।

सच्ची प्रीतिकी यही रीति है-प्रीतिकी यह रीति बखानौ। कितनौ दुख-सुख परै देहपर, चरनकमल कर ध्यानौ॥ हो चैतन्य, बिचारि तजो भ्रम, खाँड़ धूरि जनि सानौ॥जैस चातक स्वाति-बुंद बिन प्रान-समरपन ठानौ॥ भीखा जेहि तन राम-भजन नहिं, कालरूप तेहि जानौ॥

प्रभुके चरणोंमें अनन्य प्रीति, अव्यभिचारिणी भक्ति होते ही चित्तमे प्रभुका तत्त्व उतरने लगता है और साधक उन चरणोंको बड़े उल्लासके साथ अपने हृदयमें बाँध लेता है। साधनाकी यह बहुत मधुर स्थिति है। इसमें चित्त स्वयं हरिचरणोंमें लुभाया रहता है और एक पलके लिये भी विलग होना नहीं चाहता। काम-क्रोध आदि विकार प्रभुके आगमनकी बात सुनकर भाग जाते हैं और अन्तरमें उनका नामोनिशान भी नहीं मिलता। उस समयका मिलन इतना आकुल, इतना विह्वल होता है कि साधक ही उस आनन्दको

समझ सकता है-उसे व्यक्त करनेकी शक्ति शब्दोंमें नहीं है-पिया मोर बैसल माँझ अटारी, टरै नहिं टारी। 'काम-क्रोध-ममता परित्यागल, नहिं उन सहल जगतकै गारी॥ सुखमन-सेज सुंदर बर राजित, मिले हैं गुलाल-भिखारी॥

यहाँ "गुलाल-भिखारी' का अर्थ है गुलालके चरणसेवक भीखा। भीखा साहबने डंकेकी चोट यह कहा है कि 'नाम' का आधार ही मुख्य है। 'नाम' के बिना यज्ञ, जप, तीर्थाटन, ब्रत, पय-आहार, फलाहार, जलशयन, बाँहको उठाकर 'ठढेसरी' होना, मौन, गुहावास, प्राणायाम, होम, दान, स्नान, तप आदि सभी कुल व्यर्थके बखेडे हैं।

दरिया

आजसे तीन-चार सौ वर्ष पहले भारतवर्षमें दरिया नामके दो संत हो गये हैं। एकका जन्म मारवाड़में हुआ था, दूसरेका बिहारमें। दोनों सूफी सम्प्रदायके सिद्ध साधु थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनकी पूजा करते थे। जनतामें वे लोग "दरिया साहब' के नामसे विख्यात थे। यहाँपर "दरिया साहब मारवाड़ी" और उनकी बानियोंका कुछ परिचय दिया जाता है।

"दरिया साहब मारवाड़ी" का जन्म मुसलमानसमाजकी एक निम्न जातिमें हुआ था। उनके पूर्वज निम्न जातिके हिन्दू थे, जिन्होंने मुसलमानी मजहबको अख्तियार कर लिया था। उस समय इस श्रेणीके आदमियोंको हिन्दू या मुसलमान किसी भी धर्मकी साधनाका मार्ग प्राप्त करनेका अवसर नहीं मिलता था। उन्होंने स्वयं लिखा है--नाँह था राम-रहीमका, मैं मतिहीन अजान।

प्रारम्भमें वे दोनों समाजोंद्वारा तिरस्कृत थे। उनका जन्म मारवाड़के जयतारन गाँवमें सन् १६७६ ई० में एक नीच धुनियाके घर हुआ था। उनके धुनिया होनेका पता उनकी निम्नांकित रचनासे लगता है-जो धुनिया तौ भी मैं राम तुम्हारा। अधम कमीन जाति मतिहीना, तुम तौ हौ सिरताज हमारा॥

सात वर्षकी अवस्थामें वे पितृहीन हो गये। तबसे उनका लालन-पालन अपनी दादी "कमीरा' के घर होने लगा। कमीरा बड़ी गरीब औरत थी। मेड़ता परगनाके रैन गाँवमें उसका घर था। उसके सभी सम्बन्धी 'निरक्षर' परन्तु भक्तिरसमें सराबोर थे । उनकी दादीके घरमें मीराकी 'भक्ति' और उनकी गीतोंके प्रति गम्भीर अनुराग था। ऐसे ही वातावरणमें दरियाका लड़कपन बीता।

दरिया बाल्यकालसे ही भक्तिरसके इच्छुक थे। निरक्षर होनेकी वजहसे वे शास्त्रोंकी सहायतासे वंचित रहे। उन्होने मुसलमान मुल्लाओं और हिन्दू पण्डितोंकी शरण ली, किन्तु किसीने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। दरियाने भी समझा कि उन लोगोंके पास देनेलायक कोई वस्तु है ही नहीं, अतः वे एक 'प्रेमजी' के पास चले गये। प्रेमजीका जन्म हिन्दूकुलमें हुआ था, किन्तु उनकी साधनाके आदिगुरु थे साधकश्रेष्ठ दादू। प्रेमजीके संसर्गसे दरिया दादूके भावोंसे भरपूर हो उठे। कुछ भक्तोंका तो यहाँतक कहना है कि दरिया दादूके ही दूसरे अवतार थे। उन्होंने रैन गाँवमें ही अपनी कुटिया बनायी।

आगे चलकर दरिया साहब बड़े सिद्ध साधु हुए। हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायके लोग उनके उपदेशोंद्वारा आकर्षित होकर उनके भक्त हो गये। सन् १७५८ ई० में ८२ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने शरीरत्याग किया। उनके पन्थवादी भक्तलोग आजकल भी अगहनकी पूर्णिमाको उनकी मृत्युतिथि मनाते हैं।

दरिया साहबकी बानियोंद्वारा उनके जीवन और उनकी साधनाका इतिहास और क्रमविकास साफ-साफ मालूम हो जाता है। जिस समय वे सत्यकी खोजमें इधर-उधर घूम रहे थे उस समय उन्होंने देखा कि सभी अपने-अपने सम्प्रदायकी संकीर्णताको लेकर व्यस्त हैं। किसीका सत्यके साथ साक्षात्कार नहीं हुआ है। उस समयकी अवस्थाका वर्णन उन्होंने यह कहकर किया है-दरिया दुखिया जब लगी, पछा पछा बेकाम।

अर्थात् मनुष्य जितने दिनतक साम्प्रदायिकताको लेकर व्यस्त रहता है उतने दिनतकका उसका जीवन व्यर्थ होता है, तबतक वह दु:खसागरमें निमग्न रहता है। गिरह माँह धंधा घना, भेख माँह हलकान। जन दरिया कैसे भजूँ, पूरन ब्रह्म निदान॥ घरके झंझटोंमें फँसकर ईशवर-चिन्तन करना बहुत मुश्किल है और भेख बनाने (संन्यास लेने) में बड़ी अड्चन है। वे बड़ी मुश्किलमें पड़े हैं। उनका अनुभव ऐसा था कि सम्प्रदायवादी तत्त्वकी बातें नहीं जानते मतवादी जाने नहीं, ततवादीकी बात।

इसीलिये वे बड़ी करुणाके साथ गाते फिरते थे-दुनिया भरम भूलि बौराई। आतमराम सकल घट भीतर, ताकी सूध न पाई॥ मथुरा-काशी जाय द्वारिका, अड़सठ तिरथ नहावे। सतगुरु बिन सोधा नहिं कोई, फिर फिर गोता खावे॥ चेतन मूरत जड़को सेवै बड़ा थूल मत ह्वैला। देह अचार किया कहा होई, भीतर ही मन मैला ॥ जप-तप-संयम, काया कसना, संख-जोग-ब्रत-दाना। या तें नहीं ब्रह्मसे मेला, गुन हर करम बँधाना॥ बकता होय तो कथा सुनावे, स्त्रोता सुन घर आवे। ज्ञान-ध्यानकी समझ न कोई, कह-सुन जनम गँवावे॥

“जन दरिया ' यह बड़ा अचंभा, कहे न समझे कोई। भेड-पूँछ गहि सागर लाँघे, निशचे डूबे सोई॥ वे मतवादियोंके संकीर्ण झगड़ोंसे व्यथित होकर सत्यकी खोजमें अकेले ही निकल पड़ते हैं। वे अपनी आत्मासे कहते हैं कि तू व्यर्थ बाँगर (सूखी जमीन) में क्यों बंद है। भगवान् सागरकी ओर चलाए" चल, चल रे हंसा! राम-सिंध। बाँगड़में क्यों रह्यो बंध॥

मानसरोवर विमल नीर। जहे हंस-समागम तीर-तीर॥ आपा-परकी नहीं छोत। साधु-समागम सहज होत॥दरिया 'राम-सिन्ध' पहुँच जाते हैं। वहाँ वे अब रामकी आराधना करते हैं-नमो राम परब्रहाजी, संतगुरु संत-अधारि। जन दरिया बंदन करे, पल पल वारूँ बारि॥ नमो नमो हरि गुरु नमो! नमो नमो सब संत। जन दरिया बंदन करे, नमो नमो भगवंत॥ इसके बाद सच्चे खोजी दरियापर प्रसन्न होकर राम उसे अपना लेते हैं।

रामसे साक्षात्कार हो जानेपर दरियाके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं, वे सभी पदार्थोको अब असली रूपमें देखते हैं। उस ज्ञानचक्षुद्वारा उन्होंने साधु, संसार, स्त्री, शूरवीर, अन्तरात्मा आदि अनेक वस्तुओंका विवेचन किया है। वे शुद्ध अन्तर्धामका परिचय इस प्रकार देते हैं--

धरती-गगन, पवन-नहिं पाती, पावक चंद न सूर। रात-दिवसका गम नहीं, ब्रह्म रहा भरपूर ॥ मन-बुध-चित पहुँचे नहीं, शब्द सके नहिं जाय। दरिया धन रे साधरा, तहाँ रहे लौ लाय॥ माया तहाँ न संचरे, जहाँ ब्रह्मका खेल। जन दरिया कैसे बने, रबि-रजनीका मेल॥ एक-एकको ध्याय कर, एक-एक आराध। एक-एकसे मिलि रहे, जाका नाम सुसाध॥ अनंतहि चंदा ऊगिया, सूरज कोटि परकास। बिन बादल बरखा घना, छः ऋतु बारह मास॥

घुरे नगारा गगनमें, बाजे अनहद तूर। जन दरिया जहँ थिति रजा, निसिदिन बरसे नूर॥ बिन पावक पावक जरे, बिन सूरज परकास। चाँद बिना जहँ चाँदना, जन दरियाका बास॥ नौबत बाजे गगनमें, बिन बादल घन गाज। महल बिराजें परमगुरु, दरियाके महराज ॥ जन दरिया जा गगनमें, किया सुधारस पान। गंग बहै जहँ अगम का, जाय किया असनान॥ अमी झरत, बिगसत कमल, जोग अमृत-रस पान। "जन दरिया' उस देशका, भिन-भिन करत बखान ॥

और इस प्रकार भवसागरसे पार उतरकर वे अब मत-मतान्तरवादी दुनियासे कहते हैं कि अब तो-जात हमारी ब्रह्म है, मात-पिता है राम। गिरह हमारा सत्यमें, अनहदमें बिसराम॥सच है, आत्मान्वेषी मनुष्य मानवतासे बहुत ऊपर उठ जाता है।

योगिराज श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी

सौराष्ट्र देशान्तर्गत सालावाड़ प्रान्तमें दुधेरेज (पय:सर) नामक ग्राममें एक बड़ा सुरम्य संत-आश्रम है। इस आश्रमकी स्थापना संवत् १५९५ में योगीन्द्र श्रीनीलकण्ठ स्वामीने की थी । इन्हीं श्रीनीलकण्ठ स्वामीकी शिष्यपरम्परामें षट्प्रज्ञ स्वामी एक बड़े भारी संत हुए हैं। षट्प्रज्ञ स्वामीका जन्म झिंझुवाड़ाके महाराज झाला क्षत्रिय श्रीयोगिराजसिंहजीकी धर्मपत्नी श्रीगंगादेवीके गर्भसे विक्रम संवत् १६६८ की आषाढ़ी पूर्णिमाकों हुआ था। इनका नाम सामतसिंह रखा गया। समय पाकर इनकी राजकुमारके योग्य शिक्षा-दीक्षा हुई। एक बार कुमार सामतसिंह झिंझुवाड़ा नगरके समीप ही सरस्वती झीलके तटपर शिकार खेलने गये।

वहाँ पासहीमें योगीन्द्र श्रीयादव स्वामीका आश्रम था। कुमार सामतसिंहने आश्रमके समीप ही जल पीते हुए एक मृगको बाणसे मार डाला। श्रीयादव स्वामी मृगको मरा देखकर दयार्द्र होकर उसके पास गये और अमृतसंजीवनी मन्त्रके प्रभावसे उसे जीवित कर दिया। श्रीयादव स्वामीके इस परम प्रतापको देखकर राजकुमार बड़े प्रभावित हुए और पूर्वजन्मका पुण्योदय होनेसे वे अपने इस दुष्कर्मके लिये पश्चात्ताप करते हुए श्रीस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़े और अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करते हुए बोले-- हे भगवन्! आप-जैसे महापुरुषोंकी महिमा न जानते हुए मुझ अपराधीने जो आपके इस अभयप्रद आश्रमके समीप इस निरपराध मृगका वध किया है, इसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ;

अब मैं आपसे दीक्षा लेकर आपकी ही शरण ग्रहण करना चाहता हूँ।' राजकुमारके ये वचन सुनकर श्रीयादव स्वामीने कहा कि “राजकुमार! सत्पुरुषोंकी मर्यादाका क्षत्रियलोग तो रक्षण करते हैं और राक्षसलोग नाश करते हैं। तुम तो कुलीन क्षत्रिय हो, तुमने भगवान् नलेश्वरके आश्रममें हमारी कुटियाके पास इस मृगका वध करके यद्यपि महान् पाप किया है, तथापि तुम्हारे पश्चात्तापको देखकर हम तुम्हें क्षमा करते हैं। फिर कभी ऐसा दुष्कर्म न
करना।

तुमने जो दीक्षाके लिये याचना की है वह ठीक नहीं, क्योंकि अभी तुम्हारा अन्तःकरण अनेक प्रकारकी भोगवासनाओंसे मलिन है और इस विषयमें तुम्हारे पिताकी भी सम्मति नहीं होगी। अतः तुम राजधानीमें जाकर अपना कर्तव्य पालन करते रहो।' श्रीयादव स्वामीकी बात सुनकर कुमारने गिड्गिड़ाकर कहा- हे प्रभो! आपके कृपापूर्ण दृष्टिपातसे अब मैं बिलकुल पवित्र हो गया हूँ। मेरे अन्तःकरणमें अब किसी तरहकी सांसारिक वासना नहीं रह गयी है।

पिताजी तो मुझे दीक्षाके लिये आज्ञा देंगे ही नहीं, अतः अब मैं आपकी सुखद चरण-शरण छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगा।' कुमार सामतसिंहकी ऐसी प्रबल उत्कण्ठा देखकर और उन्हें दीक्षाका अधिकारी जानकर श्रीयादव स्वामीने उन्हें दीक्षित करके उनसे कहा कि 'शमदमादि षट्संपत्तियुक्त होनेसे अबसे तुम्हारा नाम षट्प्रज्ञ हुआ और तुम अपने अवशेष जीवनको भगवत्प्रेम और भगवद्धक्तिकी प्राप्तिमें लगा दो।' इसके बाद षट्प्रज्ञ स्वामी श्रीगुरुदेवकी आज्ञासे दुधरेजके पास, जहाँ कि उनके पूर्वजोंद्वारा निर्मित आश्रम था, आकर निवास करने लगे।

श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी बडे दयालु थे। जब भी किसी जीवको दुःखी देखते तो इनका हृदय पिघल जाता और उसके दुःखनाशके लिये अपने इष्टदेव श्रीरामसे प्रार्थना करते । श्रीस्वामीजीने उस स्थानमें श्रीरामका एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर पासमें ही एक वटवृक्ष बो दिया। और उस वटवृक्षके कुछ बड़े होनेपर बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि भगवानूके अनेक नामोंकी तरह उन्होंने अपने भगवानका नाम श्रीवटनाथ प्रभु रखा और आजीवन उन्हींकी सेवा-पूजा करते रहे ।

श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी बड़े भारी योगी भी थे। इनमें ऐसी अपूर्वता थी कि जो भी मनुष्य, चाहे वह भकत हो अथवा अभवत, इनके पास आकर इनके चरणोंमें प्रणाम करता और जिसकी ओर ये जरा भी कृपापूर्ण दृष्टिसे देख लेते वही श्रीरामका प्रिय भक्त बन जाता था। इस प्रकार प्राणिमात्रको भगवद्भविप्रदान करते हुए श्रीषट्प्रज्ञ स्वामीने संवत् १७८६ की चैत्र शुक्ला पूर्णिमाको अपनी इहलीला समाप्त की। इनके अनेकों रामभक्त शिष्य थे।

उनमेंसे श्रीलब्धरामजी और श्रीभाणस्वामी नामक दो शिष्य बड़े भारी भक्त हुए। श्रीलब्धरामजी महाराजकी शिष्यपरम्पराके संत अभीतक दुधरेजमें हैं और ये रामकबीरसम्प्रदायके कहे जाते हैं। इस दुधरेज (पयःसर) आश्रममें भगवान् श्रीवटनाथजीका एक बड़ा सुन्दर दिव्य मन्दिर है और मन्दिरके पश्चिम प्रदेशमें एक रमणीय सरोवर है। एक बार षट्प्रज्ञ स्वामीने इसी

तालाबके जलको अपने प्रतापसे दो घंटेके लिये दुग्धरूपमें परिवर्तित करके संतोंको क्षीर भोजन कराया था। श्रीषट्प्रज्ञ स्वामी जिस मालासे जप किया करते थे वह माला अब भी श्रीवटनाथ प्रभुके मन्दिरमें रखी हुई है।

इस मालाका प्रभाव है कि जिसको किसी पगले कुत्तेने काट खाया हो उसे इस मालासे स्पर्श की हुई छाछ पिलानेसे रोगी स्वस्थ हो जाता है। आजकल भी सैकड़ों मनुष्य प्रतिवर्ष बड़ी दूर-दूरसे आकर पागल कुत्तेके विषके परिहारके लिये छाछ पीते हैं और श्रीवटनाथ प्रभुका दिव्यदर्शन करके कृतार्थ होते हैं। इस मालासे स्पर्श की हुई छाछ पीनेपर यदि कोई जन्मभर मांस-मदिराका सेवन न करे तो उसे आजीवन पागल कुत्तेके विषकी बाधा नहीं होती।

स्वामी श्रीषट्प्रज्ञजीकी निष्ठा श्रीशंकराचार्यके अद्वैत सिद्धान्तमें थी। श्रीरामकबीरजीके प्रिय शिष्य श्रीपद्मनाभ स्वामीके शिष्यपरम्परागत होनेसे आप श्रीरामकबीरसम्प्रदायके कहे जाते हैं। इस आश्रमके संत उभयनिष्ठ होनेसे रामभक्तों और अद्वैतनिष्ठ महात्माओंमें समान भाव रखते हैं। स्वामी श्रीषट्प्रज्ञजीके द्वितीय शिष्य श्रीभाणस्वामी भी बड़े प्रतापशाली महापुरुष थे। इन्होंने अपने अमृतमय उपदेशोंसे अनेकों जीवोंका उपकार किया ।

भाणस्वामीका जन्म संवत् १७५४ की चैत्र शुक्ला एकादशीके दिन श्रीकल्याणजी वर्माकी धर्मपत्नीके गर्भसे *किनखिलोड' नामक ग्राममें हुआ था। इनके प्रिय शिष्य श्रीरविराम महाराजने अपने ' भाणपरचरी' नामक ग्रन्थमें इनका बहुत विस्तृत चरित्र वर्णन किया है ।

श्रीषट्प्रज्ञ स्वामीका वटपत्याश्रम दुधरेज नामक ग्राममें है। यह ग्राम बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवेके बढ़वाण स्टेशनसे करीब १॥ मीलकी दूरीपर है। श्रीद्वारकानाथजीकी यात्रा करनेवाले सैकड़ों नर-नारी बढ़वाण जंकूशनपर उतरकर श्रीवटनाथभगवान् और श्रीषट्प्रज्ञ स्वामीकी मालाका दर्शन करके कृतार्थ होते हैं।

महात्मा तैलंग स्वामी

प्रायः पचास वर्ष पूर्व काशीमें तैलंग स्वामी नामक एक बहुत प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। आप एक परमसिद्ध योगी और जीवन्मुक्त पुरुष थे। सदा दिगम्बरवेशमें रहा करते थे। ये भूत-भविष्य-वर्तमानकी बातें जानते थे और किसीके आनेपर बिना कुछ कहे उसके मनके प्रश्नका उत्तर दे दिया करते थे। जल-थल, मानअपमान, शीत-उष्ण, सब आपके लिये समान था। ये सदा परदुःखकातर रहा करते थे।

मान, प्रसिद्धि और ख्यातिसे बहुत दूर भागते थे। जलपर पद्मासन लगाना, गंगाजीमें तीन-तीन दिनतक लगातार डूबे रहना, समाधि लगाकर दूरका समाचार जान लेना, आकाशमें निराधार स्थित रहना इत्यादि बातें उनके लिये बहुत साधारण थीं। २८० वर्षकी अवस्थामें आपने महासमाधि ली।

दक्षिण भारतके विजियाना ग्राममें विक्रमीय संवत् १६६४ के पौषमासमें आपका एक सुसम्पन्न ब्राह्मणपरिवारमें जन्म हुआ। नाम रखा गया ' शिवराम' । आप अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। बचपनसे ही संसारके विषयोंके प्रति वैराग्य तथा अध्यात्मकी ओर प्रवृत्ति इनमें देखी गयी । युवावस्था आते-आते इनकी उदासीनता स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगी ।

पिताका देहान्त पहले हो चुका था। माताने इन्हें बहुत लाड़-प्यारसे पाला था और माताके उपदेशोंसे इन्हें अध्यात्ममें बढ़नेका ही बराबर प्रोत्साहन मिलता रहा। पिताके वियोगके बारह वर्ष पश्चात् माताका भी वियोग हो गया। इस समय आपकी उम्र ४८ वर्षकी थी। अब इन्होंने अपनेको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त पाया। माताकी अन्त्येष्टिक्रिया करके वे घर नहीं लौटे। जिस स्थानपर माताका अग्निसंस्कार हुआ था उसी स्थानपर ये बैठ गये और पीछे वहीं इनके लिये कुटी भी बन गयी।

उस स्थानपर बीस वर्ष आपने कठोर साधना की। महापुरुषकी खोजमें अब आप वहाँसे बाहर निकले । भाग्यवश भगीरथ स्वामीके दर्शन हुए। पुष्करक्षेत्रमें गुरुसे दीक्षा ली। दो वर्ष बाद गुरु भी इस लोकसे चलते बने। तैलंग स्वामी कई स्थानोंमें घूम-फिरकर अन्तमें रामेश्वरम् पहुँचे। इसके

अनन्तर नैपाल, मानसरोवर, नर्मदातीर, प्रयाग आदि स्थानोंमें बहुत दिनोंतक साधना की। ख्याति होते ही एक स्थानसे दूसरे स्थानको चले जाते। अन्तमें काशीधाम पधारे।

वहाँ महात्मा तैलंग स्वामीके सम्बन्धमें अनेकों चमत्कारकी बातें प्रचलित हैं। प्रयागमें आपने आदमियोंसे भरी हुई एक नावको आँधी-पानीके कारण डूब जानेपर पुनः बाहर निकाल लिया। काशीमें एक अँगरेज अफसरने नंगा रहनेके कारण इन्हें हवालातमें बंद कर दिया। सबेरे देखा गया तो हवालातका ताला बंद है और स्वामीजी हँसते हुए बाहर टहल रहे हैं। पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि “ताला-चाभी बंद कर देनेसे ही किसीका जीवन बाँधा नहीं जा सकता। यदि ऐसा होनेको होता तो मृत्युकालमें हवालातमें बंद कर देनेसे मनुष्य मौतके मुँहसे ही बच जाता।'

आपका दृढ़ विश्वास था कि भगवान् यह मनुष्य-शरीर बनाकर स्वयं इसमें विराजते हैं। प्रत्येक मनुष्यके अंदर ईश्वरी शक्ति ओत-प्रोत हो रही है। मनुष्य जितना संसारके लिये परिश्रम करता है, उसका शतांश भी यदि भगवान्के लिये प्रयत्न करे तो वह उसे प्राप्त कर सकता है और उस समय संसारमें उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं रहेगा।

उन्हें प्राप्त करनेके लिये साधना करनी चाहिये। उनकी भक्ति करनी चाहिये, गुरूपदिष्ट मार्गका अनुसरण करना चाहिये। इस संसारमें एक भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। भगवानको प्राप्त करनेका यही सबसे उत्तम मार्ग है।

वि० सं० १९४४ की पौष शुक्ला ११ को आप ब्रह्ममें लीन हो गये। इनकी आज्ञाके अनुसार इनके शवको बक्समें बंद करके गंगाजीकी बौचधारामें छोड़ दिया गया।

श्रीरामस्नेहीसम्प्रदायके संत

श्रीहरिरामदासजी महाराज

श्रीरामानन्दी वैष्णवसम्प्रदायान्तर्गत एक रामस्नेही नामकी शाखा मारवाड प्रान्तमें प्रसिद्ध है, इसके आद्याचार्य श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। बीकानेरसे नौ कोस पूर्वमें सिंहथल नामक ग्राम है, वहाँ भाग्यचन्दजी जोशी नामक ब्राह्मणके घर आपका प्रादुर्भाव हुआ। विशुद्धबुद्धि होनेसे छोटी अवस्थामें ही ज्योतिष, योग, वेदान्तादि शास्त्रोमें आप कुशल हो गये। अनन्तर भक्ति, विरक्ति और उपरतिके तीव्र भावोंके कारण आप दुलचासर ग्राममें श्रीरामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीजैमलदासजी महाराजके शरणागत हुए।

आपने संवत् १७०० के आषाढ़ कृष्णा १३ को दीक्षा ली। पश्चात् आप श्रीगुरुदेवका आशीर्वाद प्राप्तकर सिंहथल पधारे। आप प्रतिदिन सन्ध्या होते ही सिंहथलसे सात कोस दुलचासर ग्राममें अपने गुरुदेवके पास चले जाते थे और रातभर सत्संग कर प्रातः सूर्योदयसे पहले वापस सिंहथल लौट आते थे। इस तरह छः महीने बीत गये।

इसके बाद श्रीगुरुदेवकी विशेष आज्ञाके कारण आप प्रतिदिन न जाकर महीनेमें एक बार गुरुदर्शनार्थ पधारते रहे, और कुछ ही दिनोंमें श्रीसदगुरुकृपासे पूर्ण योगी हो गये। जीवोंके कल्याणार्थ आपने वेद-वेदान्त, उपनिषद् और योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार सारगर्भित अनुभवपूर्ण उपदेश दिये, जो 'वाणी' के रूपमें आज भी प्रचलित हैं। आपके सहस्र शिष्य-प्रशिष्य हुए तथा अनेकों आपके जीवनमें चमत्कार हुए, विस्तारभयसे यहाँ एक-दो ही लिखे जाते हैंस्थानीय स्वरूपसिंहजी नामक बारहट दैवयोगसे बहुत ही आर्थिक कष्टमें पड़कर श्रीमहाराजके शरण हुए और आपकी दयासे उस संकटसे मुक्त होनेके साथ ही भवितपात्र भी हो गये।

इस विषयमें एक दोहा प्रचलित है-गायो गुण गोविन्दको, पायो द्रव्य अमाप। आयो साच स्वरूपके, सदगुरु द्यालप्रताप॥ एक बार प्रायः सब शिष्योंने आपके जीवित महोत्सवके लिये सं० १८३४ चैत्र कृष्ण ७ का दिन

निश्चयकर सबको आमन्त्रित कर दिया । उत्सवकी तैयारी होने लगी, परन्तु उक्त निश्चित तिथिसे पन्द्रह दिन पूर्व ही आप अचानक शरीर छोड़कर भगवद्धाम पधार गये । इससे शिष्योंको अत्यन्त दुःख हुआ।

शिष्योंके दु:खसे करुणार्द्र होकर आप भगवान्‌से एक मासकी आज्ञा लेकर पुनः लौट आये। अब शिष्योंके आनन्दका पार नहीं रहा तथा सारे काम फिर धूमधामसे होने लगे। बहुत जनसमुदाय होनेसे, जिन्हें पानीका ठेका दिया था बे पर्याप्त पानी नहीं पहुँचा सके। बीकानेरके गाँवोंमें जलका अभाव प्रसिद्ध है। लोग घबरा गये। तब शिष्योंकी प्रार्थनापर आश्वासन देते हुए आपने कहा कि घबराओ नहीं, ईश्वर सब आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने-आप ही करेंगे।

इतना कहकर स्वयं अपनी कुटीमें ध्यानस्थ हो गये। एक-ही-दो घड़ीमें प्रभुकृपासे निर्मल आकाशमें मेघोंने आकर गर्जना की और चारों तरफ जल-ही-जल कर दिया। बड़े आनन्दसे महोत्सवकी समाप्ति हुई और लोग अपने-अपने स्थानोंको चले गये। तब आपने पूर्व प्रतिज्ञाको यादकर सं० १८३५ चै० शु० ७ शुक्रवारको तीन पहर पहले ही अन्त्येष्टि-क्रियाकी सब सामग्री मँगवा ली। और निर्दिष्ट समयपर | शरीर छोड़ दिया।

अन्तिम संस्कार होनेके बाद शिष्य श्रीनारायणदासजी महाराजकी प्रार्थनानुसार एक श्रीफल, एक गादी और पाँच-सात पटल दर्शनार्थ प्राप्त हुए। श्रीरामदासजी महाराज श्रीजीमहाराजके शिष्योंमेंसे श्रीरामदासजी महाराजद्वारा सद्गुरुकी इच्छानुसार साम्प्रदायिक सिद्धान्तका जनसाधारणमें बहुत प्रचार हुआ। सिद्धान्तका दिग्दर्शन लेखके अन्तमें उद्धृत इन महात्माओंकी कुछ अनुभववाणीसे हो सकता है। जोधपुरराज्यमें खेड़ापा नाम प्रसिद्ध स्थान है, वहाँ आपकी गादी है।

संतोंसे सहज वैर रखनेवाले कुछ दुष्टोंके द्वारा भ्रान्त किये जानेपर वहाँके राजाने हुक्म दिया कि जो साधु सनातन वर्णाश्रमधर्मकी अवहेलना कर सभी वर्णोको हरिभक्तिका समान अधिकारी बताकर रामनामजपका ही प्रधानतासे प्रचारकर मर्यादाको मिटा रहा है, उसे शीघ्र देशसे बाहर कर दो। यह सुनकर श्रीरामदासजी महाराजने कहा कि 'हम अनादि रामके साधु हैं; राजाकी इच्छा है तो देश छोड़ देंगे, देश किसका है?

काया-माया झूठ है, सर्वत्र रामका ही राज्य है, जिस मुरारिकी इच्छाको पुरारि महादेवने मस्तकपर धारण किया है, वही हमारे साथ हैं। तुम्हारी सीमा रखो, ईश्वरकी सीमामें “मैं” और 'मेरी' कहना नहीं बनता। उस गर्वापहारी रामके समान कौन बल-बुद्धिशक्तिशाली है?' ऐसा कहकर वे राज्यकी सौमासे

बाहर हो गये। संतोंके अनादरसे राजाका तेज क्षीण हो गया, अनुचर बदल गये, तब वह घबराकर अपराधको स्मरण करने लगा।

और अति दैन्यभावसे अपने कर्मचारियोंद्वारा प्रार्थनाका सन्देश पहुँचाकर क्षमा करवायी और खेड़ापामें संतोंसे पुन: विराजनेकी याचना की। संत दयालु होते ही हैं, वापस लौट आये, जिससे सभीको बड़ा आनन्द हुआ। श्रीदयालुदासजी महाराज श्रीरामदासजी महाराजके बावन शिष्य हुए, उनमें श्रीदयालुजी महाराजका नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। आपका जीवन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

एक समय आप पहाड़की गुफामें विराजते हुए भजन कर रहे थे कि एक दिन देवप्रेरित कोई मनोहर स्त्री आपको छलनेके लिये वहाँ आयी। ध्यानस्थ महाराजको विचलित करनेकी इच्छासे उसने अनेकों यत्न किये, पर सब निष्फल हुए। उसने कहा--'महाराज! मैं देवताओंसे विवाद करके आयी हूँ, एक बार नेत्र खोलकर मुझे देख लीजिये।' श्रीदयालुजीने उसकी बातपर कोई ध्यान ही नहीं दिया, तब उसने कुपित होकर कहा-* आप मेरी ओर एक नजर भी नहीं डालते तो इसका फल चखिये।

आप अभी असह्य नेत्रवेदनासे व्यथित हो जायँ।' ऐसा कहकर वह चली गयी और उसी क्षण आपके नेत्रोंमें अत्यन्त पीड़ा होने लगी, साथ ही दृष्टि भी जाती रही। तब बहुत दीन होकर आपने करुणासागर नामक ग्रन्थकी रचना की, जिससे आपकी नेत्रव्यथा अनायास शान्त हो गयी और दृष्टिशक्ति भी लौट आयी। इस ग्रन्थके पढ्नेसे भक्तांका हृदय भगवद्विश्वास तथा कारुण्यभावके उदय होनेसे भगवन्मय हो जाता है।

अब संध्षेपमें इन संतोंकी सिद्धान्त-वाणियाँ लिखी जाती हैं।हरिया रत्ता तत्तका, मतका रत्ता नाहिं। मतका रत्ता जो फिरे, तहाँ तत पायो नाहिं॥

बाबा किनाराम अघोरी

काशीसे कुछ दूर बाणगंगाके दक्षिण तटपर रामगढ़ नामका एक गाँव है । वहीं विक्रम संवत् १६८४ के चेत्रमें रघुवंशी क्षत्रिय अकबरके घरमें बाबा

किनारामका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही बड़े विरक्त, भगवद्भक्त एवं एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही ये कंकरपत्थर इकट्ठे कर लेते और जल, पुष्प आदि चढ़ाकर उनकी पूजा करते और उनके पास घंटों अकेले बैठे “हरे राम, सीताराम, राम-राम' आदि मन्त्रोंका कीर्तन करते रहते।

नौ वर्षकी अवस्थामें ही इनका विवाह कर दिया गया। इस बन्धनसे इन्हें बड़ी चिन्ता हुई, परन्तु धैर्य और उत्साहपूर्वक ये अपने साधनको क्रमशः बढ़ाते रहे! अब ये बहुत कम बोलते और प्राय: एकान्तमें ही रहते।

तेरह वर्षकी अवस्थामें इनके गौनेका दिन नियत हुआ। प्रात:काल ही प्रस्थानका मुहूर्त था। रात्रिको ये सहसा कह उठे कि वह माई तो पिताके पास पहुँच चुकी। सम्बन्धियों तथा माता-पिताको यह बात बहुत बुरी लगी । उन्होंने इन्हें डाँट-डपट बतलायी, ये चुप हो रहे। सुबह लोग ज्यों ही सज-धजकर चलनेकी तैयारीमें ही थे कि इनकी ससुरालका नाई खबर लेकर आया कि 'कन्याका देहान्त हो गया। रथी सैदपुर घाटपर लायी गयी है ।

मृतकसंस्कारके लिये आप लोग तुरंत चलिये।' “तेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।' सबके चेहरोंपर उदासी छा गयी, परन्तु किनाराम अपनेको संसारके बन्धनसे मुक्त समझकर आनन्दसे मुसकरा उठे। अबतक जो लोग इन्हें पागल समझते थे अब वचनसिद्ध संत समझने लगे। कुछ समय बाद इन्होंने वैराग्यके आवेशमें घरसे निकलकर बलियाके कारों नामक गाँवमें बाबा शिवारामजी वैष्णवकी सेवामें जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया, और फिर गुरुकी आज्ञासे घर लौट आये और अपना सारा समय ईश्वरभजनमें बिताने लगे।

इनकी यह हालत देखकर इनके माता-पिताने इनका दूसरा विवाह करनेका विचार किया। जब इन्हें इस बातका पता चला तो ये फिर चुपकेसे घरसे निकल पड़े और चारों धामों तथा अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थोका भ्रमण करके बहुत वर्षों बाद अपने गाँव लौटे। यहाँ आकर वे गाँवके दक्षिण, बाणगंगाके निकट जंगलमें एक वटवृक्षके नीचे अपना डेरा डालकर ईशवर-भजन करने लगे।

भजनकी वृद्धिके साथ ही इनका तेज भी बढ़ता गया। साथ ही इनमें एक अजीब आकर्षण था, हजारों यात्री दूर-दूरसे इनके दर्शनार्थ आने लगे । यात्रियोंके लिये जलका कष्ट देखकर इन्होंने एक कुआँ बनवा दिया और उसके चारों ओर एक पक्का बरामदा बनवाया। बरामदेकी छतमें न मिहराब रखीं और न कड़ियाँ ही चढ़ायीं, सिर्फ उपलोंसे उसे पटवा दिया।

और कहा “बाबा! तू पक्का हो जा।' इनके कहनेमात्रकी देर थी कि सारी छत पक्की हो गयी। और वह अबतक विद्यमान है। कहा जाता है कि इस कुएँपर मंगलबारको धरना देकर स्नान करने, निर्जल रहने और हवन करनेसे अनेकों तरहके ज्चर छूट जाते हैं। इस कुएँका नाम रामसागर है और इसके पास ही किनेश्वर महादेवका एक मन्दिर है।

अब तीसरी बार ये तीर्थयात्राको निकले। घूमते घामते ये जूनागढ़ पहुँचे । वहाँके बादशाहने अपने राज्यके समस्त साधुओंसे कोई चमत्कार दिखानेको कहा-अन्यथा ठगनेके अपराधमें कैद करनेकी धमकी दी। जब कोई भी साधु किसी तरहकी अपनी अलौकिक शक्ति न दिखा सका तो सभीको कैदखानेमें डाल दिया गया। सिपाही किनारामजीको भी पकड़कर ले गये! वहाँ साधुओंको चक्की पीसते देखकर इन्होंने कहा कि “तुम चक्की क्यों चलाते हो, छोड़ दो।

यह माई अपनेआप ही चलेगी!' साधु छोड़कर अलग हो गये और चक्कियाँ पूर्ववत् चलती रहीं । यह खबर पाकर बादशाह किनारामजीके चरणोंपर गिर पड़ा और उनसे क्षमाकी प्रार्थना करने लगा। किनारामजीकी आज्ञासे सब साधु छोड़ दिये गये। बादशाहके बहुत आग्रह करनेपर इन्होंने एक पात्र देकर कहा कि जितने साधु यहाँ आवें, उन सबको यह पात्र भरकर खिचड़ी दी जावे। कहा जाता है, यह सदावर्त अभीतक चालू है। इसके बाद किनारामजी फिर अपनी यात्रापर निकल पडे ।

घूमते-घामते ये गिरनार पहुँचे, वहाँ एक अघोरी सिद्ध महात्माके उपदेश सुनकर बड़े प्रभावित हुए और इन्होंने उनसे अघोरपन्थकी दीक्षा ले ली।

एक सौ अट्टाईस वर्षकी अवस्थामें संवत् १८१२ में जब ये अपने गाँवको लौटे तो इन्हें अघोरी देखकर पहले तो गाँवके लोगोंने इनसे बड़ी घृणा की, परन्तु इनको बढ़ी हुई शक्तियोंको देखकर वे इनका पहलेसे भी अधिक सम्मान करने लगे । अघोरपन्थ स्वीकार करनेपर भी ये निरन्तर भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते थे। इनके तपोबलसे प्रभावित होकर उस प्रान्तके ताल्लुकेदार महाराज बलवन्तसिंहजीने इनकी पूजाके खर्चके लिये अपने अधीनस्थ छियानवे परगनोंके प्रत्येक गाँवसे एकएक रुपया वार्षिक आय बाँध दी, जो किनारामजीके अनुयायी महन्तोंको अब भी दी जाती है।

अघोरमतकी रामशाला काशी प्रान्तके रामगढ़ और टाँडामें है। जौनपुर जिलेमें भी कई जगह रामशालाएँ हैं, परन्तु सबसे प्रधान रामगढ़वाली ही

मानी जाती है। इस सम्प्रदायमें अबतक विजाराम, विश्रामराम आदि अनेकों सिद्ध हो चुके हैं।

बाबा किनारामके कई पद्यात्मक ग्रन्थ मिलते हैं। रामरसाल, रामगीता, रामचपेटा, राममंगल आदि ग्रन्थ वैष्णवमतके हैं । अघोरमतके ग्रन्थोंमें केवल ' विवेकसार ' नामक ग्रन्थ ही मिल सका है।

इनके जीवनमें बहुत-से अलौकिक चमत्कारोंकी बातें मिलती हैं, जों अनहोनी बात नहीं है। कहते हैं, सं० १८२६ में एक सौ बयालीस वर्षकी अवस्थामें आपने जीवित समाधि ले ली।

पं० केशवरामजी

भक्ति और पाण्डित्यका योग जगत्में दुर्लभ ही है। भक्तिमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है और पाण्डित्यमें तर्ककी। पं० केशवरामजीमें दोनोंका अपूर्व संयोग था।

वि० सं० १८०० में पंजाबके जिला होशियारपुरकी तहसील गढ़शंकरके अन्तर्गत जेजों नगरके समीप मदूद नामक एक साधारण गाँवमें प्रभाकर जातिके सारस्वत ब्राह्मणकुलमें पं० केशवरामजीका जन्म हुआ। आपका गौरवर्ण, सुडौल लंबा कद, बड़ी-बड़ी आँखें, भव्य आकृति देखनेवालोंको सहसा अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती थी। इसी कुलमें माई जीत्तो एक परम भगवद्भक्ता सती स्त्री थी। इसे भगवान् श्रीरामके साक्षात् दर्शन हुए थे। बालक केशवपर इस वृद्धा माताकी बड़ी प्रीति-दया थी । भगवद्भक्तिकी प्रारम्भिक दीक्षा आपने इसी मातासे ही ली। माई जीत्तोने केशवको यह आशीर्वाद दिया था कि तुम एक विश्वविख्यात विद्वान् तथा परम भगवद्भक्त होओगे।

इसी माताकी आज्ञासे केशवजी ५०० कोस पैदल चलकर काशी आये। यहाँ आपने पं० भवदेवजी मिश्रसे पढ़ना आरम्भ किया। निरन्तर छब्बीस वर्ष काशीमें रहकर पं० केशवरामजी एक धुरंधर विद्वान् और आदर्श भगवद्भक्त बने और उसी समय गुरुपत्नीकी आज्ञासे आपको घर लौटना पड़ा। आपने घरपर संस्कृतपाठशाला स्थापितकर संस्कृत विद्याको, जो वहाँ

लुप्त हो रही थी, पुनर्जीवित किया। इस पाठशालासे पढ़कर बहुत बड़ेबड़े विद्वान् निकले।

उपसंहार

सैकड़ों संतोंकी दिव्य वाणियोंके सुधा- सागरमें बार-बार डुबकी लगानेका सुअवसर प्राप्त हुआ, यह हमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। वाणी-संकलनमें हमसे प्रमादबश उन दिवंगत संतोंका कोई अपराध हो गया हो तो वे अपने सहज साधु-स्वभाववश हमें क्षमा करें। भवभूतिके कथनानुसार-वे अपने सुख-दु:खभोगमें वज्रसे भी कठोर होते हैं, पर दूसरोंके लिये वे कुसुमसे भी कोमल होते हैं- वञ्चादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। संतोंका यह स्वभाव ही हमारा सहारा है। हम उन सभी संतोंकी पावन चरणरजको श्रद्धापूर्ण हृदयसे प्रणाम करते हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है वे इस अङ्कके एक-एक शब्दको ध्यानपूर्वक पढ़ें। संत-वाणीको कोई एक बात भी जीवनमें उतर गयी तो उसीसे मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है | इस विशेष अङ्कमें प्रकाशित सभी संतों की लघु जीवनी , उपदेश एवं ' लेखोंपर भी विशेषरूपसे ध्यान देनेकी पाठकोंसे प्रार्थना है।

- संपादक

दिनांक : २२.०८.२०२४ (गुरुवार)
स्थान : हैदराबाद , तेलंगाना , भारत।

समाप्त